2

'अज्ञेय' की
सम्पूर्ण कहानियां

लौटती पगडंडियाँ

लौटती पगडंडियाँ

'अज्ञेय'

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

भूमिका

मैं नही जानता कि और लेखको के बारे मे भी यह बात सच है या नही—अनुमान ही है कि सब पे नही तो उन के बारे मे तो जरूर सच होनी चाहिए जो यत्किंचित् भी आत्मचेता हैं—लेकिन अपनी कहूँ तो अक्सर अपने से पूछता रहता हूँ कि जिस भी विधा म लिखता हूँ, क्यो लिखता हूँ। इस मे यह तो निहित है ही कि यदि किसी विधा को छोड देता हूँ—और असफल हो कर भी नही !—तो यह भी अपने से पूछता ही हूँ कि वह विधा क्यो अग्राह्य हो गयी है, या अपर्याप्त जान पडने लगी है, या तृप्ति नही देती ? जरूरी नही है कि लेखक ऐसे प्रश्ना का जो उत्तर दे—स्वय अपने को भी दे—वह बिलकुल सही ही हो, पर लेखक के हेत्वाभास भी उस के रचना-कर्म पर अपने ढग से प्रकाश डालने वाले होते हैं। 'कहानी पर भरोसा रखो, कहानीकार पर नही' वाली लारेंस की बात मैं मानता हूँ और कई बार दुहरा चुका हूँ, पर जिस पर हम भरोसा नही रखते उस स कुछ जानकारी भी नही प्राप्त कर सकते, ऐसा मेरा कहना नही है। लारेंस का भी नही रहा होगा—नही तो वह इतनी बात भी क्यो कहता !

कहानी लिखना मैंने धीरे-धीरे क्या छोड दिया, यह कुतूहल मेरे पाठक को होगा ही, मैंन भी अपने-आप से पूछा ही है। लिखना एक 'अनिवार्यता' होती है, इस लिए यो तो इतना 'कारण' काफी है कि जब अनिवार्यता नही अनुभव की तो नही लिखा, पर इस बात की सचाई का आधार इस की स्पष्टता नही, अस्पष्टता है यह वैसा 'सच' है जो हमे कुछ नही बताता। थोडी और स्पष्ट बात यह होगी कि मेरी जिज्ञासा और दिलचस्पी आदर्श-परक रचना से बढती हुई क्रमश: यथार्थोन्मुख होती गयी—और भी स्पष्ट यह कि जिस यथार्थ की ओर मैं अधिकाधिक बढा, वह 'बाह्य' या 'भौतिक' या सामाजिक' यथार्थ से पहले आभ्यन्तर, मानस अथवा मनोवैज्ञानिक यथार्थ था। अधिक स्पष्ट होने के साथ साथ ऐसा भी नही है कि यह बात कम सत्य हो गयी होगी। पर मनोवैज्ञानिक यथार्थ का कहानी से-

कोई असामजस्य तो नही है और इस बात के प्रमाण के लिए मेरी ही कहानियो से उदाहरण लिये जा सकते हैं फिर कहानी से विमुख होते जाने का कारण यह क्यो हुआ ?

फिर अनुमान करता हूँ कि मनोवैज्ञानिक यथार्थ की ओर उन्मुख होने पर कहानी विधा का यथेष्ट न जान पडना भी स्वाभाविक है । क्या यह कह सकता हूँ कि और भी जो लोग इस पथ पर अग्रसर हुए, उन्हे भी कहानी नाकाफी जान पडी—उन्होने भी उपन्यास म सम्भावनाएँ अधिक देखी ? फिर उपन्यास उनके सफल हुए हो या असफल, या फिर उन्होने एक ही उपन्यास लिख कर (या लिखते लिखते ही !) पाया हो कि मनोवैज्ञानिक यथार्थ का सम्पूर्ण चित्र खीचना चाहे तो एक भी उपन्यास पूरा नही किया जा सकता—बल्कि एक ही चरित्र का भी पूरा मनश्चित्र नही प्रस्तुत किया जा सकता ! जो हो, इस बात का मैंने स्पष्ट और तीव्र अनुभव किया कि कहानी का व्यास काफी नही है । यह भी सम्भाव्य है कि अगर मैं केवल एक विधा का लेखक होता तो कदाचित् इस परिणाम पर न पहुँचता, या इस सन्देह के बाद इस के निराकरण के दूसरे रास्ते भी खोजता । पर यह एक रोचक समीकरण हो सकता है कि जहाँ मैं कहानी को अपर्याप्त पा कर उपन्यास को अधिक आकर्षक पा रहा था, ठीक वही मैं कविता म लघु से लघुतर आकार को एक श्लाघ्य और कमनीय लक्ष्य के रूप मे ग्रहण कर रहा था । कहानी इस लिए नाकाफी थी कि उस म मनोजगत् की—मनोवैज्ञानिक यथार्थ की—कोई एक गाँठ एक सन्धि एक दरार तो एकाएक तीखे प्रकाश से आलोकित कर दी जा सकती थी, पर मनोदेश का कोई नक्शा नही प्रस्तुत किया जा सकता था, और मनोवैज्ञानिक यथार्थ अनिवार्यत गहरे जाने वाले को भी विस्तीर्ण मनोभूमि की याद दिलाता जाता है । दूसरी ओर कविता म लघुतम आकार की सघनता ठीक इसी लिए काम्य थी कि सौंदर्य-प्रत्यभिज्ञा के तनाव के क्षण को यथा-सम्भव अक्षुण्ण रूप म प्रस्तुत और सम्प्रेषित किया जा सके । कहानी म भी एक आलोकित सन्धि-स्थल के आस पास के प्रदेश की छायालोकित झाँकी दिखायी जा सकती या दीखने दी जा सकती है, पर अधिक दीखने स उस का फोकस बिखर जाता है । इस के विपरीत कविता के सघन स्वर की पृष्ठिका म जितने भी स्वरो की अनुगूँज सुनायी दे सके, मुख्य स्वर को समृद्धतर बनाती है,

जैसे सितार के तारो की झकार स्वर की पूरक ही होती है···या कि रूपक बदल कर कहें कि ढाका के कारीगर की तरह जितनी तग अँगूठी मे से जितनी बडी शाल पार निकाल दी जा सके, उतना ही प्रभाव बढता है···

मैंने पहले ही स्पष्ट कर दिया कि ये मेरे अनुमान हैं, यह भी मान लिया कि प्रत्यवलोकन मे इस तरह के तर्क केवल हेत्वाभास भी हो सकते हैं। सोचने की बातें दूसरी भी हैं। एक तो यही कि जो कहानियाँ सामने आयी हैं (क्यो कि प्रकाशित कहानियो से पहले भी कई कहानियाँ लिखी, उपन्यासो से—और पहली कहानियो से भी !—पहले उपन्यास भी लिखा, जो न छपा न छपेगा !) उन मे पहली खेप की कहानियो मे एक स्पष्ट आदर्शोन्मुख स्वर है. वे एक क्रान्तिकारी द्वारा लिखी गयी क्रान्ति-समर्थक कहानियाँ हैं। आज तो ऐसे क्रान्तिकारी और क्रान्तिवादी बहुत मिलेंगे जो आदर्शवादिता को गाली समझेंगे, फिर अपनी स्थिति और अपने वाद की सीमा मे मूल्यो के प्रति अपने लगाव की व्याख्या वे जो भी करते हो ! पर उस समय के क्रान्तिकारी आदर्श-वादी थे, आदर्शवादी होते थे, और आदर्शवादी होना गौरव की बात समझते थे। अगर उस काल के आदर्शवाद मे एक रोमानी भोलापन भी झलकता है तो वह वास्तविक स्थिति का ही प्रतिबिम्ब है आतकवादी आन्दोलन म एक रोमानी भोलापन था, उस के आदर्शवादी क्रान्तिकारियो मे भी एक रोमानी भोलापन था और उन मे से कोई भी तब रोमानियत या भोलेपन के आरोप पर लज्जित न होता। वे भी नही, जिन्होने अनन्तर रोमानियत-विरोधी मोह-भग की मुद्राएँ अपनायी। चन्द्रशेखर आजाद को यशपाल ने गग्वदी-सा दिखाया है, पर आतकवादी आन्दोलन के जमाने मे यशपाल भी 'देवि स्वतन्त्रते' को सम्बोधन कर के बडे भावुक गद्यगीत लिखा करते थे। बल्कि स्वतन्त्रता के लिए जिस तरह की निष्ठा आजाद मे थी, वह तो भावुकता के लिए जरा-सी भी गुजाइश नही छोडती थी। साँस लेने के मामले मे भावुकता कोई अर्थ नही रखती।

तो . मैं क्रान्तिकारी दल का सदस्य था और जेल मे था, और युवक तो था ही—कालेज से ही तो सीधा जेल मे आ गया था ! पहली खेप की कहानियाँ क्रान्तिकारी जीवन की हैं, क्रान्ति-समर्थन की हैं—और क्रान्तिकारियों की मनोरचना और उन की कर्म-प्रेरणाओ के बारे मे उभरती शकाओ की हैं।

बन्दी-जीवन ने कैसे कुछ को तपाया-निखारा तो कुछ को तोड़ा भी, इस का बढ़ता हुआ अनुभव उस प्रारम्भिक आदर्शवादी जोश को अनुभव का ठहरापन और सन्तुलन न देता यह असम्भव था—और सन्तुलन वाञ्छित भी क्यों नहीं था ? बन्दी-जीवन जहाँ अनुभव-सचय का काल था, वहाँ कारागार मेरा 'दूसरा विश्वविद्यालय' भी था . पढ़ने की काफी सुविधाएँ थीं और उन का मैंने पूरा लाभ भी उठाया—पहले साहित्य और विज्ञान का विद्यार्थी रहा था तो यहाँ उन विधाओं का भी परिचय प्राप्त किया जो क्रान्तिकर्मी के लिए अधिक उपयोगी होतीं—इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति···मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और दर्शन का साहित्य भी इन दिनों पढ़ा, चार-एक वर्ष जेल में और वर्ष-भर नजरबन्दी में बिता कर जब मुक्त हुआ तब यह नहीं कि क्रान्ति का उत्साह ठंडा पड़ चुका था, पर आतंकवाद और गुप्त आन्दोलन अवश्य पीछे छूट गये थे और हिंसा की उपयोगिता पर अनेक प्रश्न-चिह्न लग चुके थे।

पुराने गुप्त-कर्मी आतंकवादी का खुले समाज में एक 'जाने हुए' व्यक्ति के रूप में जीने का, समाज से मिलने वाले सम्मान के बीच उस समाज के और उस सम्मान के खोखलेपन का अनुभव करने का यह युग कहानियों की दूसरी खेप का युग है। इस में भी संख्या की दृष्टि से काफी कहानियाँ रहीं, इन कहानियों का स्वर भी बहुधा काफी तीखा रहा, पर इन का आक्रोश व्यंग्य-मिश्रित है। क्रान्तिकारिता का पहला दौर सर्वत्र हास्य-रहित, 'ह्यूमरलेस' होता है, हास्य का प्रकटन वयस्कता का लक्षण होता है। (मानवीयता का भी होता है—एकान्त हास्य-रहित क्रान्ति कार्य-दक्ष तो हो सकती है पर अमानवीय भी होती है, यह संसार में कहीं भी देखा जा सकता है।)

कभी-कभी, जब तीस के दशक के क्रांतिकारी और साठ-सत्तर के दशक के 'भूतपूर्व क्रांतिकारी' ('स्वतन्त्रता-सेनानी'—'फ्रीडम-फाइटर' !) को देखता हूँ—बल्कि यों कहूँ कि एक की दूसरे में परिणति को देखता हूँ—तो बड़ी ग्लानि होती है। अवश्य ही परिणति की यह यात्रा भी कहानी-उपन्यास की सामग्री है, अवश्य ही इस विघटित मानसिकता का विश्लेषण और उद्घाटन अपना महत्त्व रखता है और 'मनोवैज्ञानिक यथार्थ' के चितेरे के लिए एक बड़ी चुनौती है। मैं जानता हूँ कि यह काम मैंने नहीं किया या नगण्य मात्रा में ही

किया है। क्यों ? ऐसा नहीं है कि अपने से यह प्रश्न मैंने न पूछा हो। जरूरी नहीं है कि इस का उत्तर पाठक-समाज को दिया जाये—न यही जरूरी है कि अगर कुछ उत्तर दूँ तो वह उसे स्वीकार्य भी हो। पर जिन लोगों के साथ मैंने काम किया है उन का नग्न उघाड़ना मुझे एक अश्लील कर्म लगा है। 'अश्लील' विशेषण में बात कुछ दिग्भ्रष्ट हो सकती है, गलत भी समझी जा सकती है; कह लें कि वह व्रत-भंग लगता है—लायल्टी नाम का एक व्रत होता है न, जिस के अवशेष आज के राजनीतिक जीवन में दिया लेकर खोजने पड़ेंगे ! यह आपत्ति हो सकती है कि यह 'असाहित्यिक मूल्य' है—और कितनों को सब से अधिक प्रसन्नता इसी बात की होगी कि 'अज्ञेय' साहित्यिक सन्दर्भ में एक असाहित्यिक मूल्य की दुहाई दे रहा है !—पर जब पहले स्वीकार कर चुका हूँ कि आरम्भ की कहानियों में क्रान्ति को आगे बढ़ाने का लक्ष्य था, जो कि—मानता हूँ—साहित्येतर लक्ष्य है, तब यहाँ यह मानने में कोई संकोच नहीं है कि अब कुछ खास चीज़ें न लिखने का कारण भी उतना ही असाहित्यिक है—भूतपूर्व सहयोगियों के प्रति एक कर्त्तव्य का बोध। यह भी जोड़ सकता हूँ कि जिस तरह की क्रांति का स्वप्न उस आदर्शवादी युग में देखता था, उस के लक्ष्य अभी प्राप्त नहीं हुए हैं, उस समय के साधन अनुपयोगी मान कर भी उन लक्ष्यों को गलत नहीं मानता और यह एक नैगेटिव आदर्शवाद ही सही कि ऐसा कुछ लिखना नहीं चाहता जिससे उन लक्ष्यों की प्राप्ति में कोई बाधा हो या विलम्ब हो। यों अपने भूतपूर्व सहयोगियों को लाञ्छित किये बिना क्रांतिकारी आन्दोलन की आदर्श-च्युति, क्रान्ति-कर्मियों के पतन का चित्रण कर सकता हूँ, किया भी है, भविष्य में प्रकाश्य (पहले की लिखी) कुछ रचनाओं में है भी। (इस पक्ष के एक पूरे उपन्यास की पाण्डुलिपि जिन के पास सुरक्षा के लिए रखी थी उन से पुलिस के हाथों लग गयी थी और फिर उस का उद्धार नहीं हो सका।)

तीसरी खेप की कहानियाँ सैनिक जीवन से, और उन प्रदेशों के जीवन, समाज अथवा इतिहास से जिन में सैनिक जीवन बिताया, घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। सन् 30 का क्रान्तिकारी महायुद्ध का सैनिक कैसे हो गया यह प्रश्न तब भी उठा था जब मैं सेना में गया था; मैंने तभी उत्तर भी दिया था जो मेरे सेना छोड़ने के बाद छपा भी (प्रतीक 4 : हेमन्त, 1947)। वह ब्यौरा यहाँ दोहराना

अनावश्यक जान पडता है । सक्षेप मे यही कि मैं युद्ध का समर्थक न था, न हूँ, पर यह तर्क मुझे ग्राह्य नही लगता था कि भारत क्योकि पराधीन है इस लिए शत्रु से उस की रक्षा हमारा काम नही है । न यही मनोवृत्ति मैं किसी भी काम के बारे मे अपना सका हूँ कि 'यह बुरा अथवा गन्दा काम है, इस लिए मैं नही करूँगा—पर आवश्यक है इस लिए तुम मेरे लिए कर दो !' आज भी मैं नही मानता कि विगत महायुद्ध मे यदि जापान की विजय हुई होती और भारत उस के हाथ चला गया होता तो हमारे लिए अच्छा हुआ होता या हमे इस से जल्दी या इस से अच्छी आजादी मिली होती—इस के बावजूद कि जो आजादी मिली वह अभी तक वैसी सम्पूर्णता नही पा सकी जैसी मैं चाहता हूँ ।

इस के बाद कहानियो का एक और समूह है जिसे चौथी खेप भी कहा जा सकता है ये कहानियाँ भारत-विभाजन के विभ्राट् और उस से जुडी हुई मन स्थितियो की कहानियाँ हैं। एक बार फिर ये कहानियाँ आहत मानवीय सवेदन की और मानव-मूल्यो के आग्रह की कहानियाँ है . और मैं अभी तक आश्वस्त हूँ कि जिन मूल्यो पर मैंने बल दिया था, जिन के घर्षण के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त करना चाहा था, वे सही मूल्य थे और उन की प्रतिष्ठा आज भी हमें उन्नततर बना सकती है । नि सन्देह मेरा यह मानवतावाद फिर एक प्रकार का आदर्शवाद है, जिस के लिए मैं लज्जित नही हूँ न दीन होने का कोई कारण देखता हूँ । आज का फैशन मूल्यो का अस्तित्व भी मानने का नही है, पर मेरी समझ मे यह कहना कि आज हम एक सम्पूर्णत मूल्य विरहित समाज मे जीते हैं, उतना ही बडा पाखण्ड है, जितना यह मानना कि हमारे समाज मे सब शाश्वत मूल्य प्रतिष्ठित है । उतना ही बडा पाखण्ड, अगर प्रतिकूल दिशा का तो कह लीजिए प्रति-पाखण्ड । मैं नहीं मानता कि मानव-समाज मूल्यो के बिना जी सकता है, अस्तित्व रख सकता है । जिस समाज मे मूल्य नही है वह समाज नही है, मानव समाज होना दूर की बात । मूल्य मानव की रचना है और मूल्य-रचना ही उस का मानवत्व है । मूल्य बदलते अवश्य हैं, एक मूल्य समूह निर्जीव हो जाता है और उस के बदल एक दूसरे समूह की प्राण-प्रतिष्ठा होती है—कभी ऐसा भी होता है कि कोई समाज जड मूल्यों से निपटना चाहता है और नये मूल्यो के समर्थकों को कुछ उखाड-पछाड भी करनी पडती है । पर मूल्य सक्रमण के युग भी मूल्य-हीनता के युग नही होते । कभी-कभी अल्प

अवधि की मूल्य-हीनता दिख सकती है—उदाहरण के लिए युद्धान्त के काल में (देश-विभाजन का काल भी एक उदाहरण था)—पर ऐसा काल फिर पशुत्व की विजय का भी काल होता है, उस के दौरान मानवता कलुष के एक बोझ के नीचे दबी हुई होती है—एक तरह स 'स्थगित' होती है

इस के बाद मेरा कहानियाँ लिखना बहुत कम हो गया। क्या इस लिए कि दूसरी विधाओं की ओर अधिक ध्यान देने लगा ? या इस लिए कि अब तक का अशान्त घुमन्तू जीवन एक स्थिरतर रूप लेने लगा था ?—मेरे उत्तर काम के न होंगे। इतना कह सकता हूँ कि देश-विभाजन वाले समूह को छोड़ कर, अब तक की कहानियों में न्यूनाधिक मात्रा में आत्मकथा-मूलक वस्तु भी रही थी कोई कहानी 'आत्म-कथा' नहीं थी पर अपने जीवानुभवों का उपयोग उन के लिए अवश्य किया गया था। इस के बाद की (इनी गिनी) कहानियों में मैं इस से दूर हट गया, जैसे कि उपन्यास में भी इस से दूर हट गया। शुद्ध सिद्धान्त की दृष्टि से देखूँ तो यह मानना सगत लगता है कि वास्तव म कहानी-कार/उपन्यासकार तभी बना—क्यों कि *सिद्धान्तत* तो इस प्रकार उबरने को ही रचनाकार होना मानता हूँ—भोक्तृत्व से उबर कर कर्तृत्व प्राप्त करना। पर इस सैद्धान्तिक आग्रह को पाठक पर थोपना नहीं चाहता यही कह कर सन्तोष कर लेता हूँ कि इस स्थिति पर पहुँचना मुझे अच्छा ही लगा। और कथाकार होने के योग्य होते न होते मैं कहानी के प्रति उदासीन भी हो गया तो क्या हुआ ! मेरी तो तरक्की ही हुई पाठक का हर्ज होने का सवाल ही नहीं उठा क्यों कि जब तक मैं उस मंजिल पर पहुँचा तब तक कहानीकारों की कोई कमी नहीं रही थी और कहानी की पत्रिकाएँ भी अनेक निकलने लगी थी।

सच कहूँ तो उदासीनता में इस बात ने भी योग दिया। कहानीकारों और कहानी-पत्रिकाओं की बहुतायत ने प्रतियोगिता और अहमहमिका का जो वातावरण प्रस्तुत कर दिया उस में कहानियाँ लिखता भी तो सीधे सग्रह छपने तक के लिए रोक रखता—और कहानियाँ को जोड़-जोड़ कर ही रखना हो तो लम्बी कथा-रचना का आकर्षण और बढ़ जाता है ! इस प्रतियोगी भाव ने कुल मिला कर कहानी का काफ़ी अहित किया है। शिल्प की सफाई और भाषा की कसावट जहाँ-तहाँ कुछ बढ़ी है तो उस के साथ इतने झूठे

'सिद्धान्त' और बोदे दावे भी सामने आये हैं कि पाठक की तो बात क्या, स्वय कहानी-लेखक भी चकरा गया है !

साहित्य साहित्य मे से निकलता है, कहानी भी कहानी मे स निकलती रही है। हर विधा के विकास का तर्क होता है, कहानी के विकास का भी है। पर यह नही है कि 'हिन्दी साहित्य हिन्दी साहित्य म से ही निकलेगा' या कि 'हिन्दी कहानी हिन्दी कहानी मे से ही निकलती आयी है।' क्योकि हिन्दी का लेखक अधिकाधिक हिन्दीतर (विदेशी) साहित्य भी पढता है, इस लिए जिस साहित्य मे स साहित्य, जिस कहानी मे से कहानी निकलती है, उस का व्यास भी निरन्तर फैलता गया है। जिन मिथ्या सिद्धान्तो, बोदे दावो, निराधार गर्वोक्तियो और निरी पैंतरेबाजियो के नमूने हमें इधर लगातार देखने को मिलते है, उन का एक मुख्य कारण यह भी है कि हिन्दी का लेखक अपनी भगिमाओ और 'तेवरो' मे हिन्दी पाठक को प्रभावित करने के अपने अभियान मे उन विदेशी साहित्य-स्रोतो को छिपाता रहता है जिन से वह प्रेरणा पाता रहा है। यही कारण है कि बहुत-सी 'नयी' बातें, जो केवल शिल्प के विकास की बातें हैं और विकास के तर्क के अधीन होने के कारण जिन का आविर्भाव एक सहज परिणति मात्र है, न केवल नये-नये दावों का आधार बनती हैं वरच शिल्प की आलोचनामूलक पहचान को कुन्द करती हैं। ऐसा न होता, तो यह भी न होता कि शिल्प की दृष्टि से जिन चुनौतियो की पहचान अन्य विकसिततर साहित्यो मे दो-एक पीढी पहले हो चुकी थी, और जिन का विश्लेषणात्मक निरूपण कर के जिन का सामना करने की विधियाँ-युक्तियाँ भी निकाली जा चुकी थी, उन्हें अभी तक न हिन्दी का लेखक पहचानता है, न हिंदी का अध्यापक पढा-समझा सकता है फलत जो चीज निरी एक शिल्प-गत युक्ति है वह 'नयी कहानी', 'जटिलतर सामाजिक वास्तविकता' और एक 'समान्तर दुनिया' तक के बारे मे कितनी बडी और थोथी अहकारोक्तियो का निमित्त बनती है ! समझ पर—पाठक की ही नही, अध्यापक तक की समझ पर !—इस का कितना नकारात्मक प्रभाव पडता है, इस का तीखा आस्वाद मुझे तब मिला जब एक विश्वविद्यालय मे आधुनिक युग की बदली हुई काल-प्रतीति और कथा-साहित्य मे उसे लाने की विधियो की चर्चा करने पर हिन्दी के आचार्य महोदय ने (जो सभाध्यक्ष भी थे) मेरे व्याख्यान को 'दार्शनिक विषय' कह कर

विभागीय प्रयोजनों की परिधि से बहिष्कृत कर दिया था। आचार्य चतुरसेन शास्त्री नये कहानीकारों को प्रायः यह सलाह दिया करते थे कि सिनेमा देखा करें; वह स्वयं तो कई बार कथानक भी वहीं से 'उठा' लिया करते थे, पर उस बात को अलग रखें तो उन की सलाह इस लिए उपयोगी थी कि कहानी में 'नये' नाम का बहुत-सा सिने-माध्यम की युक्तियों पर ही आधारित है। और कहानी पर--यहाँ 'कहानी' में उपन्यास भी शामिल है--सिनेमाई शिल्प-युक्तियों का यह प्रभाव तभी से आरम्भ हो गया था जब से सिनेमा आरम्भ हुआ। सारे संसार की कहानी इस प्रभाव से बदली, विकसित हुई, नयी हुई: पर अन्यत्र कहानीकारों ने सिनेमा से *प्राप्त सम्भावनाओं को सचेतन रूप से* समझा, कुशलतापूर्वक अपनाया, और ईमानदारी में स्वीकार भी कर लिया। जब कि हिन्दी में अभी तक कहानीकार मानो यह चाह रहा है कि पचास बरस से काम में भी लायी जाती इन युक्तियों को 'नयी' हिन्दी कहानी में 'प्रवर्तित' करने का श्रेय वह केवल इस लिए ले ले कि मूलतः ये दूसरी विधा *की थी, और दूसरी विधा से कहानी में पहले ली भी गयी तो* हिन्दीतर (विदेशी) कहानी में! कभी कहीं किसी ने इस बात की ओर इशारा कर भी दिया तो अध्यापक और आलोचक तुरत उस पर चढ़ बैठे कि यह तो रूप-वादी आलोचना है और उन्हें केवल वस्तु से प्रयोजन है!

अन्त में केवल एक बात और कहना चाहूँगा—भले ही थोड़े विस्तार से। मेरी कहानियाँ नयी हैं या पुरानी, इस चर्चा में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। सभी साहित्य धीरे या जल्दी पुराना पड़ता है, कुछ पुराना पड़ कर फिर नया भी होता है, इस बारे में कुछ पहले भी कह चुका हूँ—(इसी संग्रह के पहले भाग की भूमिका में)। नयी-पुरानी की काल-सापेक्ष चर्चा में कहानी को उस के काल की अन्य कहानियों के सन्दर्भ में देखना चाहिए, उस समय वह कितनी नयी या पुरानी, पारम्परिक या प्रयोगशील थी। इस से आगे इतना-भर जोड़ना काफी है कि मैंने प्रयोग किये तो शिल्प के भी किये, भाषा के भी किये, रूपाकार के भी किये, वस्तु-चयन के भी किये, काल की संरचना को लेकर भी किये (फिर 'दार्शनिक विषय'!), लेकिन शब्द-मात्र की व्यंजकता और सूचकता की एकान्त उपेक्षा कभी नहीं की। इसे आप चाहें तो मेरे प्रयोगों की सीमा या परिधि भी मान सकते हैं, और अत्यन्त अनुदार हों तो यह भी

सोच सकते हैं कि भाषा के इकहरे प्रयोग के अलावा किसी तरह का भी प्रयोग निरा आभिजात्य है। पर मैंने हमेशा माना है, अब भी मानता हूँ, कि सीधी सामान्य उक्ति, सीधा सपाट बयान, अपने-आप में न साध्य है न सिद्ध, जहाँ सपाटबयानी कारगर होती है वहाँ हमेशा हम पहचान सकेंगे कि वह आलंकारिक सपाटबयानी है, इकहरी नहीं है बल्कि आभासित सपाटपन के सहारे एकाधिक स्तर पर अर्थ-सम्प्रेषण करती है—या करने के उद्देश्य से अपनायी गयी है। *मेरी छोटी-सी कहानी 'साँप' में कुछ को केवल 'अतिरिक्त* रोमानी तत्त्व' मिला है, पर उन लोगों की बात छोड़ दें जो मानते हैं कि प्रेम कुछ होता ही नहीं, केवल सेक्स होता है, तो मैं पूछना चाहूँगा कि प्रिय *को आदर्शीकृत करके देखने वाले पहले प्यार में और उस के समान्तर सिर* उठाना चाहने वाली कामना में जो संघर्ष होता है, उस का सम्प्रेषण इस से अच्छा और कैसे होता है? आप कह दें कि पहला प्यार होता ही नहीं, शुरू से केवल सेक्स की आक्रामक वासना होती है—कि लड़की को चाहा नहीं जाता केवल फँसाया जाता है—तो मैं बहस यहीं समाप्त मान लूँगा इसी पर आप अपने को आधुनिक मान लेंगे तो मान लें, मैं आप को अभागा गिनूँगा। अपने पक्ष में आप बहुत-सी आधुनिक कहानियाँ पेश कर देंगे तो मैं कहूँगा, हाँ, अभागों की संख्या बढ़ती जा रही है।

दूसरी ओर 'मेजर चौधरी की वापसी' जैसी कहानी का भी उदाहरण दे सकता हूँ इसे वैसा 'अतिरिक्त रोमानी' नहीं कहा गया पर एक प्रश्न उसे ले कर भी पूछना चाहता हूँ। यौन सम्भोग के सन्दर्भ में नामर्दी की कहानियाँ मिल जायेंगी—वैसी स्थिति में पुरुष की यन्त्रणा और 'सन्त्रास' का चित्र भी मिल जायेगा, (यह तो आज का सामाजिक यथार्थ है!) पर युद्ध में आहत हो कर सन्तानोत्पत्ति के लिए असमर्थ हो गए युवा पति की मनोव्यथा का चित्र कहाँ है? (और मनोव्यथा केवल 'अपना' दर्द नहीं होती, अपने कारण दूसरे को मिलनेवाले दर्द की पहचान भी होती है, प्रेमी की संवेदना का यह विस्तार भी एक मूल्य है!) और कौन-सा दूसरा तर्ज बयाँ उस के लिए अधिक उपयुक्त होता? निःसन्तान कुण्ठित नारी के चित्र भी हैं, पर क्यों 'हीलीबोन् की बत्तखें' कम प्रभावी मानी जायेगी केवल इस पर कि उसने उस कुंठा की उग्र *प्रतिक्रिया को तिर्यक रूप में दिखाया है—जैसे कि कुंठाएँ अभिव्यक्त होती हैं?*

अधिक बढ़ गया। अपनी वकालत करना मुझे अभीप्ट नही था। केवल अपनी कहानियो को निमित्त बना कर कथा, उस की भाषा और उस के शिल्प, दोनो के विकास और पाठक की सवेदना की दीक्षा के बारे मे कुछ कहना चाहता था। मेरी प्रस्तुत कहानियाँ बीस वर्ष या उस से अधिक पुरानी है, इन बीस वर्षों मे विधा आगे न बढी होती तो ही आश्चर्य की बात होती। मैं कहानी लिखता नहीं रहा पर सतर्क पाठक के नाते देखता-समझता रहा हूँ कि कहानी की प्रगति किधर है और उस के प्रेरक कारण क्या हैं? अब फिर कभी अगर कहानियाँ लिखूँगा तो निश्चय ही वे इन कहानियो से भिन्न होगी और वह भिन्नता सकारण होगी और यह कहना आवश्यक नही होगा कि ये कहानियाँ किसी नये अर्थ म नयी हैं, क्यो कि वे विधा के विकास मे से ही निकली हुई होगी। पर सम्भाव्य अपनी जगह रहे, ये कहानियाँ जहाँ थी वही रख कर पढी जायें। अभी वे पापठ्य नही हुई हैं ऐसा मुझे लगता है। साधारण पाठक के लिए भी नही, कहानीकार के लिए भी नही। यो गलतफहमी किसे नही होती!

—'अज्ञेय'

पहले भाग (छोड़ा हुआ रास्ता) की तरह इस भाग के परिशिष्ट मे भी कहानियो का लेखन-क्रम दे दिया गया है। एक और परिशिष्ट मे कुछ चुनी हुई आलोचनाएँ भी सकलित कर दी गयी हैं। आशा है, इन से पाठक का किंचित् मनोरजन भी होगा, कुछ जानकारी भी बढेगी। अध्येता के लिए कुछ सन्दर्भ-सूचनाएँ भी मिल जायेंगी।

—लेखक

क्रम

सिगनेलर

•

भाई विमल,

आखिर मैं यहाँ पहुँच ही गया। और पहुँच कर सोचता हूँ, अच्छा ही हुआ क्योंकि फिर क्या जाने ऐसी सुन्दर जगह देखने को मिलती या न मिलती? जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं है—अच्छे-भले तन्दुरुस्त लोग देखते देखते लुढ़क जाते है, मैं तो बीमार हूँ। देखने को अच्छा दीखता हूँ, और आम तौर पर होता भी हूँ, अच्छा ही; पर जब धड़कन का दौरा होता है, तब·· तभी मैं कहता हूँ, रोमास अच्छी चीज है। जीवन मे जब इतना अनिश्चय है, तब रोमास के बिना उसे कैसे सहा जाय, यह मुझे तो समझ ही नही आता। निश्चय कहाँ है? विश्वास कहाँ है? तुम्हारे विज्ञान में? विज्ञान जब अपनी इति पर पहुँचता है, तब एक प्रश्न-विराम का रूप ले लेता है। और जहाँ वैसा नही करता, जहाँ वह निश्चय का, आत्यन्तिक, अकाट्य सत्य का रूप लेता है, वहाँ वह झूठ बोलता है। क्या इसी को निश्चय कहते हैं? लेकिन तुम कहोगे पत्र में भी कहाँ की बात ले बैठा, इस लिए जहाँ हूँ, वहाँ की बात कहूँ।

यह तो तुम जानते हो कि मैं यहाँ आया कैसे। मेरे मामा बहुत वर्षों से यहाँ रहते है। अपने माता-पिता से वसीयत मे उन्होंने एक विचित्र तबीयत पायी थी (अपनी माँ से शायद मैंने भी उस का कुछ अंश पाया है!) जिस के कारण उन का मन साधारण लोगों में, साधारण कामों में, साधारण स्थान पर लगता ही नहीं था। जबरदस्ती शादी कर दी जाने के बाद वे यहाँ भाग आए और जगल में ही छोटा-सा घर बना कर रहने लगे। वह उस समय का घर अब एक शानदार बँगला है, जिस के चारो ओर सेब, नाशपाती, खुमानी, आड़ू, अलूचे इत्यादि के सैकड़ो वृक्ष हैं। आज की इस हालत को देख कर कोई सोच भी नहीं सकता कि

पन्द्रह-बीस साल पहले—बल्कि अभी पाँच-छः साल पहले तक—यहाँ इन के सिवाय कोई नहीं रहता था—नज़दीक कोई मकान था तो तराई के पार सामने की पहाड़ी पर, जो कौए की उड़ान से तो दो मील से अधिक नहीं होगा, लेकिन पैदल दस मील से कम नहीं ! मामा ने अकेले आ कर इस चीड़ की झड़ी हुई सुइयों और कुकुरमुत्तों से भरी हुई जमीन को फलदायिनी बनाया, बाग खड़ा किया, और तब (अभी पाँच-एक वर्ष हुए हैं इस बात को) दो-चार और परिवार यहाँ आसपास आ बसे। अत्यन्त सुन्दर जगह है, एकान्त, शान्त और शीतल। काई की हरियावल यहाँ का मखमली बिछौना है, मुनाल के रंगीन पंखों की फड़फड़ाहट ही यहाँ के चामर हैं, पंडुकियों का कूजन ही यहाँ का संगीत है। रोमांस के राजा का यह दरबार है।

तुम पूछोगे, लेकिन रोमांस कहाँ है भी ? मैं स्वयं जब सन्ध्या की (मेरी ममेरी बहन का नाम छायावादी मामा ने सन्ध्या रखा था, यह तुम्हें बता चुका हूँ कि नहीं ?) आँखों की ओर देखता हूँ, तब मेरे स्वर में यह प्रश्न उठता है। उन आँखों ने उन्नीस वसन्त देखे हैं, उन्नीस बार वसन्त के सुन्दर स्वप्न को पावस के जल में सींचे जाते और शरद की परिपक्वता में फलित हो कर भी शिशिर की तुषार-धवल कठोरता में लुट जाते देखा है, फिर भी उनमें उस रहस्य की पहचान नहीं है, स्वप्न नहीं है, स्वप्न की माँग भी नहीं है। ऐसी स्वच्छ—ऐसी तरल और हाँ, ऐसी भावहीन आँखें मैंने आज तक नहीं देखीं। भावहीन इस लिए कहता हूँ कि उन में अपना कुछ नहीं दीखता—जान पड़ता है, सन्ध्या के पास अपना कुछ है ही नहीं जो आँखों में आये—चाहे व्यक्त होने के लिए, चाहे छिपा रहने के लिए। वायु चलती है, चीड़ के वृक्षों में सरसर ध्वनि उठती है, तो मैं देखता हूँ कि सन्ध्या की आँखों में भी उस ध्वनि का कम्पन है, आड़ू के वृक्ष से कोई बची खुची फूल की पँखुड़ी गिरती है तो मुझे जान पड़ता है कि उन आँखों में भी अवसान की एक रेखा खिंच गई है, सूर्य अस्त होता है तो मैं पाता हूँ कि रंगों की बिछलन पर टिकी हुई उन आँखों में भी अनुराग की झलक है। लेकिन जब मैं उन्हें पकड़ने के लिए बात करता हूँ, तब पाता हूँ कि वहाँ कुछ नहीं है—सन्ध्या शून्य है। उस की आँखों में प्रकृति ही प्रकृति है ! तभी मैं कहता हूँ, वे आँखें बहुत ही सुन्दर हैं, लेकिन बहुत ही भावहीन।

तुम मन में हँसोगे कि रोमांस के उपयुक्त वातावरण नहीं मिला, लेकिन

मुझे ऐसा तो नहीं लगता। तुम्हें मैं कोई प्रमाण तो नहीं दे सकता, फिर भी मैं सिद्धान्ततः यह मानता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति में रोमांस की क्षमता है, और वह कभी-न-कभी प्रकट भी होती ही है—दूसरों के आगे नहीं, तो उस व्यक्ति के आगे अवश्य, जिस में वह हो। सन्ध्या में रोमांस है या नहीं, मैं चाहे न जानूँ, वह स्वयं एक दिन अवश्य जानेगी। और मैं भी क्यों नहीं जानूँगा? जैसी उस की आँखें हैं, उन में भला कुछ छिप सकता है? पहाड़ी झील का अन्तर इतना स्वच्छ होता है, तभी तो उस में छोटे-से-छोटा मेघपुंज भी, एक उड़ता हुआ पक्षी तक साफ़ झलक जाता है, नहीं तो क्या तालाब के गँदले पानी में कुछ दीखता है?

तुम ऊब उठे होगे। थोड़ा सा विस्मय मुझे भी होता है कि आने के पहले ही दिन तुम्हें इतना लम्बा पत्र कैसे लिख गया! रात यहाँ पहुँचा था, रात बारह बजे तक हम लोग बातें करते रहे। सवेरे उठ कर दिन-भर सन्ध्या के साथ घूमा किया—बाग देखा, घर देखा, खेतों की क्यारियाँ और उन से परे एक रहस्य-भरे परदे की तरह दृष्टि को रोकनेवाला चीड़ का जंगल भी देखा। नीचे घाटी में फैली हुई और भागती हुई धूप देखी, टूटते तारों की तरह गिर कर सर्राता हुआ निकल जानेवाला कुररु का जोड़ा देखा। पड़ोसियों से परिचय प्राप्त किया; फिर सन्ध्या के पाले हुए पक्षियों, मुर्गे-मुर्गियों, हंसों की जोड़ी और जंगली बिलार के बच्चे से पहचान की। और अब रात को तुम्हें पत्र लिखने बैठा हूँ, तब भी थकान नहीं है, परिश्रम एक विचित्र अत्यन्त मधुर नशे की तरह शरीर में छाया हुआ है! इस सब से तुम अनुमान लगा सकते हो कि यह स्थान कैसा होगा।

लेकिन तुम्हें क्या? तुम्हें अच्छी तुम्हारी बीमे की एजेंसी और नगर कांग्रेस कमेटी की चीं-चीं-चीं-चीं! इस आखिरी 'इन्सल्ट' के साथ।

— तुम्हारा स्नेही

2

प्रिय विमल,

27 जून

मैं कहता था, मैं जीतूँगा! रोमांस—रोमांस—रोमांस—कितनी चाहते

हो तुम रोमास ? मैंने उस दिन देखी नही थी, लेकिन क्या वह थी नही ? वह तो बरसों से यहाँ चक्कर काट रही है—माई डीयर मैन, बरसो से ! पर गर्व पीछे करूँगा, बात तो कह लूँ । तो सुनो !

पिछला पत्र लिखने के बाद फिर तबीयत खराब हो गयी, और तीन दिन बाहर निकलना नही हुआ । इस बीच मैंने सन्ध्या को कुछ और पहचाना । मामी तो है नही, और मामा काफी बुजुर्ग भी हैं और अब बोलते-चालते भी कम है, अक्सर अपनी लाइब्रेरी म रहते है, इस लिए घर की देख-रेख और सेवा-शुश्रूषा का सब भार सन्ध्या पर ही रहता है । और वह उसे ऐसे निभाती है, जैसे जानती ही न हो कि वह बोझ है । मैंने अपने को बिल्कुल आराम मे पाया, और इतना ही नही, मैंने यह भी पाया कि सन्ध्या साधारण घरू चिकित्सा के अलावा और भी बहुत-कुछ जानती है । 'मेघदूत' उसे जबानी याद है, 'कुमार-सम्भव' उस ने कई बार पढ रखा है, भारवि और श्रीहर्ष की वह तुलना कर सकती है ! खैर । तीन दिन बाद मैं उठने फिरने लायक हुआ तो यह तय हुआ कि बाहर खुल म बैठा जाय । बँगले के सामने घास पर मेरे लिए एक आराम-कुरसी डाल दी गयी, अपने लिए सन्ध्या ने एक स्टूल रख लिया। मैं लेट गया, टागो पर कम्बल डाल कर रग-बिरगे बादलो की ओर देख कर क्या कुछ सोचने लगा । सन्ध्या भी चुपचाप बैठी कभी मेरी ओर, कभी बादलो की ओर, कभी सामने की पहाडी की ओर देखने लगी ।

बहुत समय ऐसे बीत गया । अँधेरा होने लगा । मै इतनी देर तक सन्ध्या से कुछ भी नही बोला था, लेकिन सोच रहा था सन्ध्या के बारे मे ही । अब जब मुझे ध्यान हुआ कि मैं बहुत देर से चुप हूँ, तब मैंने उस की ओर देखा । वह अब स्थिर दृष्टि से सामने की पहाडी ओर देख रही थी । मैंने भी उधर ही देखते हुए पूछा, "उस पहाडी पर क्या कोई नही रहता ? कही प्रकाश नही है ।"

वह उत्तर देने को हुई ही थी कि सामने पहाड पर कही एक बत्ती जल उठी । प्रकाश दूर था, छोटा-सा दीखता था, लेकिन वह तेल के दीये-सा लाल नही था, पीला भी नही था, काफी सफेद दीखता था, मानो बिजली का हो । और वह लैम्प की तरह स्थिर नही था, कभी जलता था, कभी मिट जाता था, कभी थोडे काल के लिए, कभी अधिक ।

पहले मैंने समझा कि वह पेडो मे से छन कर आता होगा, और हवा से

पेड़ो के हिलने के कारण झिपता-वलता होगा। लेकिन हवा विल्कुल शान्त थी, यहां तक कि पहाडो मे हमेशा होती रहनेवाली चीडो की सांय-सांय भी बन्द थी। अत्यन्त स्तब्धता छायी हुई थी। फिर मुझे ऐसा भी लगा कि वह झिपना-वलना आकस्मिक नही है, मानो किसी विशेष प्रणाली पर चल रहा है, जैसे उन म चिन्तना है, कुछ अभिप्राय है। मेरी रोमांटिक वृत्ति जागी—क्या यह सिगनल है ? मैं ध्यान से देखने लगा, और मैंने पाया कि मैं उस प्रकाश के सन्देश को साफ-साफ पढ सकता हूँ—मोर्स प्रणाली पर सन्देश भेजा जा रहा था—आइ लव यू—आइ लव यू—आइ लव यू•••

मैं भौचक रह गया। इस जगल म मोर्स कोड और प्रेमालाप का यह आधुनिक तरीका! मुझे इतना आश्चर्य हुआ कि मैं बोल नही सका, दस मिनट तक चुपचाप वह सिगनल ही देखता रहा। जब वह बन्द हो गया, और थोडी देर बाद पहाड के एकरूप अन्धकार को चीर कर मामूली तेल के दीये का लाल और फैला हुआ सा प्रकाश जगने लगा, तब मैंने किसी तरह सन्ध्या स कहा, "वह जानती हो क्या था ? कोई सिगनल कर रहा था, 'मैं तुम्हे प्रेम करता हूँ'।"

सन्ध्या न अचम्भे म आ कर कहा, "सच ? लेकिन मैं तो इसे आठ वर्षों से नित्य देख रही हूँ!"

मेरा विस्मय और बढ गया। "आठ वर्षों से ? नित्य ? कौन रहता है वहां ? किसे सन्देश भेजता है ?"

सन्ध्या ने मेरे प्रश्न की उपेक्षा करते हुए कहा, "अजब बात है। आठ वर्ष पहले तो इधर हमारे सिवाय कोई था ही नही।"

थोडी देर बाद उस ने फिर धीरे से कहा, "अजब बात है!"

थोडी और देर बाद उस ने और भी धीरे से कहा, "बडी अजब बात है। आठ वर्षों स—"

फिर वह एकाएक उठ कर भीतर भाग गयी।

और सवेर मैं देखता हूँ, झील पर बादल घिर आये हैं, सारा आकाश छा गया है। अब सन्ध्या की आंखो के और ससार के बीच मे सदा के लिए एक परदा छा गया है, जिस पर सन्ध्या का सच्चा रूप दीखता है—और वह रूप है सारे विश्व का रहस्य—रोमांस, रोमांस, रोमांस ••

परसों मैं पत्र अधूरा ही छोड कर उठ गया था। वैसे वह अधूरा था भी नही, क्योंकि जो असल बात मुझे लिखनी थी, वह तो लिख ही चुका था। फिर भी उतनी बात मे ही मन नही भरता। अगर रोमास के आ जाने से ही उस की हौंस मिट जाती, तो बात ही क्या बनती ? आ कर तो वह निरन्तर माँगती है कि उस का रहस्य खोला जाय, इस माँग मे ही तो उस की शक्ति है। मैं समझता हूँ, पिछली सदी मे यूरोप मे जो रोमांटिक गाथाओं की लहर आयी थी, उस मे सशक्त रूप से यही बात कही गयी थी। रोमास की इसी रहस्यमयी शक्ति को शाप का रूप दिया गया था। टेनीसन की 'लेडी आफ शैलाट' का शाप भी यही था—शीशे मे 'बाहर' का दृश्य देखना रोमांस की पुकार थी, जिस के वश हो कर वह बन्दी रमणी नाव मे बैठ कर बह चली, जाने किस रहस्य का उद्घाटन करने के लिए ! कीट्स की 'ला बेल डाम सॉं मेर्सी' की हृदयहीन नायिका भी तो वही रहस्यमयी शक्ति है, जिस के एक चुम्बन से अभिभूत हो कर पुरुष सदा उस की तलाश मे मारा-मारा फिरता है ··

लेकिन साहित्य-मीमांसा भी क्या बीमे के आँकडे है जो तुम्हे रुचेंगे। लौटूँ कहानी की ओर ही !

रोमास तो सन्ध्या की है, लेकिन रहस्य तो मेरे लिए भी है न ! मैंने खोज-खाज कर बहुत-सी बातें पता लगायी है। और जो पता लगी उन के आधार पर बहुत-कुछ सोचा भी है, जिस के कुछ परिणाम भी निकले है। वे सब अब लिखता हूँ, कि आयु की लम्बाई से ही जीवन की कीमत लगानेवाले तुम उस की गहराई भी कुछ समझ पाओ।

वह जो परली पहाडी पर आदमी रहता है, उस का नाम है बलराज। उस ने कहीं शिक्षा नही पायी है, लेकिन सुनने मे आता है कि वह केवल पढा-लिखा ही नही, बहुत-सी विद्याओं मे पारगत भी है। यह सब-कुछ उस ने स्वय अपनी हिम्मत से सीखा है, क्योंकि उस का बाप देवराज यहाँ के हिसाब से काफी सम्पन्न होते हुए भी पढाई के विरुद्ध था और वैसे भी अक्खड था। बेटा ऐसा तीक्ष्ण-बुद्धि कैसे निकला, इस का कारण कई प्रकार से बताते है, लेकिन उन सब बातों मे इतना साम्य अवश्य है कि उस की माँ का ठीक-ठीक पता नही है, और जिस स्त्री ने उसे पाला-पोसा, वह देवराज की दूसरी पत्नी थी। सौतेली

माँ का जैसा चित्र खींचा जाता है, इस स्त्री ने अपने को उस के योग्य साबित करने मे कोई कसर नही छोडी। देवराज न केवल बुढापे की स्त्री का गुलाम था, बल्कि वैसे भी अत्यन्त कठोर और नीरस तबीयत का आदमी था। लोग बताते है कि वह कई बार बलराज को इतना पीटा करता था कि वह बेहोश हो जाता था, और तब उसे घर से कुछ दूर राह के किनारे डाल जाता था। कई बार आते-जाते लोग उस की पट्टी कर जाते थे, और कभी कुछ फल भी खाने को दे जाते थे।

जब बलराज कुछ बडा हुआ, तब उसे घर मे बिल्कुल बहिष्कृत कर दिया गया—एक अलग झोपडा उस के लिए डाल दिया गया, जिसमे वह उसी कडवी आजादी मे पलने लगा, जो बन्दी को उस समय मिल जाती है, जब वह काल-कोठरी के एकान्त मे पाता है कि वह सारे ससार से अलग है। यहीं उस ने तरह-तरह की किताबें पढी, थोडी-बहुत हिकमत, कुछ सगीत, कुछ बढईगिरी और न जाने क्या-क्या···

मैं कुछ-कुछ उस की हालत का अनुमान कर सकता हू। दुबला लबा शरीर; बडी-बडी आँखें, लम्बे किन्तु सिर से सट कर रुखाई से लटकते हुए बाल, एक-दम मनोविज्ञान-ग्रन्थो के 'प्राब्लेम चाइल्ड' की-सी सूरत। उस जगल मे अकेले रहते, यह देखते हुए कि उस के ससार मे जो दो व्यक्ति हैं जिन मे वह कुछ स्नेह की आशा कर सकता है, उन मे से एक तो उसे नित्य पीटता है, उसे कुचल कर मिट्टी कर के ही अपनाना चाहता है, और दूसरा व्यक्ति, जिस से मृदुता और सहानुभूति की उम्मीद प्रकृति ने न जाने कैसे पुरुष की नस-नस में तडपा दी है, उस की विमाता है, जो दूर ही धकेलती है, और कभी पास खींचती है, तो एक विष मे लपटाये हुए सूत्र से। बलराज किधर गया होगा, यह समझना कठिन नही है। बच्चा जब माँ को माँगता है, और पाता है केवल एक स्त्री जो किसी दूसरे की पत्नी है, तब उस की आत्मा दूसरे रास्ते मे पड कर वह कमी पूरी करना या छिपाना चाहती है—सगीत द्वारा, शारीरिक परिश्रम द्वारा, आत्म-पीडन द्वारा और सब से बढ कर दिवास्वप्नो के द्वारा—उस अमोघ अस्त्र रोमास के द्वारा।

देवराज मर गया, और बलराज की विमाता कहीं चली गयी। बलराज अपने पिता के विस्तृत खेतो का स्वामी हो कर रहने लगा।

सन्ध्या को याद है कि दस एक वर्ष पहले वह एक बार इस तरफ आया था और एक दिन यहाँ रह गया था। सन्ध्या उस समय केवल नौ वर्ष की थी, लेकिन उस एक दिन में बलराज से उस की जो कुछ बातचीत हुई, वह उसे बखूबी याद है, और याद होने का कारण भी है। सन्ध्या ने अपना समवयस्क लडका तब तक देखा नहीं था, लेकिन वह स्वच्छन्द वातावरण में पली होने के कारण प्रगल्भ और बेघडक थी, बलराज ने भी अपनी समवयस्का लडकी नहीं देखी थी, पर वह अपने आहत और पीडित आत्मा के कारण अत्यन्त सकोची और एकान्तप्रिय था। सवेरे वह आया था, और सन्ध्या कहती है कि दोपहर तक उस के मुख से एक शब्द नहीं निकला। चुपचाप एक फीकी-सी, दीख जाने पर फौरन छिप जानेवाली दृष्टि से सन्ध्या की ओर देखते हुए ही उस ने खाना खाया, वैसे ही लाइब्रेरी में बैठा रहा। पहली बात उस ने यही की कि 'घूमने जाऊँगा,' और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए चीड के जगल की ओर चल दिया।

और वहा जगल म और भी मजे की बात हुई। सन्ध्या उस के बर्ताव से हैरान तो हुई, लेकिन कुण्ठित होना उस ने सीखा नहीं था, और न-जाने क्यों उसे इस बारह बरस के लडके की बीमार आँखों पर करुणा-सी भी आयी थी। वह भी पीछे-पीछे वन की ओर चल दी। वहाँ वह बलराज की तलाश में घूमती हुई जगली स्ट्राबेरियाँ भी बीनती रही, और जब आखिर बलराज मिला, तब उसे स्ट्राबेरियाँ देती हुई बोली, "लो, तुम्हारे लिए बीनी हैं।" बलराज विस्मय में वह ले भी नहीं सका, बोला, "किसी के लिए नहीं बीनी जाती।" कल्पना करो इस उत्तर की, और सोचो उस बच्चे की हालत, जो यह कहता है! समझो उस की प्रवासी आत्मा का अकेलापन, जिस में उस की सारी मिठास, सारा रस, अन्तर्मुख हो कर भीतर-ही-भीतर घुमड रहा है, विकृत हो रहा है—ठीक वैसे ही, जैसे अगूर का रस निचोड कर दाब दिया जाने के बाद सडता है और शराब में परिणत हो जाता है···

सन्ध्या उसे साथ ले कर ही लौटी। रास्ते में उस ने न-जाने कितने और कैसे-कैसे प्रश्न पूछे, जिन के उत्तर में बलराज धीरे-धीरे अपना तो नहीं, अपने ज्ञान का परिचय देने लगा। जगल की अनेक तरह की जडी-बूटियों के नाम उस ने बताये, सुगन्धित जडों की खूबियाँ गिनायीं, और यहाँ तक खुल सका

कि जेब में से एक जड़ निकाल कर सन्ध्या की ओर बढ़ाते हुए बोला, "लो, सूंघो!" जब सन्ध्या ने सूंघ कर प्रशंसा की और लौटाने लगी, तब बोला, 'तुम रखो।" सन्ध्या ने पूछा, "मेरे लिए नहीं लाये थे, तब मैं नहीं लूंगी।" और उस ने देखा कि "रखो" कहता हुआ भी बलराज जैसे लेने के लिए हाथ बढ़ाने की चेष्टा कर रहा हो, मानो उस में इतना भी साहस नहीं है कि आग्रह कर सके! सन्ध्या ने वह जड़ रख ली, और वे लौट आये। उसी शाम बलराज चला भी गया।

बस, इतनी सी बात तब हुई थी—दस साल पहले। और आज यही व्यक्ति सिगनल कर के कहता है, "मैं प्रेम करता हूँ," और आठ वर्षों से कह रहा है! कितना कच्चा सूत्र है, जो मृत्यु और जीवन का सम्बन्ध जोड़ता है, कितना कमजोर तन्तु है, जिस पर प्रेम अपनी पीड़ाओं का गुरु-भार लिये नाचता हुआ बढ़ता है!

तुम कहोगे, क्या बेहूदगी है, पागलपन है! तुम्हारी समझ में प्रेम का यह रूप आ ही नहीं सकता। मिलने के दो वर्ष बाद किसी के भीतर कल्पना का कल्पवृक्ष फल उठे, वह सम्भावनाओं के आसरे ही कल्पित प्रेम का उद्यान खड़ा कर ले और उसी में इतना तन्मय हो जाय कि बाहर न निकले, यथार्थता न देखे, यह तुम्हारी दृष्टि में बेहूदगी ही हो सकती है। तुम प्रेम को आत्म-दान के, उपासना के रूप में—बल्कि अछूत की उपासना के रूप में—कब देख सके! तुम्हें तो यह जँचता कि यहीं जंगल में उस का और सन्ध्या का चोरी से मिलन हुआ करता, या वह कभी सन्ध्या के घर में घुस आता और फिल्म के वनमानस के ढंग पर उसे उठा ले जाता! तब तुम कहते, "यही तो यथार्थता है साहब!" या 'मर्द का प्यार ऐसा ही होता है!" लेकिन तुम जानते हो, यथार्थता का यह रूप भी रोमांस का उबाल होता? तुम्हारे सड़े मस्तिष्क की रोमांस भी सड़ी हुई होगी—और अन्तत यह तुम्हारी 'यथार्थता' क्या एक मोहावरण नहीं होती उस यथार्थता को छिपाने के लिए, जिस में तुम, स्वयं तुम हो? लेकिन जाने दो, मैं बहस नहीं करना चाहता, मैं इस अभागे वनराज के स्वप्न में रहना चाहता हूँ, उस के सिगनल के स्पन्दन में जीना चाहता हूँ।

—स्नेही

3

12 जुलाई

भाई,

यह उम्मीद नहीं थी कि यहाँ का मौसम ऐसी दगा देगा। आज आठ दिन से बारिश बन्द नहीं हुई है। सुबह से तीसरे पहर तक हल्की बारिश और घोर गड़गड़ाहट, उस के बाद रात-भर मूसलाधार वर्षा। मैं तंग आ गया हूँ। सन्ध्या के मामा तो अब लाइब्रेरी से निकलते ही नहीं, वहीं खिड़की-दरवाज़े बन्द कर के आग जला कर बैठे रहते हैं, क्योंकि नमी से उन के जोड़ों में दर्द होने लगता है, और सन्ध्या बारिश में भी जहाँ-तहाँ घूमती-फिरती है और अजब तर्ज़ के पहाड़ी गीत गाती है। मैं बहुत अकेला हूँ। जब कभी उस अकेलेपन का ध्यान आ जाता है, तब आत्मा अपने सारे दुःखों को याद कर के बेकल हो उठती है, और वह सनातन प्रश्न पूछने लगती है, जो मानवता का वरदान भी है और शाप भी—मैं क्या हूँ, क्यों हूँ और कब तक हूँ ? वैसे तो इन प्रश्नों के आगे कौन अकेला नहीं है ? सुख में, राग में, रस-प्लावन में, जब यह प्रश्न उठा है तो तभी उठा है जब कि व्यक्ति एक प्रकार से इन सब से दूर हट गया है, या हटे बिना भी अलग हो गया है—यानी अकेला हो गया है। ऐसा अकेलापन क्यों आता है ? मुझे लगता है कि भीतर-ही भीतर एक आग पैदा होती है, जिस में सुख ऐश्वर्य में भी एक दर्द-सा छा जाता है और उसे खोखला बना देता है···भाप अन्ततः है तो पानी ही, लेकिन आन्तरिक ताप के कारण उस का आकार बदल जाता है, वह पानी हो कर भी तृप्तिदायिनी नहीं रहती, और इसीलिए भाप में रखी जाने पर 'पानी में मीन प्यासी' ही हो सकेगी।

मैं अकेला हूँ। भीतर के किस दाह के कारण अकेला ? सुनो। मैं रोगी हूँ, इस समय लगभग अपाहिज हूँ, क्योंकि दूसरे के आसरे रहता हूँ। मेरे जीवन में क्या आपूर्त्तियाँ नहीं हैं ? मैं रोमांस का जाल बुनता हूँ। पर क्या उस के तन्तु नहीं टूट जाते ? फिर मैं दूसरों के लिए महल बनाता हूँ, लेकिन क्या वे दूसरों के होने के कारण अधिक मज़बूत होते हैं ?

मैं सन्ध्या को देखा किया हूँ। ऐसे कई दिन आये हैं, जब मैं घण्टों मुग्ध निष्काम विस्मय में उसे देखा किया हूँ, किसी तरह का कोई भाव मुझ में नहीं

ागा है—देखते रहने का भी नहीं—बच्चा तितली को देखते हुए जिस तरह उस में, उस के उड़ने में नहीं, उस की रंगीनी में; सुकुमारता में नहीं, उस की सम्पूर्णता में, तितलीपन में तन्मय हो जाता है, उसी तरह मुग्ध हो सकने का अवसर मुझे मिला है। फिर मैंने उस की आँखों में बड़ी हल्की-सी बदली छायी देखी है, और उसे ही देखा किया हूँ, और नित्यप्रति आते रहने-वाले उन सिगनल सन्देशों से मुझे उसे देखने में सहारा मिलता रहता है। मैंने देखा है, शाम को चाहे बारिश हो, चाहे पत्थर पड़ें, जब साँझ घिर आती है और दीये बालने का समय होता है, तब सन्ध्या एक अजब विनय का भाव लिये बाहर जा कर खड़ी हो जाती है और सिगनल की प्रतीक्षा करती है। सिगनल के बाद जब सामने की पहाड़ी पर वह मैला-सा स्थिर प्रकाश जाग जाता है, तब वह लौट आती है और बरामदे में आ कर कुछ देर चुप खड़ी रहती है, फिर भीतर आ कर अपने काम में लग जाती है। पर अब तीन दिन से सिगनल बन्द है। सन्ध्या के मन की बात मैं नहीं जानता, लेकिन मेरे लिए कुछ टूट-सा गया है। आठ साल बाद एक दिन वह सिगनल बन्द हो जाय, जब कि आठ साल बाद ही वह मेरे द्वारा पढ़ा गया था, इस में मुझे लगता है कि विधि खास तौर से मेरा अपमान करना चाहती है।

उस दिन हमेशा की भाँति सन्ध्या बाहर खड़ी थी। सिगनल हो कर देखा जाना ऐसी अभ्यस्त दैनिक क्रिया थी कि शायद उधर ध्यान भी नहीं जाता था। मामा ने पुकारा, "सन्ध्या!" तब मुझे एकाएक खयाल आया कि तारे निकल आये हैं, रात घनी हो गयी है और सर्दी खूब हो रही है। मामा की आवाज सुन कर सन्ध्या चुपचाप सिर झुकाये चली गयी। उस के बाद नौकर मुझे *खाना दे गया - सन्ध्या नहीं आयी।*

और अब तीन दिन हो गये हैं, वह सिगनल बन्द है। जब बन्द होने के कारण सोचता हूँ तब आशंका से हृदय भर जाता है। मुझे एक लेखक की कहानी याद आती है, जो नित्य नियम से प्रातःकाल घूमने जाता था और ठीक आठ बजे लौट आता था। एक दिन वह आठ बज के कुछ मिनट तक नहीं लौटा, तब उस की स्त्री रोने लगी—उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि वह मर गया है। और उस का विश्वास ठीक निकला! क्या बलराज को कुछ हो गया है? यह सोच कर मैं सहम जाता हूँ। उस अज्ञात दूरस्थ आदमी को मैं भाई-सा मानने

लग गया हूँ। और सन्ध्या के लिए भी मुझे चिन्ता हो रही है। उस की आँखों में जो बादल छाने लगे हैं, वे कुछ महत्त्व रखते हैं। सन्ध्या मौन है, मैं नहीं जानता कि उस के भीतर कुछ जागा है या नहीं, लेकिन इतना जानता हूँ कि वह वैसी नहीं बनी है कि दो बार प्यार कर सके। और अगर बलराज

मेरा मन बहुत उदास हो गया है। लिखने की इच्छा नहीं होती। क्षमा करना। मन आता है कि अभी उठ कर चल दूँ और बलराज का पता लगा कर लाऊँ। लेकिन वह बारिश का जल-प्लावन, और यह स्वास्थ्य की टूटी हुई नाव ··और वह रोमांस का आलोक। कितनी दूर—कितनी दूर!

तुम्हारा—

4

प्रिय विमल,

लिखना चाहता हूँ, पर लिख नहीं सकूँगा! अपनी डायरी के कुछ पन्ने फाड़ कर भेज रहा हूँ, पढ़ लो!

18 जुलाई। क्या इस साहस को बुद्धिमत्ता कहा जा सकता है? कीच और पानी और सील, छाये हुए बादल, पहाड़ों का उतार चढ़ाव—इस हालत में क्या मुझ रोगी को यह काम लेना चाहिए था? लेकिन और चारा कहाँ है? जिसे जीना है, उस का मार्ग यही है कि क्षण-क्षण पर जीवन को लापरवाही से परे फेंक देने को तैयार रहे। जीवन का मोह ले कर भी कोई जिया है? दिन-भर म रुक-रुक कर मैं छ मील आ सका हूँ, और फिर भी लगता है, टूट गया हूँ! पता नहीं, कल चार मील भी जा पाऊँगा या नहीं। लेकिन जाना तो होगा। मुझे लगता है कि बलराज मेरा भाई है—भाई से बढ़ कर कुछ है, क्योंकि, मैं उसे देखे बिना भी अपना सका हूँ।

मैंने सन्ध्या से कहा था, "कल प्रातःकाल मैं उधर जाना चाहता हूँ, मामा से कह देना।" उस ने कहा, "अच्छा।" सवेरे मैंने देखा, वह तैयार खड़ी है और घोड़े पर आवश्यक सामान भी लदा हुआ है! मैंने पूछा "तुम भी जाओगी?" लेकिन पूछते ही मुझे लगा कि मैंने बिलकुल व्यर्थ यह प्रश्न पूछा है। उस ने उत्तर में कुछ कहा नहीं, केवल इतना ही, 'तुम अकेले जाने लायक नहीं हो।"

और दिन-भर चल कर हमने यहाँ पड़ाव भी कर लिया है। मैं यहाँ बैठा बलराज की बात सोच रहा हूँ, शायद सन्ध्या भी सोच रही होगी—आज सिगनल को बन्द हुए आठ दिन हो गये···मुझे लगता है, जैसे हम लोग ध्रुव-प्रदेश में घिरे हुए किसी उड़ाके को बचाने जा रहे हों, और देर होने से उत्कंठा और चिन्ता बढ़ती है कि क्या वह कल तक बचा रहेगा? क्या मैं झूठमूठ का रोमांस गढ़ रहा हूँ?

19 जुलाई, शाम। पथ में ही शाम हो गयी—लेकिन अब वह स्थान दूर नहीं है। रात में हम वहाँ जा लेंगे। यहाँ पहाड़ी रास्ते के मोड़ पर मुड़ते ही वह घर दीखने लगा, और देखते ही मुझे याद आया, मैं कितना थका हुआ हूँ। अब हम यहाँ बैठे हैं, सन्ध्या कभी उस घर की ओर देखती है, कभी दूसरी पार अपने बाग़ की ओर, और धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाती है। उस ने अभी तक इस घर की या बलराज की कोई बात नहीं की है, मानो उसे सारे रास्ते-भर मेरी ही चिन्ता रही है, मुझ से उसने रह-रह कर पूछा की है कि तबीयत कैसी है··· कभी मुझे लगता है कि उसे इस सारे किस्से में मामूली कौतूहल से अधिक कुछ नहीं है। पर क्या सन्ध्या इतनी शून्य हो सकती है? उस की आँखों में जो मुझे दीखता है, वह क्या मेरी ही सृष्टि है? इस समय साँझ के धुँधलके में उस का गुनगुनाना क्या केवल साँझ के रंगों का ही मुखर रूप है, और उस से अधिक कुछ नहीं?

लेकिन—सन्ध्या की हल्की सी चीख सुन कर मैं देखता हूँ—सिगनल! घर की खिड़की से बिजली की बैटरी का सिगनल, "मैं तुम से प्रेम करता हूँ—मैं तुम से प्रेम करता हूँ—मैं तुम से—" और बस।

हमें जाना चाहिए, अभी चलना चाहिए। मन में संशय का दानव कहता है, शायद उस की बैटरी ख़त्म हो गयी थी और नयी बैटरी की प्रतीक्षा में आठ-नौ दिन बीते, यही तुम्हारी इस सारी बेवकूफी का नतीजा निकलेगा, पर मन नहीं मानता, अभी चलना ही होगा, चाहे पहुँचते-पहुँचते मेरे हृदय का स्पन्दन बन्द हो जाय···सत्य को जानना ही होगा···

24 जुलाई। सत्य—किसे कहते हैं हम सत्य? लेकिन ऊपर का पन्ना

पढता हूँ तो मन कहता है, आखिर तुम सत्य जान ही गये'''जब पूछता हूँ, क्या जान गया, तो उत्तर नही मिलता। सिवाय इस के कि अब यहाँ अच्छा नही हो सकूँगा।

एक अस्वस्थ पीला शरीर, अपनी श्यामता मे सुनहले तारे उलझाये हुए बाल, शान्त चेहरा ''उस अँधेरे घर मे घुस कर जब मैंने बत्ती जलायी तब यही देखा। चारपाई खाली थी, बलराज खिडकी के पास जमीन पर लेटा हुआ था, और उस के हाथ के पास टार्च पडी थी। मैंने लपक कर बलराज का कन्धा पकड कर हिलाया, नब्ज देखी और घबरा कर कहा "है ?" पर सन्ध्या अपने स्थान पर ही ऐसे स्तब्ध, गतिहीन खडी रही, मानो मैं अनुसन्धान कर के जो कुछ पता लगाऊँगा, वह उसे पहले से जानती है, वह सब उस के भीतर घटित हो चुका है ' वह छोटी-सी लडकी जिस ने अभी तक यह नही जाना था कि प्रेम क्या होता है, कैसे बिना प्रयास के प्रेम, मृत्यु, अनन्तता तक का अर्थ मानो ज्ञान का एक ही घूंट पी कर जान गयी और उस मे विचलित नही हुई

आज छ दिन हो गये इस को, लेकिन वे सब दृश्य मेरे आगे ऐसे फिर रहे है, जैसे अभी वह सब-कुछ हो रहा हो फिर भी सोचने को, लिखने को, कुछ नही है। ऐसे भी क्षण होते है, जो जीने के लिए होते है—और उस के बाद याद करने के लिए नही, पीछे देख-देख कर बार-बार फिर जीने के लिए होते हैं'' ऐसा ही क्षण वह था, जब मैं बलराज के सिरहाने झुक कर बैठा हुआ उस के चेहरे की ओर देखता जा रहा था, उस मन शक्ति की लहरो मे बहा जा रहा था, जो इस चिर-रुग्ण क्षीण शरीर को चारपाई से खीच कर खिडकी तक लायी थी एक अज्ञात स्वप्न को अपनी दीप्ति द्वारा खीच बुलाने के लिए, और जब सन्ध्या खिडकी पर खडी पार की ओर टकटकी लगाये देख रही थी'' और वह क्षण तब समाप्त हुआ, जब सन्ध्या ने घूम कर बहुत धीमे स्वर मे पूछा, "अगर मैं टार्च ले लूं, तो चोरी तो न होगी ?"

मैंने टार्च उठा कर उसे दे दी और एक मूक दृष्टि से उसे वह कह देना चाहा जो जबान से नही निकला कि यह तो आठ वर्ष म तुम्हारी ही है '

लेकिन अब टार्च मे क्या ? जीवन मे जो टार्च होती है, रोमास, वह सन्ध्या के लिए बुझ गयी है। अब उसे सिगनल द्वारा कोई बुलाता है तो काल—और उस का सकेत, उस का प्रसाद, क्या है ? शून्य, शून्य, शून्य ''

मनसो

•

जब उस दिन एक विचित्र विस्मय से भर कर अपने झोंपड़े के द्वार पर आते ही मैंने अपने हाथों को हथकड़ियों में बँधे हुए पाया, तब उस अनहोनी, यद्यपि चिर-अपेक्षित घटना के दबाव के बीच में भी, मैंने यह सोचा था कि इस विघ्न द्वारा कुछ पूर्ण हो गया है—कुछ ऐसा जिस का और कोई अन्त मैं सोच ही नहीं पाता था · पर आज इतने दिन बाद, तुम्हारे सम्बन्ध में एक दूरस्थ भाव हृदय में जमा कर जब मैं अपने उस दिन के विचारों को लिखने बैठा हूँ, तब यह सोच-सोच कर मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं कि मैं तुम्हारे सम्बन्ध में जो कुछ लिख रहा हूँ, जो कुछ लिखूंगा, वह कभी तुम नहीं जान पाओगी—तुम्हें कभी यह भी ज्ञात नहीं होगा कि मैंने कभी तुम्हारे बारे में कुछ लिखा—कभी कुछ सोचा भी! मनसो, जब ऐसा है, तब ये सारे विचार, यह सारा एकाग्र चिन्तन, यह लिखना, यह सौन्दर्य को घेर-घेर कर इकट्ठा करने की चेष्टा, यह निरन्तर खोज और यह अप्राप्ति के प्रति विद्रोह—ये सब कितने व्यर्थ हैं!

यदि मैं अपने को विश्वास दिला सकता कि मैं जो लिख रहा हूँ, जो निर्माण कर रहा हूँ, वह कला की वस्तु है और इस लिए मेरे व्यक्तिगत जीवन से अलग है, तब शायद मैं लिख सकता। पर वह झूठ है, मैं जानता हूँ, वह झूठ है! यह कला नहीं है, यह सार्वलौकिक वस्तु नहीं है, यह है मेरी घोर व्यक्तिगत व्यथा, जिसे दुबारा भुगत कर मैं चाह रहा हूँ भूत को जिला लेना, एक धुंधले चित्र में नयी दीप्ति और नया जीवन डाल देना—यह जानते हुए कि वह चेष्टा है व्यर्थ।

मैं विवश हूँ! जब-जब इस चेष्टा की निरर्थकता जान कर मेरे प्राण रो उठते हैं, तभी कविता की दो-एक पंक्तियाँ मेरे मस्तिष्क में फिर जाती हैं, और उन्हें गुनगुनाते हुए मुझे फिर भ्रम

हो जाता है कि एक धुंधला-सा चित्र मेरे आगे खडा है और मेरे स्पर्शमात्र से जी उठेगा, और मैं आत्मविस्मृत हो कर तत्काल आगे हाथ बढ़ा देता हूँ—

स्पिरिट आफ सैडनेस, इन द स्फीयर्स
इज़ देयर ऐन एड ऑफ मार्टल टीयर्स ?
आॅर इज़ देयर स्टिल इन दोज ग्रेट आईज़
दैट लुक ऑफ लोनली हिल्स एंड स्काईज़ ?[1]

मुझे अभी याद है, उन दिनो मे एक दिन, मैं तुम्हे अपने दृष्टिपथ मे जाते देख कर तुम्हारा वह वन्य-सौन्दर्य, तुम्हारी आँखो की अतल नीलिमा देख कर, यह सोच कर रो उठा था कि सौन्दर्य की जिस प्रकार की अनुभूति मैं कर सकता हूँ, जिस के लिए मेरे पास इतने साधन है, उस प्रकार की अनुभूति तुम्हे कभी नही प्राप्त हो सकती, क्योकि वे साधन तुम्हारे पास नही हैं, न होंगे। कालिदास और शेली, रैफेल और रोज़ेटी, हमारी सस्कृति की असख्य सौन्दर्यानुभूतियाँ, तुम्हारे जीवन-क्षितिज से परे हैं और रहेगी, हम तुम्हारे विवश उपासक रहेंगे, किन्तु तुम वही सरल, स्वच्छन्द, अछूती वन्य मनसो ही रह जाओगी···एक ओछी पहाडी झील की तरह, जिस के उथले, किन्तु स्वच्छ शान्त मुकुर मे जहाँ तल के कक्कर-पत्थर दीख जाते हैं, वहाँ आकाश का अबाध विस्तार और शरत्कालीन मेघ-पुजो की रहस्यमयी गति भी प्रतिबिम्बित होती रहती है···

पर यह शायद मेरा मिथ्या दर्प मात्र है ? सम्भवत. तुम मे भी उसी दर्जे की अनुभूति-क्षमता थी, पर उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे नही। नही तो, यह कैसे होता कि उस दिन तुम्हारी आँखें एकाएक ऊपर उठ कर मेरी दृष्टि को ललकार कर पूछती, 'परदेशी, कभी तुमने—?'

1

महेश जिस झोपड़े मे छिप कर अपने दिन बिता रहा था, वह पहाड के उतार मे, एक बडी-सी चट्टान की आड मे बना हुआ था। किसी जमाने में वह शायद गूजरो ने गायें बाँधने के लिए बनाया था, किन्तु बाद मे जब वह ज़मीन

1. ओ विषाद की आत्मा, इस लोक मे मानवीय आँसुओ का कोई अन्त भी है ? अथवा कि उन विशाल आँखों मे अब भी वैसी ही एकाकी पहाड़ियाँ और सूने आकाश झाँकते हैं ?

किसी राजपूत के हाथ मे आ गयी थी, तब उस ने उसी को लीप पोत कर किराये पर देने लायक झोपडे मे परिवर्तित कर दिया था। उस समय उसे एक और राजपूत ने किराये पर लिया हुआ था, और अपने को दीन-मलिन वस्त्रो म छिपाये हुए महेश इसी राजपूत की नौकरी मे यहां रहा करता था—उस की भूमि के रक्षक-मात्र की हैसियत से। उसे काम कुछ नही था, अत यही उस का सब से बडा काम था कि सोचे, क्या करे। वह झोपडे के तग और नीचे दरवाजे म बैठ जाता और कुछ नीचे जाते हुए श्वेत पहाडी पथ की ओर, या तलहटी के पारवाले पहाड के अक म एकस्वर रोते (या गाते या हँसते) हुए छोटे झरन की ओर देखा करता। कभी एकाएक उस की इच्छा होती, कुछ गाये, किन्तु पहाडी गीत न जानने के कारण अपना भेद खुल जाने के डर से वह चुपचाप रह जाता। इसी डर से वह कुछ पढ लिख भी नही सकता था 'वह वही चुपचाप आँखोवाले अन्धे और जबानवाले गूँगे की तरह बैठा रहता, उस के मन म अस्फुट कविता की अधूरी पक्तियाँ दौडा करती, या कहाँ-कहाँ की स्मृतियाँ और उसे क्षोभ होता कि उस का जीवन कितना सूना है, आज ही नही, सदा म कितना सूना रहा है •

हाँ, तो वह उस श्वेत पहाडी पथ की ओर स्थिर दृष्टि से देखा करता था। उस पथ में कुछ नयी बात नही थी, एक साधारण पहाडी पथ था। किन्तु महेश जो उस की ओर इतनी देर देखते-देखते भी नही उकताता था, उस का कारण यह था कि सब ओर हरियाली मे घिरे रहने के कारण उसे चीड वृक्षो की आड म स थोडी देर के लिए निकल कर खो जाने वाले इस पथ की धवलता एक नयेपन का, एक कोमलता या सजीवता का आभास दे जाती थी। महेश को मानो जान पडता था कि वह पथ उसी के जीवन का प्रतिबिम्ब है — प्रतिकूल अवस्थाओ से घिरा हुआ, किन्तु क्षण भर के लिए उस आच्छादन को काट कर प्रकट और देदीप्यमान

कुछ दिनो तक यही एकमात्र कारण था। फिर एक दिन एकाएक महेश ने जाना, जो यह महत्त्वपूर्ण घटनाएँ होती हैं, उन का पूर्वाभास नहीं मिलता, लोकश्रुति चाहे जो कहे। जिस क्षण ने उस के जीवन की स्वीकृतिमय थकान को एक उग्र उत्कण्ठित प्रतीक्षा म बदल दिया, उस का कोई आभास महेश को पहले नहीं मिला।

महेश न जाने क्या क्या सोचते-सोचते थक गया था। उस का सिर मानो घूम रहा था। वह दरवाजे से उठ कर भीतर जाने को ही था कि उस ने देखा—

आकस्मिक अनुभूति घटना-क्रम को उलट-पुलट कर देती है। उस समय महेश की स्मृति में जो चित्र जम गया, वह था केवल दो चौंक कर ऊपर उठी हुई आँखें—किन्तु आँखें कैसी! महेश जानता है कि जिस समय वह पहले-पहल पथ पर दीखी, उस का सिर झुका हुआ था, क्योंकि उस ने एक कन्धे और ग्रीवा-वक्र के ऊपर एक घड़ा टेका हुआ था और दूसरे कन्धे पर उस के सिर को ढँकने वाला काला और बोझल रूमाल लटक रहा था। यह तो बाद में हुआ था कि शायद महेश की कोई आहट पा कर उस ने क्षण में अर्द्ध-भर रुक कर चौंकी हुई दृष्टि से ऊपर देखा था और फिर महेश की उत्कण्ठित दृष्टि के आगे सिमट कर जल्दी से आगे बढ़ गयी थी

वह सब ऐतिहासिक दृष्टि से बिल्कुल ठीक और अनुक्रमिक है, पर—वे आँखें! उस सारे चित्र का केन्द्र वे हैं, वैसे ही जैसे चन्द्रोदय के समय उस की पूर्व-ज्योति, पर्वतों की रजत-रेखा चित्रित करती हुई प्रथम किरणें, खिल उठने वाले बादल, तारों की क्रमश छिप जाने वाली झिलमिल कम्पन, सब ऐतिहासिक क्रमबद्ध सत्य हो कर भी उदय के प्रकाण्ड मुग्धकारी सत्य के आगे कुछ नहीं रहते—उस समय नहीं रहते, केवल बाद में धीरे धीरे चोरों की तरह चित्र में अपने-अपने स्थान पर आ विराजते हैं

आँखें देखती हैं, मन परखता है, वाणी कहती है। इन तीनों की शक्तियाँ अलग-अलग क्षमता रखती हैं—अत उस की आँखों का वर्णन ऐसा करना कि दूसरा उन्हें चित्रित कर सके, असम्भव है। बर्न-जोन्स के चित्र देखने से जान पड़ता है, उस के हृदय में ऐसी ही किन्हीं आँखों ने स्थान पाया होगा, जिन्हें चित्रित करने में उस ने जीवन बिता दिया, किन्तु यदि मनसो की आँखें उस ने देखी होतीं···तो वह अवश्य कह उठता, यह है वह अवर्ण्य सत्य जिसे मैं नहीं पाया हूँ ··

महेश ने सोचा, उस का जीवन उतना सूना नहीं है जितना उस ने समझा था। उस के जीवन में प्रकट हुई एक नयी उत्कण्ठा, अस्तित्वमात्र के प्रति एक ममत्व, एक आग्रह, एक प्यास· उस के दिन पहले की अपेक्षा छोटे हो गए—

कितने छोटे और कितने सरल ! एक क्षण तक प्रतीक्षा, उस के बाद उस क्षण का चिन्तन, बस यही तो थी उस की चर्या···

पर ईश्वर की बुद्धिमत्ता का (यद्यपि स्वयं ईश्वरवादी इस का घोर विरोध करेंगे !) सब से अच्छा प्रमाण है मानव हृदय का असन्तोष—तृप्ति की असम्भाविता। यदि एक बार पा कर ही हम सन्तुष्ट हो जाते, तो कुछ दिन में संसार जड हो कर नष्ट हो जाता। निरन्तर भूख, निरन्तर माँग निरन्तर प्राप्ति, निरन्तर वृद्धिगत भूख, यही जीवन का अनिवार्य और नितान्त आवश्यक क्रम है···

2

वह नित्यक्रम हो गया था।

नित्य ही वह प्रतीक्षा, वह आकस्मिक चौंकी हुई ऊपर उठी हुई दृष्टि, वह आँखों का मिलन, वह क्षणिक क्या ? एक अनैच्छिक किन्तु सचेतन स्थिर मुद्रा, उस के बाद एक त्वरगति कँपकँपी-सी और काले रूमाल का अवगुण्ठन और कन्धे पर रखे हुए घडे की ओट। कभी शायद वेणी में बंधे हुए छोटे-से घुंघरू का बहुत हल्का-सा रुनझुन।

यह सब अभी तक आकस्मिक ही था, किन्तु शायद नित्य होने के कारण इस की आकस्मिकता पुरानी हो गयी थी। तभी तो, उस दिन जब महेश अपने अभ्यस्त स्थान पर खडा खडा एक विचारपूर्ण प्रतीक्षा में उलझा हुआ था, तब उस के मन में एक दबा हुआ-सा असन्तोष था—कि इस क्रम में कोई परिवर्तन क्यों नहीं होता। वह अपने सामने की पर्वत माला, स्वच्छ आकाश, जिस की स्वच्छता को बादल का एक छोटा सा टुकडा मानो अधिक मुखर कर रहा था, उस में उडते हुए एक विशालकाय गरुड, सामने के छोटे-से झरने और चीडों की छाया में जडे हुए उस पथ के टुकडे को देख कर, एक विचित्र आत्म-विस्मृति के भाव मनसो को सम्बोधित करके कह रहा था, 'यह सारी पर्वत माला तुम्हारी है, यह सारा प्रदेश, यह सारा बिखरा सौन्दर्य ! मेरे लिए है केवल यह छोटा-सा द्वार, यह निर्जन प्रान्त का छोटा-सा टुकडा, वह एक रेखा जो पथ की धवल रेतीली धूल पर तुम्हारे पैरों की छाप से बन जाती है और जिसे तुम्हारे कन्धे पर के घडे से छलका हुआ पानी बूंद-बूंद कर के धो जाता है ··मैं भागा हुआ

कैदी तुम्हारी इस विशाल सुन्दर सृष्टि मे आ कर भी अपनी उस छोटी-सी कैद मे से नही भाग पाता ...'

तभी वह आयी। वह नित्यवाला क्रम फिर हुआ। महेश एक विस्मृति से जाग कर, दूसरी विस्मृति मे खो गया और फिर क्षण ही भर मे जाग पडा। उस के मन मे अपने ही विचार के उत्तर मे एक प्रश्न उठा, 'क्यों नही भाग पाता ?' और वह अकारण खिलखिला कर हँस पडा। उस ने स्वय नही जाना—कभी नही, कभी भी नही जाना—कि क्यो।

उस ने घूम कर, रूमाल उठा कर, महेश की ओर देखा। और उस की हँसी का कारण न जान कर भी, उस की बिलकुल स्वच्छ सरलता का अनुभव कर के विवश हो कर मुस्करा दी।

महेश ने किसी तरह पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है ?" यह उसे प्रश्न पूछने के बाद ध्यान आया कि उस का हृदय किस अनभ्यस्त गति से धडक रहा है।

उस ने कहा, "मनसो।" उस की आवाज़ मे रस से बढ कर कुछ एक अजीब कम्पन-सा था, जो वय सन्धि की भर्रायी हुई ध्वनि के सम्मिश्रण से और अधिक आकर्षक हो गया था।

वह आगे बढने लगी। सस्कृति की परिचय-प्रथा के अभ्यस्त महेश ने शायद आशा की थी कि मनसो अपना नाम बता कर पूछेगी, 'और तुम्हारा ?' पर जब वैसा नही हुआ, तो महेश ने कहा, "मेरा नाम है दाता।" दाता ही वह नाम था जिस की आड मे उस ने उस समय अपने को छिपाया हुआ था।

महेश ने जब फिर घूम कर देखा, तब अभी उस की मुस्कराहट गयी नही थी। वह थोडी देर स्थिर दृष्टि से महेश की ओर देखती रही—इतनी स्थिर दृष्टि से कि महेश स्तब्ध हो कर अपने दिल की धडकन गिनने लगा—एक, दो, तीन, चार ...फिर वह खिलखिला कर हँस पडी, बोली, "मुझे क्या ?" और जल्दी से घूम कर, रूमाल से अपना मुँह छिपा कर, पहले से अधिक मुखर स्वर से घुँघरू रुनझुना कर, चली गयी।

कुछ देर तक मनसो के उस प्रश्न की कोई प्रतिक्रिया नही हुई। किन्तु उस के बाद ही वह आयी, एक बवण्डर की तरह, जो इस नयी घटना की नूतनता को भी उडा ले गया और हूल-हूल कर एक ही प्रश्न उसके कानो मे, मस्तिष्क मे, समूचे शरीर, समूचे ससार मे ध्वनित करने लगा—मुझे क्या ?

मुझे क्या ? मुझे क्या ?

हां, तुम्हें क्या ! महेश कौन है, या दाता कौन है, किस संसार का वासी है, किस संस्कृति का प्रतिनिधि, तुम्हें क्या ! किस का शत्रु है, किस का मित्र, किस से लड़ता है, किस से भागता है; किस का सखा है, किस का प्रतिस्पर्द्धी, किस का विरोधी, किस का प्रेमी, तुम्हें क्या ! कविता से तुम्हें क्या, कला से तुम्हें क्या, बर्न जोन्स से तुम्हें क्या ! अवर्ण्य आँखों और दिव्य सौन्दर्यानुभूति से भी तुम्हें क्या !

पर क्यों नहीं तुम्हें कुछ ? क्यों, कैसे, किस अधिकार से तुम जीवन की पुकार से परे, सौन्दर्य की अनुभूति से परे, आन्तरिक न्यूनता की प्यासी रिक्तता से परे ? तुम्हें जानना होगा, मानना होगा, झुकना होगा उस की प्रेरणा के आगे, उसी प्रेरणा के जो···

जो क्या ?

जो हमारे विश्व के स्थायित्व का मूल है, जो उसे बनाये रखता ही नहीं; चलाता भी है, वह अप्रतिहत आकर्षण···

महेश धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाने लगा और सोचने लगा कि क्या कभी मनसो के जीवन में ऐसा क्षण नहीं आयेगा जब वह लौट कर देखेगी, नहीं किसी वस्तु की कमी पा कर परिताप करेगी कि क्यों नहीं, जब समय था तब उस ने स्मृतियों का भंडार भर लिया···फिर उसे ध्यान आया, क्या वही एक है जो उस भंडार को भर सकता है ··क्या उसी की, उस भागे हुए कैदी की स्मृति ही एक वस्तु है जो मनसो के जीवन में मूल्यवान् हो सकती है, और यह विराट् सौन्दर्य, ये प्रकट और अप्रकट निधियाँ उस के लिए कुछ भी नहीं रखती— एक स्मृति-भर भी नहीं ?

उस के बाद तीन-चार दिन तक मनसो उस पथ पर से गयी या नहीं, महेश ने नहीं जाना। जानने की चेष्टा ही नहीं की। जड़वत् झोपड़े के मध्य में, द्वार की ओर पीठ कर के, बैठा रहा, विशेषतः मनसो के जाने के समय के आसपास।

3

साँझ घिरती आ रही थी। पर्वत-शृंगों से घिरे हुए उस बड़े प्याले में

जिस मे पहाडी झरना बहता था, अन्धकार भर गया था और बढ रहा था। केवल ऊँची चोटियों पर कहीं-कहीं एक रक्तिम-सा प्रकाश था, जो शीघ्र उस बढते हुए सजीव अन्धकार मे घुलता-सा जा रहा था। प्रकृति मानो थक कर सोने की तैयारी कर रही थी, केवल उस की साँस की तरह चीडो मे वायु की सर-सर ध्वनि अनवरत होती जा रही थी···

महेश का ध्यान उधर नही था। वह एक चोटी से कुछ ही उतर कर, एक ऊँचे पत्थर पर खिन्न-मन बैठा हुआ था। पहला क्रम टूट जाने से उस का यही क्रम हो गया था—नित्य ही साँझ को यहाँ आ कर बैठ जाता, और अँधेरा हो आने पर धीरे-धीरे उतर कर आ जाता। इस मे सुख नही था, थी एक कुढन, पर फिर भी वह नित्य ऐसा ही करता था, ऐसा करना अपने झोपडे के द्वार पर प्रतीक्षा करने से अधिक सहल पाता था···

बैठे-बैठे वह शून्य दृष्टि से कुछ दूर नीचे के एक झोपडे की ओर देख रहा था। उस ने देखा, वहाँ से कोई निकल कर धीरे-धीरे उस की ओर आ रहा है, कमर झुकाये, मानो कुछ ढूँढता आ रहा हो। उस धुँधलके मे वह पहचान नही सका कि कौन है, किन्तु समीप आ कर जब उस ने पूछा, "यहाँ क्यो बैठे हो ?" तब महेश चौंक उठा, मनसो ! वह बिना उत्तर दिये ही मनसो के मुख की ओर देखने लगा। मनसो ने फिर कहा, "यहाँ साँझ को मत बैठा करो, इधर रीछ आते हैं।"

महेश की बडी उत्कट इच्छा हुई कि कह दे, 'तुम्हें क्या ?' पर वह कह नही पाया। अपना क्षोभ निकाल देने का इतना सरल उपाय वह न जाने क्यो स्वीकार नही कर सका। उस ने उदास-से स्वर मे पूछा, "तुम यहाँ क्या कर रही हो ?"

"एक बूटी ढूँढ रही हूँ।"

"कैसी बूटी ?"

"दवाई है।" कह कर उस ने अपने हाथ मे पकडी हुई एक-दो फुनगियाँ महेश को दिखा दी।

"लाओ, मैं भी देखूँ—" कह कर महेश ने हाथ बढाया, तो वह पलट कर हँस कर भागती हुई बोली, "क्यो, तुम्हें क्या हुआ है ?"

क्षण ही भर मे वह झोपडे के भीतर जा पहुँची। तब महेश अपने-आप को

कोसने लगा कि क्यों उस ने इतनी शीघ्र हार मान ली और इतनी बुरी तरह पिटा ! वह जान-बूझ कर बहुत रात गये तक वहीं बैठा रहा, किन्तु न तो रीछ ही आया, और न—हाँ, इस की भी एक छिपी-छिपी आशा थी—न मनसो ने ही झोपड़े के बाहर आ कर देखा कि वह चला गया है या अभी बैठा है। झोपड़े में जो धीमा प्रकाश था, वह जब बुझ गया, तब महेश धीरे-धीरे सिर झुकाये उतर आया।

महेश ने निश्चय कर लिया था कि वह अब फिर उधर नहीं देखेगा। वह झोपड़े में बैठा, ज्यों-ज्यों मनसो के आने का समय निकट आता जाता था, त्यों-त्यों अधिक निश्चयात्मक भाव से अपने को कहे जा रहा था, 'नहीं देखूँगा, नहीं देखूँगा, नहीं देखूँगा · ' और उसे लग रहा था, सामनेवाले पहाड़ी झरने की ध्वनि भी, मानो उसी निश्चय की आवृत्ति साथ-साथ ताल देते-देते, अधिकाधिक तीखी होती जा रही है···

जब वह समय आया और बीत गया, और महेश अपने स्थान से हिला नहीं, तब वह एकाएक विजय के उल्लास से फूल उठा—कितनी बार ऐसा होता है कि ठीक पराजय के समय ही हम विजय के उल्लास से भरते हैं ! और उठ कर सीधा द्वार की ओर गया। वह तो चली गयी होगी, पर शायद उस के पदचिह्नों को धोनेवाली बूँदों की रेखा बनी होगी, यह सोचते हुए उस ने झाँक कर देखा।

पथ के किनारे पर बनी हुई मेड़ पर वह बैठी थी, गोद में घड़ा रखे, घड़े के मुँह पर दोनों हाथ रख कर उन पर ठोढ़ी टेके, स्थिर दृष्टि से उस की ओर देख रही थी।

क्या वह थकी थी ? यदि ऐसा, तो क्यों महेश से आँखें चार होते ही सकपका कर उठी और घड़ा उठा कर जल्दी से चीड़ों की ओट हो गयी ? महेश को ऐसा अनुभव हुआ, उस की विजय और भी पुष्ट हो गयी है—मानो उस ने कोई चोर पकड़ लिया है। वह फिर खिलखिला कर हँस पड़ा। जब वह लौटा, तब उस के मन में कविता की एक पंक्ति सहसा गूँज उठी, 'ऐसे भी क्या दिन होंगे जब स्मृति भी नष्ट हो चुकी होगी ?' किन्तु कविता की पंक्ति में जो आशंका, जो संशय-भाव था, वह उस के मन में नहीं जागा, उस के मन में प्रश्न का उत्तर बिलकुल सीधा, बिलकुल निश्चयात्मक था···

पर उस के बाद, जब महेश नित्य ही पूर्ववत् झोपडे के द्वार पर बैठ कर प्रतीक्षा करने लगा, और मनसो नहीं आयी, तब धीरे-धीरे उसे ज्ञान हुआ कि जिसे वह अपनी विजय समझे था, वह वास्तव मे उस की पराजय, घोर आत्म-समर्पण था। विजय मनसो की ही थी, और उसी की रहेगी।

वह यह जानने की जितनी ही कोशिश करता कि मनसो क्यों नही आयी, उतनी ही उस की उलझन बढती जाती। एक ही कारण उसे उचित जान पडता था—कि वह जान-बूझकर नही आयी, किन्तु इसी को स्वीकार करने के विरुद्ध उस की समूची आत्मा विद्रोह कर उठती थी। यदि वह उसे बिलकुल महत्त्व नही देती, उस की इतनी उपेक्षा है, तब वह उसे इतना महत्त्व क्यो देने लगी कि केवल मात्र उसी के कारण, उसी को चिढाने के लिए, उस पथ पर से आना छोड दे? यह तो केवल तब हो सकता है जब—जब कुछ नही ··

एकाएक महेश को ध्यान आया, मनसो पानी भर कर ले जाती है, पर वह उस लौटती ही देखता है, आती कभी नही देखता। इस का यही कारण हो सकता है कि वह पानी लेने किसी दूसरे पथ से जाती थी, अब वापस उधर से ही लौटने लगी है। पर क्यो? क्यो?

जिस समय महेश ने यह सोचा, उस समय बिलकुल सवेरा था। पर यह उलझन इतनी गौरवान्वित हो गयी थी, उस का सुलझाना इतना नितान्त आवश्यक, कि महेश उसी समय निकल कर मनसो के झोपडे की ओर चल पडा—यह देखने के लिए कि वह किधर से जाती है ··

सूर्य की पहली किरण नही तो किरणो का पहला पुज अवश्य मनसो की झोपडी को छूता था। जिस समय महेश उस के पास पहुँचा, उस समय समूची झोपडी उस कोमल धूप मे नहा रही थी, पर धूप के रग मे अभी तक वह स्निग्ध लाली थी जो सन्ध्या की धूप मे देर तक रहती है, किन्तु प्रात काल मे *अत्यन्त क्षणस्थायी होती है*

महेश ठिठक गया।

मनसो अपनी झोपडी के बाहर एक काली गाय को दुह रही थी। काली घघरी मे आवृत घुटनो से टीन का कमण्डल दबाये, काले रूमाल मे छिपे हुए सिर को गाय के पेट पर टेके, महेश की ओर पीठ किये वह बैठी थी, और दूध दुहते हाथो की गति के साथ उस की वेणी के सिरे पर बँधा हुआ लोलक

धीरे-धीरे इधर-उधर झूल जाता था।

उसे पता लग गया कि कोई उसे देख रहा है, क्योंकि उस ने कलाई से सिर का रूमाल एक ओर हटाकर कनखियों से उधर देखा और महेश को देख कर सिर को गाय के पेट में और भी छिपा कर दूध दुहती रही—महेश को ऐसा लगा कि जैसे सदियों तक दुहती रही।

थोड़ी देर बाद महेश आगे बढ़ गया—सिर झुकाये और धीरे-धीरे, और काफी दूर चला गया। एक चोटी पर पहुँच कर, चारों ओर देखकर धप से नीचे बैठ गया। और उस का मन-पक्षी जो अब तक आकाश में उड़ रहा था, उतरता नहीं था, अब उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती हुई गति से नीचे गिरने लगा, जैसे गुरुत्वाकर्षण के कारण पत्थर।

महेश सोचने लगा कि वह भी मनसो को अपनी कल्पना में एक विशेष स्थान दे रहा है, वह क्या भूल नहीं कर रहा है? यदि वह चाहता है, मनसो उस के वास्तविक जीवन का अंश हो, तो क्यों वह उसे कल्पना की, देवोचित आराधना की, अधिकाधिक ऊँची सीढ़ी पर चढ़ाये जा रहा है? और यदि मनसो कल्पना की ही वस्तु है, उस के भाव-संसार का कल्पना-सत्य, तो क्यों वह उसे खींच खींच कर यथार्थता के घेरे में बाँधने की चेष्टा कर रहा है?

वह अपने को समझाने लगा। मनसो कुछ नहीं है। जो वास्तविकता है और जो उस की कल्पित मनसो है, उन में कुछ भी साम्य नहीं है। उस की मनसो एक वातावरण है, एक स्वप्न, एक छाया जिस की अस्पृश्यता ही उस का सौन्दर्य और आकर्षण है। मनसो बाहर कहीं नहीं, उस के सामने नहीं, उस में हृदयस्थ एक चित्र है, बस।

और यह क्या है जो सामने है? ये बर्न जोन्स के स्वप्नों से भरी रहस्य-मयी आँखें, यह अमा-निशा की स्वर्गंगा के समान काले अम्बर पर चमकता हुआ वेणी-सूत्र, यह···

कुछ नहीं। बर्न जोन्स कहाँ है? उस से पूछो, उस ने कभी बर्न जोन्स का नाम सुना है? 'बर्न जोन्स के चित्र-सी आँखें'—यह वर्णन क्या उस के लिए कुछ भी अभिप्राय रखता है? स्वर्गंगा उस के लिए क्या है?

एक बड़े पीड़ित विस्मय में महेश को यह ज्ञान हुआ कि उस की मनो-गतियाँ बिलकुल भिन्न तलों पर चलती हैं, महेश के लिए जो बाह्य संसार

का सारा अभिप्राय लिये रहते हैं, वे मनसो के लिए कुछ भी महत्त्व नही रखते, कुछ भी अस्तित्व तक नही ! और बढते हुए विस्मय, बढती हुई पीडा मे वह अपने को बताने लगा कि किसी भी वस्तु का सौन्दर्य वह मनसो के साथ नही बँटा सकता—उस मनसो के साथ जो उस के मन मे नही, अपने घर मे बसती है ! ओफ, ससार की कोई भी (उस की दृष्टि मे) अच्छी, सुन्दर वस्तु ऐसी नही है, जिसे देख कर, सुख पाकर वह मनसो की आँखो की ओर देखे और उन मे अपने सुख का प्रतिबिम्ब पा सके ! क्या हुआ यदि वे बर्न जोन्स के स्वप्न की आँखें हैं, क्या हुआ•••

महेश की आँखो मे आँसू आ गए—इतना आकस्मिक, इतना अभूतपूर्व था यह ज्ञान•••

जब आदमी को चोट लगती है, तब उस की ओर ध्यान देने मे पीडा अधिक होती है, पर यह जानते हुए भी उस का ध्यान बार-बार उधर ही जाता है। महेश भी रह-रह कर अपने को कहने लगा, 'वह दूध दुहती है, पानी लाती है, गायें चराती है, बूटियाँ बीनती है, पानी पीती है, सो जाती है। इस से बाहर उस का कुछ नही, इस के आगे का ससार न उसने देखा है, न देख सकती है, न देखने की इच्छा करती है। इस से बाहर उस की तृष्णा जाती ही नही और इस से कभी उकताती नही कि बाहर जाने को उत्सुक हो।'

वह सोचने लगा, चाहने लगा कि मनसो मे इस सब के अतिरिक्त भी कुछ होता, उस की आँखो मे इन पहाडो और आकाश के सूनेपन की छाया के साथ ही कुछ और भी छाया से बढ कर; उस सूनेपन की अनुभूति नही, तो उसे अनुभव करने का सामर्थ्य

ये विचार उस को जितने ही अप्रिय लगते, उतना ही वह और उन्हे सोचता और जितना अधिक वह सोचता, उतना ही उस का विक्षोभ बढता जाता, भरी आँखें बहती जाती ·

तब एक क्षण आया जब वह आगे नही सोच सका। वह उठा और वापस उतरने लगा।

मनसो की झोपडी के पास आने तक उस की पीडा की तीक्ष्णता बहुत-कुछ धीमी पड गयी थी। उतरते-उतरते जब बीच-बीच मे वह उस झोपडी की ओर देखता, तब उस मे किंचित् विषण्ण शून्य-भाव के अतिरिक्त कुछ नहीं

होता था। किन्तु झोपडी के पास आते ही, उस के पुराने सब सशय, वे सारी दु:खद आशकाएँ पुन: जाग उठी।

झोपडी के बाहर खुली धूप मे घुटने टेक कर बैठी हुई मनसो बछिया को नहला रही थी। उसकी मुद्रा में एक तन्मयता का, एक दिव्य आर्जव का भाव था, किन्तु उस के चेहरे पर, उसकी आँखो मे थी वही गहरी रहस्यमयी हल्की मुस्कान…

महेश उस के बहुत समीप पहुँच गया था। उस ने शायद अपने विचारो के दबाव के कारण ही सहसा पूछा, "मनसो, तुम थक नही जाती ?" मनसो ने चौंक कर केवल आँखें उठा कर महेश के मुख की ओर देखा—वे आँखें और उन की वह उठती हुई चितवन !—और एक दूरस्थ विस्मय के स्वर मे कहा, "नही तो—काहे से ?"

महेश जैसे एकाएक बुझ गया। थकना काहे से, यह भी नही जानती ! और नीचे उतर गया, एक बार लौट कर भी नही देखा।

महेश मे कुछ बदल गया। वह झोपडी के बाहर नही निकलता, उस के द्वार पर खडा रहता, किन्तु किसी प्रतीक्षा मे नही, किसी आशा मे नही, किसी उल्लास मे नही। केवल वही पडा रहने के लिए पडा रहता।

और मनसो मे भी कुछ परिवर्तन हो गया था—या कम से कम उस की चर्या म अवश्य हो गया था। जहाँ उस ने महेश के झोपडे के सामने जाना छोड ही दिया था, वहाँ अब वह दो बार जाने लगी थी—पानी लेने भी और ले कर वापस भी।

यह बात महेश को पहले ही दिन नही ज्ञात हुई। उस का मस्तिष्क इतना निकम्मा हो गया था कि दो-तीन दिन तक मनसो को दो-दो बार देख कर भी उसे किसी परिवर्तन का ध्यान नही हुआ। किन्तु धीरे-धीरे यह बात उस के मन म स्थान पाने लगी और एक दिन सहसा उसे पूर्ण ज्ञान हो गया कि यह परिवर्तन हो गया है, अकस्मात् एक दिन के लिए नही हुआ, दैनिक क्रम बन गया है। पर इस से उसे किंचिन्मात्र भी आनन्द नहीं हुआ। अब मनसो दो बार उधर से जा कर भी उस स्थान-विशेष पर रुकती नही थी, बिजली की गति से मुस्कराती नही थी। इस के विपरीत महेश को लगता था, वह जान-बूझ कर सिर अधिक झुका लेती है, आँखें अधिक यत्न से पथ पर जमाये रहती

है, घडे को उस कन्धे पर रखती है, जो महेश के सामने होता है, और रूमाल भी दूसरे कन्धे पर न डाल कर उसी कन्धे पर डालती है, ताकि किसी तरह वायु की सहायता पा कर भी महेश उस के मुख को न देख पाये और महेश को *समझ नही आता कि यह सब क्यो*

कई दिन बाद एक दिन, जब मनसो पानी ले कर लौट गयी, तब घडे की टपकी हुई बूंद की रेखा देखते-देखते महेश को ध्यान आया कि यह सब शायद उस की गलती है। शायद उसी म कोई त्रुटि है, कोई अक्षमता, शायद मनसो उस से किसी वस्तु की, किसी भाव की, किसी चेष्टा की आशा करती है। शायद वह किसी चीज़ की प्रतीक्षा, किसी घटना की इच्छा करती है, और महेश मे उस की न्यूनता पाती है। एक सशय नाचने लगा उस के हृदय मे कि यदि उसमे वह मौलिक अक्षमता न होती तो शायद यह सारी क्रिया किसी नयेपन की ओर बढती, कुछ फलित होती, 'कुछ' बन सकती ! कितनी भयकर थी वह कल्पना, कि मनसो प्राप्य, स्पृश्य, ज्ञेय थी पर उसी की किसी कमी के कारण प्राप्त, स्पृष्ट, ज्ञात नही हो पायी

उस समय वह कुछ नही कर सकता था, अत उस ने *निश्चय किया कि* अगले दिन जब मनसो उधर से जायेगी, तब वह अवश्य उस से पूछेगा, पूछेगा कि···

महेश ने पुकारा, "मनसो !"

आवाज़ से वह चौंकी अवश्य, किन्तु रुकी नही, न उस ने ऊपर ही देखा। प्रत्युत कुछ अधिक सिर झुका कर, कुछ अधिक तीव्र गति से, आगे निकल गयी। चीड के पेडो की ओट हो गयी।

महेश जडवत् उस पथ की ओर देखता रह गया, जिस पर आज अभी वह बूंदो की रेखा भी नही थी।

जब मनसो पानी भर कर लौट कर आयी, तब भी महेश वैसे ही बैठा था, मनसो को देख कर ही उसकी मूर्छा टूटी। उस ने फिर पुकारा, *"मनसो !"* किन्तु अब की बार वह परिवर्तन भी नही, *सम्पूर्ण उपेक्षा, मानो* उस ने पुकारा ही नही था, यद्यपि उस के स्वर म था कितना विपण्ण आग्रह !

जब वह चली गयी, तब महेश सोचने लगा, क्यों नही मैंने पथ पर जा कर उसे बुलाया ? पर तब उसके लिए बहुत देर हो चुकी थी। इस ध्यान के साथ

। साथ उस ने सोचा, यदि वह तब भी न बोलता तो !

तो क्या ? उचित ही होता !

ज्ञेय ? प्राप्य ? स्पृश्य ! मनसो, मैं तुम्हें नष्ट कर... [illegible]
हीं सकता…

और इस व्यथित ज्ञान में वह अपनी असलियत को भूल कर, अपने
कमरे को भूल कर, अपने-आप को भूल कर, दाता में महेश हो कर एक विह्वल,
कम्पित किन्तु बहुत ऊँचे और भेदक स्वर से गाने लगा…

4

बहुत सवेरे ही उस झरने का पता लगा कर, जहाँ से मनसो पानी लेने
जाती थी, महेश उस के पास जा बैठा था और बैठा हुआ था। अनेकों विचार
उस के मन में उठते थे और लीन हो जाते थे, किन्तु सभी का सम्बन्ध किसी न
किसी प्रकार मनसो से था और उस के आकर्षण की विह्वलता से

आज न जाने क्यों उस का मन अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ और प्रखर हो
गया था—अधिक अलगाव से प्रत्येक बात पर विचार कर सकता था। वह
सोच रहा था कि इस आकर्षण का कारण, औचित्य और फल चाहे जो हो,
एक बात अवश्य थी कि वह अब तक मनसो के प्रति अन्याय करता आया
था—और वह अन्याय आकर्षण के—क्या वह उसे प्रेम कह सकता है ?—
कारण नहीं, केवल स्वार्थ के कारण। मनसो क्या सोचती है, क्या सोच सकती
है इस पर उस ने विचार नहीं किया, वह अपना ही पक्ष सोचता रहा है,
और मनसो का पक्ष अवश्यमेव विचारणीय है, इस का प्रमाण है उस का कल
का बर्ताव। कल ही क्यों, उस का प्रत्येक कार्य, प्रत्येक शब्द। मनसो कुछ हो,
असभ्य हो, जंगली हो, अपढ़ हो, है स्त्री और इस लिए स्त्री की स्वाभाविक
सहज बुद्धि रखती है और स्त्री-जीवन की माँगों का अनुभव करती है। महेश
क्यों सदा उसे भुला भुला कर, अपनी ही बुद्धि के अभिमान पर, अपनी माँगों
की पूर्ति खोजता आया है ? क्या नहीं देख पाया कि मनसो का प्रत्येक शब्द
एक ललकार है, जो प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष को करती है, वह पुरुष चाहे
वांछित हो, चाहे अवांछित, सगो बनने के योग्य हो अथवा अयोग्य ? बल्कि वह
ललकार ही तो कसौटी है जिस पर वह वांछनीयता या योग्यता परखती है…

इस चिन्ता में वह इतना लीन था कि उस ने मनसो को आते हुए नहीं देखा। मनसो ने आ कर, उसे वहाँ बैठे देख कर, अपना घड़ा झरने की धार के नीचे टिका दिया था और दबे पाँव उस के कुछ ही दूर तक आ कर भूमि पर बैठ गयी थी। तब भी महेश ने उसे नही देखा। वह चौंका तब, जब मनसो ने अपनी भर्रायी हुई-सी आवाज मे पूछा—"परदेसी, तुम इतने दुखी क्यो दीखते हो ?"

महेश ने एक बार आँख भर कर उस की ओर देखा। वह उस दृष्टि के आगे झिझकी नही, स्थिर हो कर महेश की आँखो म आँखें मिलाये रही। महेश ने अनुभव किया, उस मे कही परिताप का-सा भाव है, और उस से उत्पन्न एक कोमलता।

'इतने दुखी क्या दीखते हो, परदेसी ?"

हाँ, क्यो ? महेश अपने-आप मे पूछता है। क्या इस लिए कि मनसो उस की ओर देखती नही ? महेश चाहता है, अपने को यह विश्वास दिला ले ! यद्यपि वह झूठ है ! तब क्यो ? क्या इस लिए कि मनसो उस के प्रति कठोरता का व्यवहार करती है ? हाँ, यद्यपि महेश जानता है वह भी झूठ है। तब क्या इस लिए कि महेश का निर्माण ही दुख के लिए हुआ है ? हाँ हाँ हाँ ! पर यह झूठ भी दूसरे दोनो की अपेक्षा अधिक समुचित नही है

तब महेश की बुद्धि से अधिक गहरी कोई चेतना, उस की प्रज्ञा से अधिक विशाल कोई सत्य उस के भीतर जागता है, और उस के मुख से उत्तर दिलाता है, 'हाँ, इस लिए कि दुखी दीखना बहुत सहज है -'

और एक विस्मय म महेश सोचता है, मनसो ने इतनी गहरी अनुभूति, इतनी सर्वग्राही विदग्धता कहाँ पायी जो उस की चितवन मे व्यक्त हो रही है ? उस मे इतनी समवेदना, इतनी सहानुभूति, इतना विस्तीर्ण और सम्पूर्ण भावैक्य है महेश के साथ महेश को ऐसा लगता है उस का अस्तित्व ही मिट गया है, वह मनसो के भाव ससार का एक अश हो गया है, मनसो के किसी स्वप्न का एक परदा—उस मनसो के जो स्वय आज तक उस के स्वप्न का एक परदा थी। उस की अनुभूति, उस की चेतना, उस का अस्तित्व-मात्र मानो कुचल कर उस मे से निष्कासित कर लिया जाता है, और वह मनसो स एक सम्पूर्ण एकान्त, आत्यन्तिक एकत्व प्राप्त कर लेता है, कैवल्य ''

के प्रत्येक कर्म और प्रत्येक भूल की तर्क-सगत सफाई। पर यह छोटी-सी घटना अभी तक तर्क के फन्दे मे नही फँसती—क्या इसी लिए कि वह घटना होने का गौरव पा ही नही सकी, एक शक्ति का बीज-मात्र रह गयी जो अकुरित नही हुआ, और जो इस लिए तर्क से सिद्ध नही हो सकता ?

एक स्मृति बची है। मैंने अनेको बार, अनेको दिन प्यार किया है। वे सारे प्रेम एक एक कर के खो गये है, एक बढती हुई प्रणय-भूख के दबाव के आगे। किन्तु वह एक प्यार—वह क्या प्यार था—अचल बना रहा है, एक विचित्र, उग्र लालसामयी, किन्तु फिर भी भावुकता-भरी स्मृति। क्या इसी-लिए कि उसे स्वप्न मे भी पूर्ति नही मिली—कि मैं उस की उस एक वाक्य द्वारा हत्या नही कर पाया जो कि कहे जाने के पूर्व इतना विशाल, इतना अर्थपूर्ण, इतना अतिशय गौरवान्वित होता है, और कहे जाने के बाद ही इतना निरर्थक—'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ ?'

कुछ हो, वह स्मृति बची है, एक सजीव कम्पन-युक्त भर्रायी हुई आवाज पूछती है, 'तुम इतने दुःखी क्यो दीखते हो ?' और दो रहस्य-भरी आँखें असीम समवेदना, असीम सहानुभूति, असीम आत्यन्तिक भावैक्य और असीम अस्पृश्यता की दृष्टि मे स्त्री-हृदय की चिरन्तन ललकार करती है—'तुमने कभी प्यार किया है ?'

'कभी किया है ? कभी किया है ? कभी किया है ?'

पुलिस की सीटी

•

सीटी बजी।

सत्य सड़क पर चलता-चलता एकाएक रुक गया, स्तब्ध, बिल्कुल निश्चेष्ट हो कर खड़ा रह गया।

सीटी फिर बजी।

सत्य के हाथ पैर काँपने लगे, टाँगें लड़खड़ा-सी गयीं, उसे जान पड़ा, मानो अभी संसार अँधेरा हो जायेगा, पृथ्वी स्थानच्युत हो जायेगी-- उस ने सहारे के लिए हाथ आगे बढ़ाया। हाथ कुछ थाम नहीं सका, मुट्ठी-भर उड़ती हुई हवा को अँगुलियों में से फिसल जाने दे कर खाली ही रह गया, तब सत्य ने समझ लिया कि वह गिरेगा, गिर कर ही रहेगा। उस ने आँखें बन्द कर लीं···

एक साल पहले—

पार्क में सत्य धीरे-धीरे टहल रहा था। उस के हृदय में जो व्यग्रता भर रही थी उसे किसी तरह वह छिपा लेना चाहता था, लेकिन वह छिपती नहीं थी। इस पर उस का मन एकाएक झल्ला उठता था, क्योंकि वह तो क्रान्तिकारी है, उस की तो पहली सीख ही यह है कि अपने उद्वेगों को प्रकट मत होने दो। जो आत्मिक शक्ति उद्वेग पैदा करना चाहती है उसे क्रिया-शक्ति में, कठोर कर्मण्यता में परिवर्तित कर दो। फिर उसी झल्लाहट से वह उद्वेग और भी प्रकट हो गया-सा जान पड़ता, और सत्य ज़रा तेज़ी से टहलने लग जाता ··

विस्तृत हरियाली के परले पार से एक आदमी निकल कर सत्य की ओर आ रहा था। जब वह सत्य के बिल्कुल निकट आ गया, तब सत्य ने धीरे से कहा, "कहिए—" और फिर दोनों बाँह में बाँह डाले एक घने छायादार वृक्ष की ओर चल पड़े।

"क्या-क्या समाचार हैं ?"

सत्य जल्दी-जल्दी अपनी बात कहने लगा। समाचार उस के पास अधिक नहीं थे, लेकिन इस मितभाषी, प्रचण्डकर्मा नेता चूडामणि के प्रति उस म इतनी श्रद्धा थी कि उस के प्रत्येक आदेश को वह एक साँस मे ही पूरा कर डालना चाहता था। अभी उस की कोई बात पूरी नहीं हुई थी कि चूडामणि ने उसे टोक कर शान्त, किन्तु फिर भी न जाने क्यो, अधिकार-भरे स्वर मे कहा, "अच्छा, मेरे पीछे पुलिस है। मेरे यहाँ होने का तो पता था ही, आज एक आदमी ने शायद पहचान भी लिया है। पुराना दोस्त था। कुछ गडबड हो सकती है।"

सत्य ने अचकचा कर कहा, "तो—?"

"मैं उस के लिए तैयार हूँ। तुम हो कि नही ? तुम्हें अभी यहाँ स निकल जाने के लिए तैयार होना चाहिए।"

एकाएक सत्य को लगा कि पार्क मे कही कुछ शकनीय बात है। अकारण ही उस के मन मे घिर गये होने का, थोडी-सी घबराहट का भाव उदित हुआ। जो लोग खतरे में रहते हैं वही इस तर्कातीत भावना को समझ सकते हैं—बल्कि वे भी सदा नही समझते। *सत्य भी नहीं समझ सका कि वह ऐसा शकित* और कटकित क्यो हो उठा है। उस ने अनिश्चित स्वर म कहा, 'मुझे शक *होता है कि कुछ गडबड है—"*

चूडामणि स्थिर दृष्टि से हरियाली के पार तीव्र गति से पेडो के झुरमुट की ओर जाते हुए एक मानवी आकार की ओर देख रहे थे। आँखें उधर गडाये हुए ही बोले, "तुम्हे शक है, मुझे निश्चय है। उस आदमी को मैं जानता हूँ। अभी पाँच मिनट के अन्दर कुछ होगा। इधर आओ।"

चूडामणि उठकर पेड के तने की ओट हो गये। सत्य भी पीछे पीछे हो लिया। इस तरफ पेड के पीछे एक पत्थरो की दीवार थी, दीवार के दूसरी ओर एक खाई जिस मे बरसाती पानी भरा हुआ था।

चूडामणि ने कहा, "अभी जो कुछ होनेवाला है उस से चौंकना मत। उस का सम्बन्ध मुझ से है—मुझी से है। तुम सुनो, तुम्हे क्या करना है और सुन कर जाओ यहाँ से—"

तभी सीटी बजी। एक बार, दूसरी बार कुछ अधिक तीखी, फिर एक

साथ कई सीटियाँ—वातावरण मानो अनेक साँपो की फुफकार से सजीव हो कर चीख उठा हो।

चूडामणि ने अपने कपडो के भीतर से दो रिवाल्वर निकाले और दोनो के चेम्बर जाँच कर सन्नद्ध हो कर बैठ गये।

सत्य ने देखा, सामने एक झुरमुट की आड मे तीन-चार व्यक्ति—छिपी-छिपी, दीख न सकनेवाली, किसी छठी इन्द्रिय से जानी जानेवाली गति—फिर इस्पात की नीली-सी चमक ··

"मेरे ठीक पीछे खडे रहो—पेड के इधर-उधर न होना।"

सत्य ने आज्ञा का पालन किया। सर्राती हुई एक गोली उस के पास से निकल गयी।

"ठीक। शुरू है।"

एक और गोली। फिर एक साथ सनसनाती हुई कई गोलियाँ।

'अब मेरी बारी है।"

एक!

दो!

तीन!

दूसरी ओर से कराहने की आवाजें, और उस के बाद गोलियो की तीव्र बौछार।

"लो और!" चूडामणि ने भी तीन चार फायर और किये।

"लो इसे, भरो।" रिवाल्वर सत्य को थमा कर वह दूसरे रिवाल्वर से निशाना साधने लगे।

"हाँ सुनो। तुम्हें यहाँ से सीधे कानपुर जाना होगा। वहाँ विश्वनाथ से मिलो। उसे एक पत्र देना है—मेरी बायी जेब से निकाल लो—और कहना है कि इस मे दी हुई हिदायतो के अनुसार वह काम करे। पते भी इसी पत्र मे दिए हुए हैं। पढने की विधि वह जानता है।"

दो एक गोलियाँ चला कर वे फिर कहने लगे, "वहाँ से फिर यहाँ लौट कर आना—पर बहुत जल्दी नही, और गरिमा से मिलना। उसे मैं कह आया था कि जब तक मेरा आदेश न हो, वहाँ से टले नही। और अब—अब मैं आदेश देने नही जा सकूँगा।" उन की हँसी बिलकुल खोखली थी। "उसे कहना कि

यहाँ से टल जाए—लेकिन तुम उसे पहचान तो लोगे न ? एक ही बार देखा है—"

"हाँ !" सत्य को याद आ गया । गरिमा चूडामणि की बहन थी और विधवा थी । उस का पति चूडामणि के क्रान्तिकारी दल की ओर से किसी आक्रमण की तैयारी मे अकस्मात् विस्फोट हो जाने से मर गया था । वही उस आक्रमण का नेता था, इस लिए उस की आकस्मिक मृत्यु से सब के हौसले पस्त हो गये थे । लेकिन गरिमा ने कहा, "उन का काम मैं पूरा करूँगी । और अगर उन के चले जाने से लोगो के हौसले टूट जायँगे, तो—तो मैं उन की मृत्यु को अत्यन्त गुप्त रखूँगी । उस का किसी को पता भी नही लगेगा । मैं अपने मन, वचन और कर्म के ज़ोर से लोगो के सामने उन्हें जीवित रखूँगी । आप लोग इस म मेरी सहायता करें ।" सत्य ने गरिमा को केवल एक बार देखा था—पति के देहान्त के अगले दिन प्रात काल के समय । उस समय वह स्नान के उपरान्त एक ऐसा काम कर रही थी जिस के एक क्रान्तिकारिणी द्वारा किये जा सकने की बात सत्य ने कल्पना मे भी नही देखी थी—वह माँग मे सिन्दूर भर रही थी । सत्य ने जब जा कर उस से अपना सन्देश कहा था तब वह मुस्करा भी सकी थी ·

'पहचान लूँगा ।" एक ही बार देखा है, पर वैसे दो बार दीखता कौन है ? "लेकिन—"

'क्या ?"

"लेकिन यदि मैं पहुँच न सका तो ?"

"सकना क्या होता है ? मैं कहता हूँ कि पहुँचना होगा, तो पहुँचना होगा । तुम्हें नही, मेरे सन्देश को । होना, न होना, सम्भव होना, यह आदमियो के साथ, जीवन के साथ है । कर्त्तव्य के साथ एक ही बात होती है—होना । चाहे किसी तरह, किसी के हाथ ।"

गोलियो की बौछार फिर हुई ।

"अच्छी बात, तो गरिमा से कह देना । यदि वह न माने कि तुम मेरा सन्देश ले कर आये हो, तो उसे याद दिलाना कि हरनौटा गाँव के पास उस ने मेरी बाँह पर पट्टी बाँधी थी तो उस मे एक फूल भी बाँध दिया था । और वह फूल—"

फिर गोलियो की तीखी बौछार हुई। चूडामणि ने धीरे-धीरे निशाना साध कर उत्तर दिया। दूसरी ओर स फिर बौछार हुई। लेकिन गोलियों का शोर कराहने की आवाजों को छिपा न सका।

"इसे भरो – वह मुझे दे दो।"

सत्य चुपचाप दूसरे रिवाल्वर मे कारतूस भरने लगा।

"और कितने राउड हैं ?"

'बाईस।"

"दस अलग करो।"

अनैच्छिक क्रिया से चलती हुई गोलियो के धमाके गिनते हुए सत्य ने चूडामणि की आज्ञा का पालन किया। गोलियाँ चलती रही। दूसरी ओर से फिर कराहने का स्वर आया और उस के बाद एकाएक गोलियो की तीखी उत्क्रुद्ध बौछार…

"हूँ। किसी अफसर के गोली लगी है।"

"कैसे ?"

'देखते नही, कैसा क्रुद्ध और बेअन्दाज फायरिंग हो रहा है ?"

"हूँ।"

क्षण भर की नीरवता, जिसे एक-आध गोली ने जरा-सा कँपा-सा दिया।

'इम भरो। बाकी चार राउड अपनी जेब म डाल लो।"

सत्य न वैसा ही किया।

'बाकी बारह मेरे आगे रख दो।"

यन्त्रचालित-से सत्य ने यह आदेश भी पूरा किया।

"अब तुम्हारे जाने का वक्त आ गया—जाओ! उफ…!"

एक गोली चूडामणि की दाहिनी बाँह मे कलाई से कुछ ऊपर लगी थी।

'यह तो ठीक नही हुआ। खैर।" उन्हाने दूसरा हाथ सत्य की ओर बढाया। "वह भरा रिवाल्वर मुझे दो—और यह खाली कारतूस तुम ले जाओ—भागते-भागते भर लेना।"

"पर—"

इस की अनसुनी करते हुए चूडामणि ने कहा, "यहाँ से पेड की आड रखते हुए ही दीवार के पास जाओ—वहाँ झाडी के पीछे झुक कर गोली की मार से बाहर हो जाना। बस, फिर दौडना—निकल जाओगे।"

"पर आप को छोड कर—"

"जाओ! कारतूस थोडे हैं और मेरा बायाँ हाथ है। जाओ—मैं कहता हूँ—चले जाओ!"

सत्य अत्यन्त अनिच्छापूर्वक हटने लगा। झाडी के पास पहुँच कर उस ने लौट कर देखा। रिवाल्वर में कारतूस भरते समय चडामणि के एक और गोली लगी थी।

"भइया, प्रणाम।" भर्रायी हुई आवाज़ मे सत्य ने पुकारा।

"हूँ। अभी यही हो? मेरी आखिरी फिल है।"

सत्य दीवार के नीचे पहुँच गया। अब उसे दौड कर गोलियो की मार से बाहर निकल जाना ही शेष था। दौडने से पहले उस ने एक बार फिर लौट कर देखा।

"गये?" चूडामणि एकाएक पेड की आड मे से निकल कर खुले मे आ गये थे, निशाना साध कर गोली चलाते हुए आगे बढे जा रहे थे।

कराहने की आवाज़ें—उस के ऊपर चूडामणि का कृत निश्चय से गूँजता हुआ स्वर—"और लो! और लो! और यह लो! सिर्फ आखिरी राउंड मेरा है।"

चीखें। कराहने का स्वर। फिर और तीखी दर्द-भरी चीखें।

सत्य दौडा।

"और गरिमा से कहना, वह फल अभी तक मेरे पास है।"

भागते हुए सत्य ने गोली का एक दबा हुआ-सा स्वर सुना, मानो नली शरीर के बहुत नज़दीक रख कर रिवाल्वर चलाया गया हो। उसके बाद गोलियो की लगातार कई मिनट की तीखी बौछार···

फिर सीटियाँ, तीखी, कर्कश सीटियाँ···और खाई का एक छोटा-सा पुल, फिर सडक का एक मोड, और फिर नीरवता!

एकदम अखण्ड नीरवता—केवल उस के पैरो का 'धम्-धम्' और उस के हृदय का 'धक्-धक्'—स्पन्दन···

× × ×

सीटी फिर बजी, तीखी और कर्कश।

जितना ही सत्य का शरीर अवश जडित होता जाता था, उतना ही उस का मन अवश गति से दौड रहा था ··

गरिमा की आँखें कैसी थी ? गति नही थी, ज्योति नही थी—थी एक भीषण जडता, एक सहसा रोमांचित कर देनेवाली प्राणहीन स्थिरता। और वह वैसे ही निष्प्राण स्वर में सत्य की कही हुई बात का एक-एक वाक्य उस के पीछे दोहराती जा रही थी—एक अबोध पक्षी की तरह जिसे बोलने को जबान तो है लेकिन समझने को मस्तिष्क नहीं। 'पट्टी बाँधी थी, तो एक फूल भी बाँध दिया था।' हाँ, बाँध दिया था। 'कहा था, मेरे आदेश के बिना कहीं मत जाना।' हाँ, कहा था। 'उस से कहना, वह फूल अभी तक मेरे पास है।' 'आखिरी राउंड '

हाँ, जब सत्य को जान पडा था कि अगर गरिमा कुछ देर भी और ऐसे रही, तो वह या तो अपना सिर फोड लेगा या उसे मार डालेगा—इतनी अमानुषी थी वह परिस्थिति—तभी उस की आँखो मे एक आँसू आया था। एक ही आँसू—दूसरा नहीं आया था, और पहला आँख से टपका नहीं था। लेकिन दुबारा उस ने कहना चाहा था, 'राउण्ड मेरा है', तब उस की आवाज बदल गयी थी, टूट गयी थी—

आज एक साल बाद भी क्यों वह आँसू-भरी आँख—

सीटी फिर बजी। अब की बार सत्य के बहुत ही निकट। इतने निकट कि उस की घबराहट दूर हो गयी, हाथ पैर काँपने बन्द हो गये, उस ने आँखें खोलीं कि अब तो वह घिर ही गया, उस की बारी आ ही गयी, क्या हुआ एक साल बाद आयी तो—क्या हुआ ऐसे घटना-पूर्ण विवाद-भरे एक साल बाद आयी तो!

लेकिन आज एक साल बाद भी क्यों वह आँसू-भरी आँख—

एक छोटा-सा लडका सत्य के आगे खडा था। उस के हाथ मे चमकता-सा कुछ था—

सत्य को एकाएक लगा कि वह बेवकूफ है—परले दर्जे का बेवकूफ, बच-

मूर्ख है—उस ने हँसना चाहा लेकिन हँसी उस के गले में भीतर ही घुट गयी। अपने-आप को और भी अधिक बेवकूफ़ अनुभव करते हुए अटकती हुई ज़बान से उस ने किसी तरह कहा, "ओ बच्चे, तुम—तुम…"

बच्चे ने सीटी मुँह में डालते हुए सन्देह-भरे स्वर में पूछा, "क्या तुम—तुम ?"

अछूते फूल

•

मीरा वायुसेवन के लिए चली जा रही थी, लेकिन उस का सिर झुका था, आँखें अधखुली थी, और उस का ध्यान अपने आसपास की चीज़ो की ओर, पथ के दोनो ओर बिखरी हुई और आत्मनिवेदन करती हुई-सी 'सस्कृत' प्रकृति की ओर बिल्कुल नही था।

मीरा की आयु छब्बीस वर्ष की हो गयी थी। इन छब्बीस वर्षों मे, वयस्क हो जाने के बाद मीरा ने अपने कालेज के चार वर्ष पूरे करके बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर ली थी, और उस के बाद क्रमश. राजनीति मे हिस्सा लिया था, जेल भी हो आयी थी, 'सोसायटी' में, सभ्य समाज मे भी मेल-जोल बढाया था और अपना स्थान बनाया था, बीमा की एजेंसी भी की थी। कहा जा सकता था कि उस ने अपने समाज में सफलता प्राप्त की थी।

पुरुषो पर प्रभाव डालने की उस मे कुछ विशेष शक्ति थी। उस शक्ति को प्रतिभा कहे, तो अनुचित न होगा। मीरा के हमजोली सभ्यो की भाषा मे कहा करते थे—'शी हैज़ ए वे विथ मेन।' अब भी, घूमते समय अपना ध्यान आसपास के सौन्दर्य से खीच कर अपने ही भीतर समेटे, मीरा इसी बात को सोच रही थी। जहाँ तक उस की याद जाती थी, अपने पिछले दस-एक वर्षों मे, जब से उस ने होश सँभाल कर आत्मनिर्णय का अधिकार पाया और विद्यार्थी-समाज के स्वच्छन्द वातावरण मे पैर रखा, तब से उसे एक भी पुरुष ऐसा नहीं मिला था जो उस के सम्पर्क मे आया हो और अप्रभावित रहा हो। पुरुष आते थे, कोई झुक कर, कोई अकड कर, कोई लोलुप भाव से, कोई कठोर उपेक्षा से, लेकिन फिर मानो उन पर कोई सम्मोहिनी-सी छा जाती थी, मानो उन के पख भीग जाते थे और फडफडाना बन्द हो जाता था—या यो कहें कि किसी फँसी नस्ल के पालतू कुत्ते

की तरह वे मीरा के पीछे-पीछे दुम हिलाते हुए चल पड़ते थे। मीरा उन से खेलती थी, उन्हें नचाती थी, उन से काम लेती थी। कुत्तेपन के कारण वे सेवा करते थे, यद्यपि फैसीपन के कारण वे मुंह लगे भी होते थे और मानो थोड़ी-सी दुलार-पुचकार के भूखे भी। मीरा इस बात को जानती थी और इस की अनदेखी भी नहीं करती थी।

लेकिन इतना होने पर भी मीरा ने पुरुषों से एक विशेष दूरी कायम की थी, एक अलगाव स्थापित रखा था। इतने पुरुषों के संपर्क में आ कर, उन से मिल-जुल कर, उन से 'मिक्स' कर के भी वह अछूती रह गयी थी—अछूती ही नहीं, अस्पृश्य भी। उसे इस का अभिमान भी था। स्त्री के लिए पुरुष-समाज में आ कर भी उस से बचे रहना एक बड़ी बात होती है, और फिर भारत के 'नव-संस्कृत' समाज में, जिस में आचार के पुराने शास्त्र नष्ट हो गये हैं और नये 'स्टैण्डर्ड' बन नहीं पाये, स्त्री के लिए अपने शील की रक्षा करते हुए चलना तो बहुत ही बड़ी बात है। मीरा ने यही महान् कार्य बड़ी सफलता से किया था, और उस का अभिमान अनुचित नहीं था।

इस समय टहलने के लिए घर से निकल कर पैदल घूमती हुई मीरा इसी बात पर विचार कर रही थी। मन-ही-मन वह एक-एक कर के उन लोगों को गिन रही थी, जो उस की अर्दली में आये थे, जो उस के जीवन की रंगशाला में अपना पार्ट अदा कर रहे थे, कोई नाच कर, कोई गल्ला कर, कोई हँस कर, कोई रोनी सूरत बना कर, और जिन्हें एक-एक कर के उस ने मंच पर से हटा दिया था। अवश्यमेव वह अपनी सफलता के लिए अपने को बधाई दे सकती थी। 'कीच में कमल' की उपमा शायद एक अनुचित डींग हो, लेकिन वह अपनी तुलना उस मधुमक्खी से अवश्य कर सकती थी, जो भाँति-भाँति के फूलों का रस ले कर मधु संचय करती है, पर अपने पंख कभी उस में नहीं लगने देती।

यही सब सोचती हुई मीरा टहलने चली जा रही थी। लेकिन वह प्रसन्न नहीं थी। वह अपने को बधाई देती जा रही थी, लेकिन उस का मन मुरझाया हुआ था। उस के बधाई के शब्द मानो अर्थहीन थे, वह उन्हें दुहरा दुहरा कर भी उन से ज़रा-सा सन्तोष या आनन्द नहीं खींच पाती थी। उस के पैर पथ पर क्रमानुसार पड़ते जा रहे थे, यही उस का टहलना था।

2

मीरा का रास्ता पूर्णतया निर्विघ्न नही था। साँझ घिरती आ रही थी, और अधिकाश सैर करने वाले—मुख्यतया बूढे, औरतें, बच्चे—अपने-अपने घर-घोंसलों की ओर चल दिये थे। फिर भी जब-तब उस सँकरी सडक पर कोई साइकिल पर सवार नवयुवक सैलानी आ निकलता और मीरा के पास से सर्राता हुआ चला जाता, तब मीरा को चौंक कर एक ओर हटना पडता। उस ढग के सैलानी प्राय बिना रोशनी के घर से निकलते हैं, और फिर वक्त तग पा कर खूब तेजी मे घर की ओर साइकिल दौडाते हैं। घण्टी बजाना या ब्रेक लगाना उन के लिए महापाप का गौरव प्राप्त कर लेना है, और जो जरा और मनचले होते हैं, वे हैण्डल को हाथ से छूना भी अनुचित समझते हैं। तब एक अवस्था ऐसी आती है कि सतयुग से हमारा युग बढ जाता है। सतयुग मे लोग परलोक की तलाश मे फिरते थे और वह लभ्य नही होता था, अब परलोक ही मुँह बाये फिरता है और पैदल चलने वाले लोगो को अपनी जान बचा कर भागना पडता है।

यह बात नही थी कि मीरा को इस ढग के लोगो पर क्रोध आता हो—साहसिक वृत्ति उस मे भी पर्याप्त मात्रा मे थी और खतरे का नशा वह खूब पहचानती थी। लेकिन उस समय उसे अकारण क्रोध आया हुआ था। वह भीतर ही-भीतर कुढ रही थी, उस के मन मे बार-बार एक खुजली-सी उठती थी कि किसी से कठोर व्यवहार करे, किसी से लडे, बुरी तरह पेश आये, किसी को चोट पहुचाये, किसी चीज को बिगाडे। क्यो, किसे, कैसे, यह सब उस के आगे स्पष्ट नही था, पर उस का मन मनुष्य-मात्र के प्रति एक तीखी अप्रीति से लबालब भर रहा था और छलका पडता था।

सामने से जो लोग साइकिलो पर आते, मीरा घूर कर उन्हें देखती। जो कुरूप होता, वह उस के रोष से बच जाता, लेकिन औरो पर वह दृष्टि ऐसे पडती, मानो उन्हें भस्म कर डालेगी। ''प्रत्येक ऐसे आगन्तुक के साथ उस का रोष बढ़ता ही जाता। अन्त मे एक अवस्था ऐसी आयी कि उस का इस सुलगते हुए अप्रीति-भाव को दबाना असम्भव हो गया, और वह मानो कार्य मे परिणत हो कर फूट निकलना चाहने लगा।

दूर ही से साइकिल की घण्टी सुन कर मीरा कुछ चौंकी, फिर उस ने पथ पर से एक छोटी-सी टूटी हुई डाल उठा ली। सामने ही सड़क का मोड़ था, शायद इसी लिए आते हुए साइकिलिस्ट ने घण्टी बजायी थी। धुंधलके में मीरा उसे तब तक न देख सकी, जब तक कि वह बहुत ही पास न आ गया। तब एकदम से उस ने वह छोटी-सी डाल साइकिल के पहिये की ओर फेंक दी।

साइकिल तीव्र गति से जा रही थी। डाल की लकड़ी पहिये की तीलियों में अड़ गयी, साइकिल लड़खड़ायी और एकदम से रुक गयी। सवार उस पर से उछल कर छः-सात फुट दूर जा कर औंधे-मुंह गिरा। एक बाँह से उस ने शायद अपना मुंह बचाया था, पर उस का सिर सड़क के किनारे के एक पेड़ से टकरा गया।

साइकिल क्षण-भर बिना सवार के ही खड़ी रही, फिर कुछ इंच आगे सरक कर एक ओर गिर गयी।

3

विद्युत्-गति से हो जाने वाली इस घटना की पहली प्रतिक्रिया मीरा के मन में एक तीव्र आनन्द के रूप में प्रकट हुई—वह आनन्द, जो विजय के बाद होता है, जब बहुत दिनों की अनेक असफलताओं के बाद एक दिन एकाएक सफलता मिल जाती है। पर दूसरे ही क्षण उस ने जाना, वह उल्लास जीत का नहीं है, कुछ काम कर लेने का नहीं है, उल्लास का कारण यह है कि अब सामने कुछ काम करने को है। कैदी को जब मुक्ति मिलती है तब एक तरह का आनन्द उसे होता है, पर इस समय मीरा को आनन्द हो रहा था, जैसा कि बहुत दिनों से कालकोठरी में निकम्मे पड़े हुए कैदी को उस समय होता है, जब उसे मशक्कत दी जाती है—फिर वह चाहे पत्थर कूटना या 'जगाई' या कोल्हू ही क्यों न हो…

मीरा लपक कर उस आदमी के पास पहुँची। वह सड़क पर फैला हुआ पड़ा था। उस के शरीर में किसी तरह की गति नहीं थी। मीरा ने कलाई पकड़ कर देखा, वह नब्ज़ भी नहीं पा सकी। उस ने युवक का सिर उठाया, वह भारी जान पड़ा और एक ओर को लुढ़क गया।

तब मीरा एकाएक घोर चिन्ता से सिहर उठी। आँखें फाड़ फाड़ कर वह

देखने लगी कभी युवक की ओर, कभी साइकिल की ओर, कभी अपने उस हाथ की ओर जिस ने वह डाल पहिये मे अटकायी थी।

बहुत शोर के बाद अगर एकाएक मौन हो जाय, तो हमारे भीतर म ही मानो कोई चीख उठता है और नीरवता नही होने पाती। मीरा के भीतर भी कोई एकाएक पुकार उठा कि सडक पर कोई नही है, आस पास कही कोई नही है, सैर का समय खत्म हो गया है।

और बरसो बाद अब मीरा की नयी शिक्षा उस के काम आयी—उस ने बिना किसी प्रकार के सकोच या झिझक के उस बिलकुल अजनबी नवयुवक को घुमा कर सीधा किया और "ओह, लार्ड !" कहते हुए बाँहो म उठा लिया। बोझ बहुत काफी था, लेकिन परिताप मे दानवी शक्ति होती है।

लगभग डेढ फर्लांग चल कर मीरा एक चौराहे पर पहुँची, जहाँ एक बेंच पडी हुई थी। मीरा ने 'हुफ्फ' कह कर युवक को उस पर डाला, फिर कुछ बढ कर एक ताँगे वाले को पुकारा और उस की मदद से युवक को ताँगे मे लाद कर कहा, "चलो अस्पताल !"

4

कानकशन आफ द ब्रेन। कानकशन। कानकशन आफ द ब्रेन। ब्रेन। कानकशन—आफ—द—ब्रेन।

अस्पताल के दुर्घटना-वार्ड के बाहर के बरामदे मे मीरा बैठी है। उसे वैसे ही बैठे हुए लगभग पौन घण्टा हो गया है। बेंच पर वह बिलकुल सीधी बैठी है, मुख पर जरा भी मलिनता नही है, किसी तरह की गति नही है, वह आँख भी नही झपकाती है, लेकिन इतने काल का वह निश्चल तनाव ही प्रकट करता है कि उस के भीतर कैसी अशान्ति भर रही है। मीरा मानो अपने नाडी-स्पन्दन के साथ ताल देती हुई गिनती जा रही है कि उस घटना को कितनी देर हो गयी है, प्रति सेकेण्ड कितनी और देर होती जा रही है...

आखिर डॉक्टर ने आ कर आश्वासन देते हुए कहा, "अब कोई चिन्ता की बात नही है।"

"क्या—"

डॉक्टर ने अपने स्वर मे कुछ घनिष्ठता, कुछ वात्सल्य सा भर पूछा,

"आप के कोई सम्बन्धी हैं क्या ?"

मीरा ने जल्दी से कहा, "नहीं, सडक पर एक दुर्घटना हो गयी, वही—"

डॉक्टर ने कुछ बदले हुए दैनिक व्यवहार के, यद्यपि अब भी दया-भरे स्वर मे कहा, "कोई फिक्र नहीं। बच जायगा।"

मीरा बेंच पर से उठ कर एकदम चल दी। डाक्टर की विनयपूर्ण प्रशंसा को स्वीकार करने या सुनने के लिए भी वह नहीं रुकी—"आप की सहृदयता—"

5

घर।

मीरा मर से लौट कर सीधी ऊपर अपने कमरे मे चली गयी और धडाके से द्वार बन्द कर खिडकी के पास बैठ गयी। खिडकी खुली थी, आधी दूर तक लगा हुआ रेशमी छींट का परदा हल्की हवा के झोंके म मदमाता-सा झूम रहा था, कभी भीतर की ओर, कभी बाहर की ओर। दूर घने नीले स्वच्छ आकाश मे तारे टिमटिमा रहे थे। मीरा को याद आया, जब उस ने घोर आकांक्षा से भर कर उस बेहोश युवक की बन्द पलकों को खोल कर भीतर झाँका था, तब उन म का स्वाभाविक आलोक बुझा हुआ-सा था। आत्मा के वे द्वार बन्द नहीं हुए थ, पर उन के आगे एक झीना परदा-सा छाया हुआ था। उस फीके पडे हुए चेहरे मे वे जबर्दस्ती खोली हुई आँखें ऐसी लगती थी, मानो—

लेकिन वह नहीं चाहती उस युवक की बात सोचना। उसे क्या अब उस युवक से ? वह उसे अस्पताल पहुंचा आयी है, वह ठीक है अब। मर नहीं जाएगा।

लेकिन उस का चेहरा मीरा की आँखों क आगे फिरने लगा।

नहीं। मीरा ने अपने ओंठ जोर म काट लिय। वह नहीं देखेगी वह चेहरा, वह पीडा से सिकुडा हुआ शरीर। वह नहीं देखेगी—

लेकिन क्या नहीं देखेगी, यह दुहराते हुए तो वह बार-बार उसे देखती ही जा रही है। उस ने फिर ओंठ काट लिया, मुट्ठियाँ भींच लीं—

एक मुट्ठी म अभी तक वह फूल दबा हुआ था, जो उस ने टहलते समय

राह के किनारे लगी क्यारी में से तोड़ लिया था। अब वह उसे मुट्ठी में ही लिये हुए थी!

मीरा का शरीर ढीला पड गया, उस का देर का सचित तनाव मिटने लगा। वह स्थिर अनदेखती दृष्टि से उस फूल की ओर देखने लगी।

मुरझाया हुआ, कुचला हुआ, गर्मी और पसीने और दबाव से अपनी सफेदी खो कर काला पडा हुआ फूल।

उसे अपनी डीग याद आयी। 'पक मे पक्ज तो नही, पर हाँ, वह मधु-मक्खी अवश्य, जो अपने सचित किए हुए मधु मे अपने पख नही लपटाती, फँसती नही, मुक्त ही रहती है···अछूती। अस्पृश्य···'

अब उस ने फिर अपने ओठ काट लिये—अब की बार कुछ भुलाने के लिए नही। इस बार केवल उस एक शब्द के उच्चारण को रोक देने के लिए, जो उस की सारी विदेशी शिक्षा और सभ्यता और सस्कृति का निचोड बन कर उसके ओठो तक आया था—"डैम!"

तब एकाएक उसकी आँखो से आँसू गिरने लगे। शब्दहीन, लेकिन बडे-बडे, गोल-गोल आँसू।

अभिशापित

•

अंगारे लाल-लाल चमक रहे थे, किन्तु फिर भी उस छोटी-सी झोपड़ी में बैठा हुआ व्यक्ति जाड़े से काँप रहा था। रात बहुत बीत गयी थी, उस झोपड़े में दिया तक नहीं जल रहा था। अंगारों के क्षीण किन्तु अरुण प्रकाश में झोपड़े में पड़ी प्रत्येक वस्तु ने एक अद्भुत, अलौकिक रूप धारण किया था। एक कोने में पड़ी हुई थाली ऐसी चमक रही थी मानो कोई निशाचर अपनी आरक्त आँखें खोले किसी शिकार की प्रतीक्षा में बैठा हो। और दूसरे कोने में शायद कपड़ों का एक गट्ठर पड़ा था।

बाहर घनघोर वर्षा हो रही थी। छप्पर से कभी-कभी थोड़ा-सा पानी अन्दर चू पड़ता था। वह जहाँ गिरता, वहाँ एक धब्बा सा पड़ जाता। लाल प्रकाश में वह रक्त-कुण्ड सा प्रतीत होने लगता। झोपड़े में बैठा हुआ व्यक्ति चौंक कर उस की ओर देखता, और फिर अपने विचारों में लीन हो जाता।

उस व्यक्ति के शरीर पर एक फटी कमीज और एक पाजामे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। क्षण-भर वह निस्तब्ध बैठा रहता, फिर एक दीर्घ निश्वास छोड़ कर काँप उठता और आग की ओर सरक जाता।

रात्रि की निविड़ता बढ़ती जा रही थी और अंगारों का प्रकाश क्षीणतर होता जाता था, किन्तु वह व्यक्ति आग की ओर विस्मय-विस्फारित नेत्रों से देखता हुआ बैठा था और उस में एक भयानक अरुण दीप्ति काँप रही थी। उसमें अमानुषिकता थी, उदासीनता थी, और जड़ता का एक विचित्र भाव था जैसे हिम-गह्वर में ठिठुरते हुए भूखे एकाकी भेड़िए की आँखों में होता है।

अंगारों की दीप्ति राख से धीरे-धीरे आवृत होती जाती थी, किन्तु उस व्यक्ति के हृदय से शायद कोई भार उठता जा रहा था। उस का झुका हुआ शरीर ठिठुरने पर भी धीरे धीरे सीधा

हो रहा था। ऐसा विदित होता था मानो उसके अन्दर कोई घोरतम परिवर्तन हो रहा हो और उस की टक्कर की चोट से, उसकी प्रतिक्रिया से, उस का हृदय कम्पित हो गया हो।

एकाएक उस के जडप्राय शरीर मे स्फूर्ति आ गयी। उस ने अगारो को हिला कर पुन दीप्त कर दिया। झोपडे मे फिर प्रकाश हो गया। वह व्यक्ति धीरे-धीरे, मत्र के उच्चारण की तरह, कुछ कहने लगा—'तुम अविश्वस्त हो, तुम सन्दिग्ध हो, तुम ने एक कार्य मे हाथ बँटाया था, किन्तु तुम अयोग्य गिने गये और तिरस्कृत कर निकाल दिये गये···।

'तुम विश्वास के अपात्र हो! तुम्हारे मुँह पर कालिख पुत गयी है! अब तुम कभी भी उस महान् कार्य मे भागी नही हो सकते। तुम जहाँ जाओगे, मृत्यु की छाया की तरह अपरिहार्य यह कलक तुम्हारा पीछा करेगा कि तुम पर लोग विश्वास नही कर सके··।

'तुम · तुम भ्रष्ट प्रतिमा की तरह कलकित, अभिशापित···अभिशापित · अभिशापित···हो।'

एकाएक झोपडे के कोने मे पडा वह गट्ठर हिला और उस मे से एक मुख—एक स्त्री-मुख, बाहर निकल आया। एक चिन्तित, स्नेह-प्लावित स्वर ने पूछा, "भइया, क्या सोच रहे हो? अब सो जाओ।"

वह व्यक्ति चौंका और उस गट्ठर की ओर देख कर क्षण-भर चुप खडा रहा। फिर उसने कहा—उसकी वाणी म वेदना और प्रेरणा का विचित्र सम्मिश्रण था, "यहाँ आओ।"

वह कपडो का गट्ठर उठा और पास चला आया। उस ने स्नेह भाव से एक हाथ उस व्यक्ति के कन्धे पर रख दिया और बोला, 'क्या है, लियाग?"

"देखो, ती-वा, हम विश्वास के योग्य नही समझे गये और इसी से मैं क्रुद्ध हो कर यहाँ चला आया हूँ; पर यह अविश्वास असह्य है। मैं तुम्हारे आगे इस आग को साक्षी कर के प्रण करता हूँ कि अपने को विश्वास के योग्य सिद्ध करूँगा, नही तो – नही तो—अपने देश न लौटूँगा—न अपना ही नाम धारण करूँगा। और ती-वा, तुम मेरी एकमात्र सहायक होगी ··"

ती-वा ने अपना सिर धीरे से लियाग के कन्धे पर रख दिया, कुछ उत्तर न दे सकी।

वहीं से रोने का अत्यन्त अस्फुट स्वर सुन पड़ा '।
थोडी देर मे आग बुझ गयी।

2

हाकाउ नगर मे अन्धकार फैला था। नगर के मुख्य चौक मे बहुत भीड थी। स्त्री-पुरुष, बच्चे एकत्र हो रहे थे ··और बीच म कही-कही, बीच से लथ-पथ फटी वर्दियाँ पहने, कुछ सशस्त्र और अनेक निहत्थे सैनिक चिल्ला रहे थे···

दूर क्षितिज के ऊपर मलिन सी लाल ज्योति थी, और उस म से धुएँ के पहाड-से उठ रहे थे। *आकाश मे काले-काले बादल छाये थे, कभी-कभी कोई* भूखे शेर की तरह गुर्रा उठता था। हवा नही चल रही थी, किन्तु वातावरण मे मानो दबी हुई विद्युत् के कम्पन का अनुभव होता था और नागरिको की वह भीड चिन्तित हो कर उस लाल दीप्ति की ओर देख रही थी। सैनिक चिल्ला रहे थे, "वह है हमारा सकेत ! क्रान्ति ! क्रान्ति !" चौक के आस-पास के घरो से शोर हो रहा था, "मारो ! मारो ! भूखी प्रजा की जय हो !"

किन्तु प्रजा ? नि स्तब्ध खडी थी · वह केवल चिन्तित दृष्टि से उस रक्त-सकेत की ओर देख रही थी। उस का पूरा आशय उस के उन्मत्त मस्तिष्क के अन्दर अभी तक नही समा पाया था। बादल गरज रहे थे, अग्नि का क्षीण 'धू-धू' शब्द सुन पड रहा था, वातावरण काँप रहा था, सैनिक क्रान्ति का आह्वान कर रहे थे, पर प्रजा प्रजा एक बुझी चिता की तरह, एक मूर्च्छित कामना की तरह, फालिज-मारे जडमति मस्तिष्क की तरह एक निराकार, निरीह, सज्ञाहीन, किन्तु अशान्ति से उत्क्षिप्त प्रेत की तरह विमूढ, निस्तब्ध खडी थी।

किन्तु उस निराकार शून्य से कोई भावना जागने को हो रही थी, उस मृत सागर मे कोई निश्चय प्रस्फुटित हो रहा था। फौलाद की तरह अभेद्य उस खोपडी मे व्यथा-ज्योति की किरण धीरे-धीरे प्रविष्ट हो रही थी।

फौलाद की तरह ही वह तन्द्रा सहसा टूट गयी—अन्तर्दीप्ति सहसा धधक उठी ! पुरुष जागे, स्त्रियाँ जागी, श्रमिक जागे, नागरिक जागे, सोता हुआ एक समूचा राष्ट्र सहसा जाग उठा और गरजा, 'क्रान्ति !"

वह निरुद्देश्य समुद्र एकाएक किसी अदृष्ट प्रेरणा से एक ओर उमड पडा—उसी लाल दीप्ति की ओर !

चौक खाली हो गया ! केवल एक ओर एक दुकान के आगे, दस-बारह व्यक्ति रह गये। उन के मुख पर चिन्ता थी और साथ ही किसी महान् उद्देश्य की आभा भी, और वे धीरे धीरे बातें कर रहे थे।

एक कह रहा था, "बन्धुओ, क्वोमिडताड की यह सभा आज एक महत्त्वपूर्ण कार्य का निर्णय करने को सम्मिलित हुई है। आप जानते ही होंगे कि लियाग चिचाओ—जिन की विद्वत्ता और सदबुद्धि पर हम इतनी आशाएँ थी, आज के कार्य के लिए ···"—यह कहते हुए उस ने लाल दीप्ति की ओर इङ्गित किया—"सचालक नियुक्त किये गये थे। किन्तु कुछ दिनो से यह प्रतीत हो रहा था कि वह काम समुचित रूप से नही करते। पिछली सभा म इस की आलोचना भी हुई थी·· ।"

श्रोता उत्सुक हो कर सुन रहे थे। एक बोल उठा, "उन पर जो आक्षेप किया गया था, वह अनुचित था। वह सर्वथा—"

पहला ही व्यक्ति अधिकारपूर्ण स्वर से फिर बोला, "आप ध्यान म सुनें, मुझे रोकें नही।" दो तीन और व्यक्ति भी बोले, "प्रधान की बात सुनो !"

"उस समय कुछ लोगो के मन मे यह भाव था—अब भी है—कि लियाग का कथन ठीक था और इस कार्य का उपयुक्त अवसर नही आया था। किन्तु अब जो नयी घटना हुई है, उससे प्रतीत होता है···"

"क्या ? क्या ?"

'कि आक्षेप झूठा नही था। लियाग कल सन्ध्या से लापता है, उन की बहिन भी ! कहा जाता है कि वे मचूरिया की ओर भाग गये हैं।"

जिस व्यक्ति ने आक्षेप किया था, वह बोला, 'सच ?"—फिर सिर झुकाकर बैठ रहा।

क्षण भर तक कोई नही बोला। फिर प्रधान ने कहा, "जो कायर सिद्ध होते है, विश्वास के अपात्र होते हैं, उन की विद्वत्ता किस काम की ? उन के लिए दुख या समवेदना न होनी चाहिए। वे राष्ट्र के शत्रु है, राष्ट्र की आह उन्हे लगेगी, अभिशाप की तरह मृत्यु-पर्यन्त उन का पीछा करेगी·· "

किसी ने कहा, "हम अपने बन्धुओ को सूचित कर देना चाहिए।"

सब बोल उठे, 'हाँ ! अवश्य।"

वर्षा होने लगी। सब लोग उठ खड़े हुए। प्रधान ने कहा, "मैं सूचना दे दूँगा।"

लोग चले गये, केवल प्रधान वहाँ खडा रह गया। एक बार चारो ओर देख कर विचारपूर्ण स्वर से वह बोला, "लियाग, लियाग, कितना भीषण कार्य मैं कर रहा हूँ, पर मैं बाध्य हूँ—क्या करूँ ? तुम मेरे मित्र थे, पर मैं क्रान्ति का दास हूँ। और शौ-वा ! शौ-वा ! तुम एक कायर की बहिन थी, नही तो—नही तो अब क्रान्ति के · अभिशाप के आगे मैं · "

दूर पर एक धडाका हुआ। वह लाल दीप्ति एकाएक फट कर आकाश मे बिखर गयी, क्षण-भर आकाश धधकते हुए लाल तारो से भर गया, फिर *अन्धकार, बादलो की गुर्राहट, प्रजा का कोलाहल ।*

क्रान्ति के उपकरण···

"बहिन, तुमने सुना ?"

"क्या हुआ ?"

"युवान शिकाई को सम्राट् ने वापस बुला लिया है और राष्ट्र का सेनापति नियुक्त किया है।"

प्रात काल का समय था। जापान के सुन्दर प्रदेश मे, फूजीयामा की छाया म, सारा गाँव मानो सुख-स्वप्न ले रहा था। बाल-रवि की किरणो मे फूलो के समुद्र हँस रहे थे। दूर के घरो के प्रागण मे कही-कही मयूरो के जोडे धीरे-धीरे आपस मे चोच रगड कर अपना स्नेह व्यक्त कर रहे थे।

किन्तु उस घर का रूप और घरो से विभिन्न था। वह कच्चा था और उस का प्रागण बहुत छोटा-सा और पुष्पविहीन था। घर स्वच्छ था, किन्तु उस मे कही भी अलकार का कोई चिह्न न था।

प्रागण मे दो व्यक्ति खडे थे। दोनो साधारण श्रमिको के कपडे पहने थे, और पुरुष के हाथ म एक बेंत-सा था, जिस का सहारा ले कर वह खडा था। पास म ही वह स्त्री खडी थी, उस के हाथ मिट्टी म सने थे, उस के मुख पर विचारशीलता का भाव था।

कुछ रुक कर वह बोला, "मालूम होता है अब सम्राट् का पतन शीघ्र ही हो जाएगा।"

"क्यों ?"

"जब एक व्यक्ति अविश्वसनीय कह कर निकाल दिया जाय, तब उसे अकारण बुलाना कमजोरी है।"

'हाँ—और भी समाचार है।"

"क्या ?"

"हाकाउ मे घोर सग्राम हो रहा है, किन्तु क्रान्तिकारी पीछे हट रहे हैं। और—और उन के प्रधान वू सुग लापता हो गए हैं।"

"वू सुग लापता ? वू सुग · तब क्या क्रान्तिकारी हार जायेंगे ?"

पुरुष ने मुट्ठियाँ बाँधते हुए कहा, 'यह नही होगा ।·· लीना, लीना, हम यहाँ बैठे नही रह सकेंगे ' चलो चलें, हम भी · "

"लेकिन—लेकिन—हम·· क्या कर सकते हैं ?"

दोनो के सिर सहसा झुक गये। उसी समय घर के भीतर से किसी ने पुकारा, "आज क्या काम मे खाना-पीना भी भूल गए ?" दोनो व्यक्ति चौंके और अन्दर चले गये।

अन्दर उस कमरे मे तीन व्यक्ति और बैठे थे—एक वृद्ध, एक युवक और एक युवती – उन के चहरो के साम्य से प्रतीत होता था कि वे पिता और सन्तान हैं।

काशेई जो बाहर से आया था, आते ही बोला, "आज बहुत-से नये समाचार है।"

वृद्ध और दोनो सन्तान उत्सुक हो कर बोले, "क्या ?"

काशेई ने अपना वृत्तान्त सुना दिया। सुनने मे सब लोग इतने तन्मय थे कि सामने पडी हुई चाय की ओर किसी का भी ध्यान नही गया।

वृद्ध न रहस्यपूर्ण मुद्रा स कहा, "दरवाजा बन्द कर दो।" काशेई किवाड बन्द करते हुए बोला, "कहो दादा तुगफू, क्या है ?"

वृद्ध धीरे धीरे बोला, "मैंने पता लगा लिया है।"

"क्या ? क्या ? कब ?"

' डॉक्टर टोकियो मे ही हैं। और उन की पत्नी ··"

चारो श्रोता व्यग्रता से बोले, "हाँ-हाँ·· '

"बीमार हैं, इस लिए वापस नही जा सकते। वे शीघ्र ही जाने का

प्रबन्ध कर रहे हैं।"

काशेई ने एक बार अपनी बहिन की ओर भेद-भरी दृष्टि से देखा। आँखों में ही कुछ बात हुई, फिर बहिन ने सम्मतिसूचक सिर हिला दिया।

काशेई बोला, "दादा, मुझे पता बता दो, मैं उनसे मिलूँगा।"

"क्यों ?"

"दादा, तुम सब-कुछ जानते हुए भी पूछते हो ? मैं चीन जाना चाहता हूँ। वहाँ हमारी जरूरत है, वहाँ क्रान्तिकारी · "

आवेश में आकर काशेई चुप हो गया। फिर उस की बहिन बोली "दादा, हम यहाँ आ गये हैं, किन्तु अब देश से अलग रहना असम्भव है। विशेष कर जब देश संकट में हो · लेकिन हम यहाँ ऐसे फसे हैं, एकदम अजनबी हैं। कभी शहर में जाना पड़े तो आफत आ जाती है। कभी-कभी सोचती हूँ, अगर आप न होते तो "

"वाह लीना ! तुम भी कैसी बातें करती हो···"

युवक बोला, "पिता ! बहिन ठीक कहती है। हम तो यहाँ बस गये हैं, यहाँ रह कर काम चला लेते हैं, किन्तु ये नये आये हैं, शान्ति के दिनों में तो यहाँ सरकार इन पर सन्देह करेगी। और ये वापस भी नहीं जा सकेंगे। इन को मिल कर बात कर लेनी चाहिए। डॉक्टर अनुभवी आदमी है, कुछ तो बतायेंगे ही।"

वृद्ध ने कुछ सोच कर कहा, "ठीक कहते हो बेटा !" फिर अपनी पुत्री की ओर उन्मुख होकर बोला, "ता, जा मेरे कागज उठा ला।"

'ता' गयी और कुछ कागज ले आयी। वृद्ध उन्हें देख कर धीरे-धीरे काशेई से बातें करने लगा। लीना और 'ता' उठ कर वहाँ से चली गयी।

टाकियो नगर की रंग-बिरंगी रोशनियों में काशेई चुप-चाप चला जा रहा था। आज उस के शरीर पर वे श्रमिक के वस्त्र नहीं थे। वह विलायती ढंग का सूट पहने हुए था, और उस के हाथ में एक छोटा-सा बेंत था।

लोग उस के मुख की ओर देखते, फिर उस के वस्त्रों की ओर, और फिर मुँह फेर कर मुस्करा देते। वह किसी की ओर देखता नहीं था, किन्तु किसी अज्ञात शक्ति से उसे इस बात का अनुभव होता, और वह लज्जित-सा होकर बढ़ चलता।

वह सडक ऐसी नही थी जिस पर रात के समय कोई भी भद्र पुरुष जाता हो; क्यों कि वहां पर पुरुषों की 'सभ्यता' रात्रि मे नग्न ताण्डव करती थी। कादोई एक गली मे हो लिया। कुछ दूर चल कर वह किवाड के आगे रुक गया। उस ने ध्यान से किवाड पर लिखे हुए नम्बर को देखा, और फिर उसे खटखटाने लगा।

अन्दर से किसी ने कहा, "आता हूँ।"

किवाड खुला। नाटे-से पुरुष ने आ कर पूछा, "कहिए।"

"मुझे डॉक्टर सुन वेन मे मिलना है।"

उस ने तीव्र दृष्टि से कादोई की ओर देख कर पूछा, "आप का नाम ?"

"मैं उन के लिए पत्र लेकर आया हूँ। उसे पहुँचा दो।"—कह कर कादोई ने पत्र दे दिया।

किवाड बन्द हो गया। थोडी देर बाद फिर खुला और उसी व्यक्ति ने आ कर कहा, "आइए।"

कादोई आगे हो लिया। किवाड फिर बन्द हो गया। दोनो अँधेरे मे धीरे-धीरे सीढियाँ चढने लगे।

वह कमरा बहुत बडा नही था। एक कोने में छोटा-सा लैम्प जल रहा था और उस पर रगीन कागज़ का शेड लगा था। लैम्प के आगे ही चारपाई पर एक स्त्री लेटी थी, और पास ही एक प्रौढ पुरुष खडे थे। कादोई ने उन्हें देखते ही पहचान लिया और बोला, "डॉक्टर सुन!"

डॉक्टर ने घूमकर गम्भीर स्वर मे पूछा, "आप को तुगफू ने भेजा है ?"

"हाँ।"

"कहिए।"

"मैं आप के पास आदेश प्राप्त करने आया था। मैं वापस आ कर ·"

"आप कहाँ से आये हैं ? पहले आप क्या करते थे ?"

कादोई ने बहुत देर तक कोई उत्तर नही दिया, सिर झुकाये खडा रहा। फिर बोला, "खेद है कि मैं आप की बात का पूरा उत्तर नही दे सकता। इतना ही कह सकता हूँ कि मैं चीन का उच्छिष्ट हूँ और मेरा कोई नाम या घर नही है।"

डॉक्टर ने कुछ अचरज से कादोई की ओर देखा और फिर बोले, "तो आप

मुझ से किस सहायता की आशा करते है ?"

"मैं चीन लौट जाना चाहता हूँ। अगर आप इस कार्य मे मेरी सहायता कर सकें तो ..."

"धन द्वारा ?"

"नहीं, यात्रा का प्रबन्ध। मैं अजनबी हूँ।"

डॉक्टर गम्भीर हो कर कुछ देर सोचते रहे, फिर बोले, "देखिए, आप मुझे अपने विषय मे कोई बात बताने को तैयार नहीं हैं। तुगफू ने भी इतना ही लिखा है कि आप चीन से आये हैं और विश्वस्त हैं; किन्तु उसे भी आप की पूर्व-कथा नही मालूम है। ऐसी दशा मे···मैं आप की केवल आर्थिक सहायता कर सकता हूँ। आप बुरा न मानें, हम सहसा अपने को जोखिम मे नही डाल सकते।"

काशोई ने फिर सिर झुका लिया। थोडी देर बाद बोला, "आप ठीक कहते हैं। मैं भी क्रान्तिकारी हूँ और स्वयं इस बात को जानता हूँ···अच्छा अनुमति दीजिए, मैं जाता हूँ।"

"आर्थिक सहायता करने को मैं ···"

"नही, ऐसी दशा मे आप को किसी प्रकार की सहायता नही करनी चाहिए। मैं स्वीकार भी नही कर सकता।"

डॉक्टर कुछ देर खड़े उधर ही देखते रहे जिधर काशोई गया था। फिर शय्यारूढ़ स्त्री से बोले, "यह व्यक्ति चरित्रवान् जान पड़ता था, अवश्य ही कभी सफल होगा। किन्तु अभी नहीं, अभी नही···।"

इसी समय उस नाटे भृत्य ने प्रवेश किया। डॉक्टर ने कहा—"काओटी! हमे इस स्थान से हट जाना चाहिए। कौन जाने···।"

"कहाँ चलना होगा ?"

"जहाँ स्थान मिल जाय। इसी सप्ताह चीन चलना है···।"

शय्यारूढ़ स्त्री की मुख-मुद्रा खिल उठी। उसने कहा—"··· घर··· घर···"—और फिर चुप हो गयी।

3

"मीना! क्या सोच रही हो ?"

लीना ने चौंक कर कहा, "कुछ नही !"— किन्तु उस के विषादपूर्ण मुख पर एक हल्की-सी लाली दौड गयी ।

ताकिफू ने बडे आग्रह से फिर पूछा, 'कुछ तो अवश्य सोच रही थी !"

लीना फिर क्षण-भर सकोच करके बोली, 'मैं अपने देश की बात सोच रही थी। हमारे एक योग्य नेता थे वू सुग—वह न जाने कहाँ लापता हो गये हैं ···।" कहते-कहते लीना रुक गयी ।

उस ने फिर पूछा, "लीना, यह वू सुग कौन हैं ?"

"कौन हैं से तुम्हारा क्या अभिप्राय है, ता ? वह हाकाउ मे एक कालेज के प्रोफेसर थे ।"

"नही, लीना ! मेरी ओर देखो। जो मैं पूछती हूँ, उसका जवाब दो !"

"क्या ?"

क्षण-भर ता लीना की आखो की ओर देखती रही । फिर बोली, "लीना, जो मैं समझती हूँ, वह ठीक है न ?"

लीना ने फिर धीरे-धीरे सिर झुका लिया । थोडी देर बाद बोली, "नहीं ।"

ता ने हँस कर कहा, "नही तो जाने दो । मैं समझ तो गयी ही ।"

इसी समय प्रागण के फाटक से आवाज आयी, 'लीना ! ताकिफू ! किवाड खोलो !"

ता ने फाटक खोला तो काशेई अन्दर आ गया । उस का मुख देख कर लीना ने चिन्तित स्वर से पूछा, "क्या हुआ ?"

"कहता हूँ ।"—कह कर काशेई चुप हो गया और उस की ओर देखने लगा। ता सकेत समझ गयी और बोली, "पिता जी अन्दर प्रतीक्षा कर रहे होंगे, मैं जाती हूँ ।"—यह कह कर वह चली गयी ।

"लीना ! लीना ! वही हुआ जिस का भय था ।"

'क्या ?"

"डॉक्टर साहब ने पूछा, तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? मैंने कोई उत्तर नहीं दिया ।"

"फिर ?"

"फिर क्या ? उन्होने वही किया जो ऐसी दशा मे हम करते । जवाब दे दिया ।"

"फिर ? अब क्या करना होगा ?"

"अब कही से सहायता की आशा करना व्यर्थ है । यहाँ भी अधिक देर नही रहना चाहिए—तुगफू ने हमारा इतना सत्कार किया है, पर उस के पास भी तो हमारे पक्ष में कोई प्रमाण नही है · हमे अपने पैरो खडे होना होगा···

'तो फिर कोई उपाय सोचा है ?"

बहुत देर चुप रह कर काशेई बोला "एक सोचा तो है, पर··।"

"पर ?"

"शायद तुम उसे उचित न समझो।"

"फिर भी कहो तो ?"

काशेई लीना के पास आ कर खडा हो गया और उस के दोनो कन्धो पर हाथ रख कर कहने लगा, "जब मैं डॉक्टर के यहाँ से चला आ रहा था तब शहर मे इश्तिहार बँट रहा था उस की एक प्रति मैं भी ले आया हूँ।" उस ने जेब म एक पत्र निकाला और लीना के हाथ मे दे दिया । लीना ने उसे धीरे-धीरे पढ कर कहा, "मैं इस का और अपने कार्य का कोई सम्बन्ध नही समझती ।"

काशेई बोला, "लीना ! जापान-सरकार को चीन मे भेजने के लिए जासूस चाहिए । हम चीन के उच्छिष्ट शायद इस काम के योग्य हो सकेंगे । सरकार हमे चीन पहुँचा देगी । फिर "

"लेकिन फिर हम निकल नही पायेंगे और निकल भी गये तो कहाँ आश्रय मिलेगा ?"

"क्रान्ति म किसे किस का आश्रय ? कही लड लेंगे, अगर जीत गए तो आश्रय मिल ही जायेगा, अगर हार गये तो फिर आश्रय को करना ही क्या है ?"

लीना एक विषादपूर्ण मुस्कान से बोली, "यह तो ठीक है, किन्तु अगर कुछ कर लें तो अच्छा ही है।"

"और क्या कर सकते हैं ?"

"तुगफू की सम्मति क्या न ली जाय ?"

"वह शायद इस का विरोध करेंगे।"

' निर्णय तो हमारे ही हाथ मे है, उन की बात सुन कर भी हम जो उचित समझें कर सकते है।"

"जैसा कहो।"

क्षण भर दोनो चुप रहे। फिर लीना ने बडे कोमल स्वर मे पूछा, "भैया, सफल होने की कोई आशा भी है?"

न जाने कानेई ने क्या उत्तर दिया, उत्तर दिया भी या नही। साध्यरवि की अन्धकार मिश्रित लालिमा मे कानेई का मुख स्पष्टतया नही दीखता था और पक्षी रव के कारण कुछ सुन भी नही पडता था। अगर उस ने कोई उत्तर दिया भी तो वह प्रकृति की चित्र-विचित्र विशालता मे कही खो गया, जैसे शून्य के प्रवाह म अनेकों जीवनियाँ खो जाती हैं।

4

लोग क्रान्ति की उपमा प्रलय से देते हैं। किन्तु क्रान्ति की लपट के बीत जाने के बाद जिस प्रकार एक समूचा देश भग्न-जीवनियो से, उत्पाटित सम्बन्धो से, दीन, जीर्ण, भूखे, आहत, निराश मानव-स्तूपो से भर जाता है, उस की उपमा प्रलय में कहाँ है? उस जीवित व्यथा-सागर के आगे प्रलय की अखण्ड निस्तब्धता क्या रह जाती है?

पेकिंग म आतक छाया हुआ था। क्रान्ति की लपट पेकिंग तक नही आयी थी। हाकाउ से परास्त होकर नानकिंग की ओर चली गयी थी, किन्तु फिर भी पेकिंग मे आतक छाया हुआ था। जिस निर्दयता से युवान शिकाई ने उपद्रवो का दमन किया था, जिस प्रकार क्रान्तिकारियो के सिर काट-काट कर नगरो और गाँवो की गलियों मे लटका दिये गये थे, उस की कथाएँ सुन कर ही पेकिंग की आलस्य-प्रिय, सुखपालित प्रजा के प्राण सूख गये थे, और आज वही युवान शिकाई राष्ट्र-सचिव हो कर पेकिंग मे प्रवेश कर रहा था। चीन की बागडोर एक उच्छृखल साहसिक के हाथो दी जा रही थी। प्रजा दिन गिन रही थी कि कब सुन यात सेन लौट आयें। चारो ओर लोग कह रहे थे, "डॉक्टर सुन येन आ रहे हैं! डॉक्टर सुन येन आ रहे हैं! चीन के उद्धारक आ रहे हैं!" किन्तु प्रतीक्षा के ज्वर मे प्रलाप कर रही प्रजा को कोई विश्वस्त सूचना नहीं मिलती थी।

बिजली गिरने से पहले वातावरण की जैसी दशा होती है, उत्तप्त, कम्पायमान, अव्यक्त अशान्ति से पूर्ण पेकिंग का वातावरण वैसा ही हो रहा था। पर बिजली—बिजली अभी गिरी नही थी, और आकाश आच्छन्न भी नही प्रतीत होता था।

फिर एकाएक ज्वालामुखी के विस्फोट की तरह समाचार आने लगे, "युवान शिकाई के मुख्य सहायक टंग शाओ द्रोही हो गये।" "डॉक्टर सुन येन आ गये!" "युवान शिकाई ने क्रान्तिकारियो से सन्धि कर ली।" प्रजा उद्भ्रान्त हो कर सोचती ही रह गयी कि किस का विश्वास किया जाय और किस का नही।

मध्याह्न का समय था, किन्तु पेकिंग की गलियो मे अन्धकार था। एक गली मे हो कर एक पुरुष चला आ रहा था और उस के पीछे-पीछे एक स्त्री। दोनो के मुख उदास, किन्तु सशक थे, और वे बडी तेज़ गति से युवान शिकाई के महल की ओर अग्रसर हो रहे थे।

पुरुष ने धीरे से अपनी सहगामिनी से कहा, "लीना! युवान शिकाई के अधीन हो कर न जाने क्या-क्या करना पडेगा!"

लीना बोली, "सम्भव है किन्तु अपना स्थान सुदृढ कर के हम क्रान्ति की रक्षा कर सकेंगे।"

काशेई ने विचारपूर्ण स्वर मे कहा, "लीना, अगर हमे कोई पुराने मित्र मिल गये तो···"

"भैया, अब इधर-उधर की सम्भावनाएँ सोचने का समय नही है! अपना ध्येय—अपना ध्येय · बस "

5

"राष्ट्रपति युवान की जय!"

युवान शिकाई के महल का विस्तृत प्रागण प्रजागण की भीड से भरा हुआ था। चारो ओर महल की अटारियो पर युवान की सेना के अफसर और अन्य सहायक बैठे हुए थे। इन्ही मे एक ओर काशेई और लीना भी बैठे थे। दोनो विलायती कपडे पहने हुए थे और उन की टोपी माथे पर खिची हुई थी, जिस से उन का मुख स्पष्ट नही दीख पडता था।

प्रांगण के मध्य मे एक ऊँचे मच पर युवान शिकाई बैठा था। उस के चारो ओर अन्य राज्याधिकारी खडे थे। सब लोगो की आँखें इसी मच की ओर लगी हुई थी।

काशेई को अनुभव हुआ, लीना बडे ज़ोर से उस की भुजा को दबा रही है। उस ने लीना के मुख की ओर देखा। लीना एकाग्र हो कर मच पर खडे किसी व्यक्ति की ओर देख रही थी। काशेई ने उस की दृष्टि का अनुसरण किया।

काशेई भी चौंक कर बोला, "लीना! लीना! यह तो वू सुग है।"

लीना के विस्फारित नेत्रो मे आँसू आ गये थे, वह कुछ बोल नही सकी, केवल मन्त्र-मुग्धा की तरह उस व्यक्ति की ओर देखती रह गयी।

शायद उन की दृष्टि की तीक्ष्णता उस के अन्तस्तल मे चुभ गयी। उस ने भी आँख उठा कर देखा और देखता ही रह गया। उस के मुख से दो-चार अस्फुट शब्द ही निकल पाये—फिर उस ने घृणा से मुँह फेर लिया। लीना और काशेई ने भी सिर झुका लिया और जब तक उत्सव होता रहा, इसी प्रकार बैठे रहे। आत्म-विस्मृति की मात्रा इतनी बढ गयी थी कि जब उत्सव समाप्त होने पर राष्ट्रपति युवान का जयघोष हुआ, तब वे उस मे भाग लेना भी भूल गये।

6

"काशेई! मुझे मालूम हुआ है कि युवान शिकाई का मुख्य सहायक यह टेंगसाओ ही है। सुना है कि वह वास्तव मे प्रजातन्त्रवादियो से सहानुभूति रखता है, पर जहाँ तक मैं जानती हूँ, यह युवान का आदमी है।"

"वह है कौन? कुछ मालूम हुआ?"

"नही। जब युवान हावाउ से लौटा, तब यह व्यक्ति उस के साथ आया। उस से पहले यह कौन था, कहाँ से आया, कोई नही जानता।"

"फिर! यह रहता कहाँ है, जानती हो?"

"हाँ, मैं पूरा पता लगा लायी हूँ। उस के घर के रास्ते, उस का शयनागार इत्यादि सब..."

"अच्छी बात है, तो अब..."

"भइया, मैं यह सोच रही हूँ कि इस प्रकार का काम करने से हानि होगी।"

अभिशापित!

"क्या ?"

"अगर हम पकड़े गये तो युवान को क्या उत्तर देंगे ?"

"युवान को स्वयं ऐसा सन्देह है कि टंग की सहानुभूति क्रान्तिकारियों से भी है। हमारे कहने पर⋯"

'एक और बात है।"

"क्या ?"

"यह काम कौन करेगा ?"

"मैं।"

"नही। इसे मेरे हाथ सौंप दो।"

"क्यों ?"

"मैं वहाँ का पूरा पता जानती हूँ, तुम वहाँ अनभिज्ञ होगे। और⋯"

"और क्या ?"

"कुछ नही, इतना ही पर्याप्त है।"

काशेई ने लीना का हाथ थाम कर कहा, "लीना, तुम मुझ से कुछ छिपा रही हो ?"

लीना ने सिर झुका लिया।

काशेई ने बड़े आग्रह से पूछा, "लीना, बताओगी नही ?"

लीना सिर झुकाये ही बोली, "मुझे तुम्हारे अनिष्ट की कल्पना बार-बार होती है, न जाने क्यों ?"

"नहीं लीना, यह भी सच नही है।"

लीना बहुत देर तक फिर चुप रही। फिर शीघ्रता से कहने लगी, "मुझे टंग के व्यक्तित्व के बारे मे कुछ मालूम हुआ है, वह तुम्हारा एक पुराना मित्र है। इसी लिए शायद तुम मोह में पड कर⋯।"

'वह कौन है, लीना ?"

लीना ने क्षण-भर काशेई की ओर देखा, फिर बोली, "वू सुग !"

काशेई ने धीरे से कहा, "तभी तो⋯ तभी तो⋯"

"क्या ?"

"कुछ नही। मैं समझ गया, पर तुमने मुझ से क्यों नही कहा ?"

"वू सुग तुम्हारे मित्र थे · "

"पर लीना, यहाँ मैत्री का प्रश्न नही हो सकता और फिर तुम भी तो वू सुग को "

"भइया, उस बात को जाने दो! लेकिन यह काम मैं ही करूँगी।"

'क्यो ?"

"मुझे प्रतीत होता है कि इस काम मे मैं अधिक दृढ हूँगी।"

'क्यो, लीना, तुम्हे मेरा विश्वास नही है ?"

"है! पर · "

"पर क्या ?"

'यह सब तर्क मैं नही जानती, मेरा मन कहता है और मैंने निश्चय कर लिया है · मेरा आग्रह रहने दो।"

काशेई चुप-चाप लीना की ओर देखता रहा, उस ने 'हाँ' या 'न' कुछ भी नही कहा। किन्तु लीना ने समझ लिया कि काशेई उस का आग्रह नही तोड सकेगा।

7

दिन-भर की उडी हुई धूल से आकाश भर गया था और अपराह्न की धूप मे पीला प्रतीत हो रहा था। नदी का चौडा पाट, मन्थर-गति पीले जल के कारण ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो पृथ्वी माता के शरीर पर किसी विराट् फोडे मे पीप बही जा रही हो।

ससार मे वसत का राज्य था, किन्तु चीन मे अभी तक शिशिर की जडता छायी हुई थी। और स्थानो मे रगो की विचित्र छटा छा रही थी; किन्तु चीन मानो क्रान्ति-ज्वर के एक ही आक्रमण की भीषणता से पीला पड गया था।

पेकिंग के एक पीले-से घर मे दस-बारह व्यक्ति सम्मिलित थे। कुछ ने युवान शिकाई की सेना की वर्दी पहनी हुई थी। सभी की मुख-मुद्रा रहस्य से भरी हुई थी, मानो वे किसी अत्यन्त गोपनीय विषय पर विचार कर रहे हो।

एक, जो कि अपनी मुद्रा से सम्मिलित व्यक्तियो का नेता जान पडता था,

कह रहा था—"बन्धुओ ! उस के विषय मे हमे शीघ्र ही निर्णय कर लेना चाहिए। वह विद्वान् है और उस मे प्रतिभा है, उसे हम भुला नही सकते···"

एक सदस्य बोला, "टेंगशाओ, आप कोई क्रियात्मक मत भी तो दीजिए !"

"देश-द्रोह के प्रति हमारा क्या भाव हो सकता है ?"

"लेकिन, उस के पास उस के द्रोही होने का क्या सबूत है ?"

"मैं उसे बहुत देर से जानता हूँ। पहले उस ने मेरे साथ काम किया था। और उस की बहिन भी···उस की बहिन···"

"उस की बहिन क्या, वू सुग ?"

किवाड धडाके से खुला। लोगो ने घूम कर देखा—एक चीनी गाउन पहने हुए एक सुन्दरी हाथ मे पिस्तौल लिये खडी थी। उस के धधकते हुए अचल अनिमेष नेत्र टेंगशाओ की ओर घूर रहे थे।

उस ने बिना टेंगशाओ के मुख से आँख हटाये फिर कहा—और उस की वाणी में असि-धार-सा तीक्ष्ण तिरस्कार था

"उस की बहिन क्या, वू सुग ?"

वू सुग हिला नही। धीरे-धीरे बोला, "उस की बहिन भी विश्वासघातिनी थी।"

"वू सुग, तुम झूठे हो ! तुम्हें शर्म आनी चाहिए ! तुम—एक क्रान्तिकारी दल का नेतृत्व छोड कर एक क्रान्ति के शत्रु की दासता करने वाले, एक वीर की प्रतिष्ठा पर झूठा लाञ्छन लगाने वाले, उस की हत्या का आयोजन करने वाले, तुम किसी को विश्वासघाती कह सकते हो—तुम, जो कि स्वयं मित्रघाती, प्रणयघाती, देशघाती हो !"

टेंगशाओ उसी प्रकार शान्त भाव से बोला, "मैं एक स्त्री की गालियो का उत्तर नही देना चाहता। मैं जिस उद्देश्य से युवान की सेना मे भरती हुआ था, उसे मैं ही जानता हूँ ·"

"क्या उद्देश्य था, ज़रा मैं भी तो सुनूँ !"

"मैं तुम्हारे आगे जवाब देने को बाध्य नहीं हूँ। किन्तु इधर आओ, मैं तुम्हें दिखा देता हूँ···देख कर फिर अगर तुम लज्जा मे डूब मरो, तो···"

किसी ने पूछा, "यह वू सुग कौन है ?"

किन्तु उस हलचल में मानो यह प्रश्न सुना ही नहीं गया।

वह स्त्री बेधड़क आगे चली आयी। टैंगशाओ ने उसे एक दरवाज़े के पास ले जा कर दरवाज़ा खोल दिया। खोलते-खोलते बोला, "हम सब सशस्त्र है, तुम कहीं भाग नहीं सकती।"

स्त्री ने दरवाज़े पर पैर रखते ही देखा—सामने लगभग चालीस वर्ष का एक व्यक्ति खड़ा था। दरवाज़े में टैंगशाओ को देखते ही वह बोला, "क्या है, टैंग ?"

स्त्री ने एक बार सिर से पैर तक उस व्यक्ति को देखा।

उसके अंग शिथिल पड़ गये, पिस्तौल उस के हाथ से गिर गया। उस ने टूटे हुए स्वर में कहा, "डॉक्टर सुन यात ''सेन!"—और फिर बैठ गयी।

टैंग ने पूछा, "अब क्या कहती हो ?"

कोई उत्तर नहीं मिला! टैंग ने कहा, "देश-द्रोही लियाग चिवाओ की बहिन—उर्फ लीना शेई, मैं तुम्हें प्रजातन्त्र के नाम पर बन्दी करता हूँ।"

वह स्त्री हिली भी नहीं, सिर झुकाये बैठी गुनगुनाती रही—"वू सुग, वू सुग! मैं कुछ नहीं समझ पाती।"

8

महल के एक बड़े कमरे में युवान शिकाई और कार्शेई बैठे हुए थे। उन के आगे मेज पर कुछ कागज पड़े थे। बात करते-करते युवान बार-बार उन्हें उठा कर पढ़ लेता था।

कार्शेई ने पूछा, "कहिए, और क्या आज्ञा है ?"

"हाँ, अभी टैंगशाओ की बात बाकी रह गयी। मुझे उस के बारे में बहुत-से समाचार मिले हैं।"

कार्शेई उत्सुकता से बोला, "क्या ?"

'परसों जब वह लापता हो गया, तभी मैंने उस के पीछे चर भेजे थे। अब मालूम हुआ कि वह शाघाई में पहुँच गया है।"

"और कुछ ?"

"हाँ! यह भी मालूम हुआ है कि वह वास्तव में हांकाउ में क्वोमिङ्ताङ्ग दल का प्रधान था—वू सुग—जो यहाँ के बलवे के बाद लापता हो गया था।

और···" काशेई प्रतीक्षा मे चुप बैठा रहा। उस की ओर देख कर युवान फिर बोला, "और यह भी मालूम हुआ है कि उस दिन डॉक्टर सुनयात सेन छिप कर उस के घर मे ठहरे थे।"

"सुनयात सेन! टेंगशाओ के घर मे!"

थोडी देर तक दोनो चुप रहे। फिर काशेई धीरे से बोला—"मुझ से चालती हुई···"

"क्या कहा?"

"कुछ नही, मैं अभी तक टेंगशाओ को आप का विश्वस्त व्यक्ति समझता था।"

"गलतियाँ सब से होती हैं, लेकिन अब तुम्हारी क्या राय है?"

काशेई चुप रहा। युवान फिर बोला, "मैंने शाघाई मे अपने चरो को सूचना दी है। मालूम हुआ है कि उस ने वहाँ पर सुगचाओ जेन के नाम से घर लिया है और वही रहता है।"

"तो आप क्या करना चाहते हैं?"

"मैंने उन्हें लिख भेजा है कि उस का पता लगते ही उसे···"

युवान ने एक कुटिल हँसी हँस कर एक अँगुली धीरे से अपनी गर्दन पर फेर दी।

काशेई चुपचाप देखता रहा।

युवान फिर बोला, "पहले मैंने एक और चाल सोची थी; पर शायद उस मे देर लगती, इस लिए···"

"वह क्या चाल थी?"

"मैंने सोचा था,"—युवान कुछ हिचकिचाते हुए बोला—"मैंने सोचा था कि तुम्हारी बहिन लीना वहाँ जाय और—और टेंग—यानी वू सुग—को··· लीना बहुत सुन्दरी है।··पर वह है कहाँ?"

काशेई दूसरी ओर देखते हुए बोला, "वह बाहर गयी हुई है नानकिंग मे कुछ पता लगाने। वहाँ मालूम हुआ है कि क्वोमिंहताङ का एक बडा दल बन रहा है। पर यह तो बताइए, वू सुग का निर्णय कब तक हो जायगा?"

"तीन दिन मे, या चौथे दिन अवश्य···।"

काशेई बोला, "अच्छा, अब अनुमति दें, मैं जा कर काम देखूँगा।"

"अच्छा, पर लीना कब वापस आयेगी ?"

काशेई बोला, "पता नहीं !" और जल्दी से बाहर चला गया।

बाहर आते ही काशेई ने एक लम्बी साँस ली और धीरे से बोला, "उफ ! कितना अन्तर है, कितना ! लीना, तुम कहाँ हो ? और मैं···मेरा सिर कैसा घूमता है ''

फिर वह धीरे-धीरे प्रागण के द्वार की ओर चल दिया।

प्रागण मे शान्ति थी। भृत्यगण अपना अपना काम करते चले जा रहे थे, किसी ने काशेई की ओर नहीं देखा। समृद्धि के कुछ ही दिनों मे वे दशव्यापी क्रान्ति को भूल गये थे, फिर किसी एकाकी व्यक्ति के अन्तस्तल की क्रान्ति की ओर उन का ध्यान कैसे पहुँचता ?

9

रात्रि ····

गगन की नीलिमा धूल के सम्मिश्रण से मैली हो गयी थी। तारागण कहीं नहीं दीख पड़ते थे, केवल इधर-उधर कहीं कहीं धुएँ के स्तम्भ खड़े हो रहे थे। वे इतने अचल खड़े थे कि भावना होती थी मानो धूसर आकाश को गिरने से उन्हीं ने थाम रखा हो।

आकाश के मध्य मे एक बड़ा-सा पीला अस्फुट बिम्ब दीख पड़ता था; शायद यह धूल से आवृत चन्द्रमा का मुख था।

काशेई अपने घर के कमरे मे तीव्र गति से चक्कर लगा रहा था—अँगीठी से मेज तक, मेज से किवाड़ तक, किवाड़ से फिर वापस अँगीठी की ओर। उस के हाथ अनियन्त्रित-से हो कर खुलते और बन्द हो जाते थे। कभी-कभी वह चलते-चलते रुक जाता और एक हाथ की हथेली को दूसरे के घूँसे से पीट कर फिर और द्रुत गति से चलने लगता। कभी-कभी वह घड़ी की ओर देख लेता।

उस के शरीर पर कोट इत्यादि नहीं था। वह रेशमी कमीज और ब्रिचिस पहने था, और उस के सिर पर एक बड़ा-सा रंगदार रूमाल बँधा था।

एकाएक वह रुक गया और क्षण-भर एकाग्र हो कर कमरे के लैम्प की ओर देखता रहा। इतने समय मे मानो उस के मुख पर से बादल हट गये हों, उस की चिन्तित मुद्रा अब दृढ़ निश्चय में परिणत हो गयी थी।

उस ने मानो लैम्प से कहा, "अपनी मूर्खता के प्रतिकार का और कोई उपाय नहीं है उसे बचाना है।" फिर शीघ्रता से मेज पर से कुछ कागज उठा कर जेब मे रखे। फिर मेज के दराज मे से चमडे के बटुओं मे बन्द दो पिस्तौलें ले कर पेटी मे खोंस ली। फिर उस ने एक बार खिड़की से बाहर नगर की बस्तियो की ओर देखा और धीरे-धीरे बोला, "पेकिंग ! मैं लीना को यहाँ खो चला हूँ, अब शाघाई मे शायद स्वय खो जाऊँगा, पर एक नामहीन पुरुष और उस की बहिन की तुम्हें क्या परवाह है, तुम जो चवालीस करोड व्यक्तियों के प्राण हो।"

फिर वह घूमा और खटाखट सीढियों से नीचे उतर गया।

10

उस अस्पष्ट ज्योत्स्ना मे पृथ्वी पीली सी प्रतीत हो रही थी, आकाश भी पीली पीला जान पडता था। दोनों के रगो मे इतनी समता थी कि क्षितिज का पता नही लगता था, यह भी नही जान पडता था कि कहाँ पृथ्वी की सीमा का अन्त और आकाश का प्रारम्भ होता है।

और उस विश्वव्यापी पाण्डुता मे, स्वय पीला-सा प्रतीत हो रहा, किन्तु एक भीमकाय काले घोडे पर सवार, काशेई शाघाई की ओर बढा चला जा रहा था—उस की आँखें पथ की ओर नही, अपने सामने शून्य म किसी स्थिर ध्रुव पर लगी हुई थी।

नियति का प्रतिद्वन्द्वी, निराश न होते हुए भी निरीह, कामना-रहित होते हुए भी दुर्जेय

शाघाई

एक चौडी सड़क के दोनों ओर बडी-बडी अट्टालिकाएँ थी। सडक पर ट्रामगाडियाँ दौड रही थी और उन मे प्रत्येक देश और राष्ट्र के लोग चढ़-उतर रहे थे। किन्तु उस सडक और उस के दोनो ओर की गलियो मे शराबखानो और जुआघरो की भरमार थी, और उन मे गन्दे, विकृत, रुग्ण व्यक्ति बैठे हुए थे। इन्ही की ऊपरी मजिलो के छोटे-छोटे झरोखो मे रँगे हुए चेहरो वाली अनेकों स्त्रियाँ, उन के मुखों पर एक स्थिर, अचल मुस्कान चिपकी हुई थी और उन

की आँखों मे कुम्भीपाक की बीभत्सता एव लालसापूर्ण आह्वान की ओट मे नाच रही थी।

कवियों ने सन्ध्या का जो भी वर्णन किया है, शाघाई की सन्ध्या पर कोई भी लागू नहीं होता। पक्षियों का कूजन, आकाश की लालिमा, शान्ति और तल्लीनता की अनुभूति—शाघाई मे कुछ भी नही था। शाघाई की सन्ध्या कृत्रिम और कर्कश रव से, कृत्रिम और कठोर प्रकाश से, कृत्रिम सुख और विषय-लिप्सा से भरी हुई थी। मनुष्य-रचित सभ्यता की विराट् चक्की मे नैसर्गिकता पिस चुकी थी और उस की धूल से अस्वाभाविक और बीभत्स लालसाओं की तृप्ति के लिए उपकरण तैयार किये जा रहे थे।

नैसर्गिकता के प्रेत के उस नृत्य-प्रागण मे रात्रि की प्रगति की ओर किसी का भी ध्यान नही था। ज्यों ज्यों रात बीतती जाती थी, त्यों-त्यो बडी सडक सूनी होती जाती थी, और उसका प्रकाश बुझता जाता था, किन्तु उन गलियों म प्रकाश बढ़ता जा रहा था, उन की आकीर्णता भी बढ़ती जाती थी। उस प्रेत का नर्तन अधिक अनियन्त्रित, उन्मत्त होता जा रहा था।

एकाएक उस बडी पक्की सडक पर घोडे की टाप सुनायी पड़ी—टप-टप! टप-टप! टप-टप!

एक भीमकाय घोडे पर एक सवार! उसकी आँखों मे उग्र तपस्या की और घोर मदाध की छाया साथ ही साथ नाच रही थी। घोडा अवरुद्ध गति से चला जा रहा था, उस का और सवार का शरीर कीच मे सना हुआ था, घोडे के मुँह मे फेन गिर रहा था, और कभी-कभी उस की गर्दन एकाएक नीचे झुक जाती थी, किन्तु सवार लगाम को एक झटका देता और घोडा फिर सिर उठा कर दौड़ चलता। मालूम होता था उस सवार की अन्तर्दीप्ति उसे और उस के घोड़े को किसी बृहत् उद्देश्य से प्रेरित कर रही थी और वे बाध्य होकर बढ़े जा रहे थे। सवार के वक्ष पर जो पीतल का चिह्न था, वह कभी-कभी जगमगा उठता था, मानो आन्तरिक दीप्ति के प्रकोप की छाया उस में झलक उठी हो।

वह सड़क इतनी सूनी थी कि किसी का ध्यान भी घुड़सवार की ओर आकृष्ट नहीं हुआ। जब वह उन प्रकाशमय गलियों को पार कर के एक अँधेरी गली में घुसा, तब उस ने देखा—एक कोने मे छिपे हुए चार-पाँच व्यक्ति चौंके और फिर शीघ्र ही अन्तर्धान हो गये।

पर वह उन का अनुसन्धान करने के लिए नहीं रुका। कुछ आगे जा कर उस ने एकाएक घोड़े की लगाम खींची और घोड़े के खड़ा होने से पहले ही कूद कर अलग हो गया। घोड़े ने दीनता से एक बार सवार की ओर देखा और फिर सिर उठा कर एक बार एक हिनहिनी सी, और लड़खड़ा कर गिर गया।

सवार ने उस की ओर भी नहीं देखा। वह एक ओर सीढ़ियाँ चढ़ गया और एक सूने कियाड़ पर पहुँचा। उस ने धीरे से कहा, "शायद देर हो गयी है!"—और फिर दौड़ कर अन्दर जा पहुँचा।

एक छोटे कमरे में एक दिया टिमटिमा रहा था। उसके अस्पष्ट प्रकाश में भूमि पर पड़ा हुआ खून से लथपथ एक शरीर और उसके सिरहाने खड़ी हुई *एक श्वेत-वसना स्त्री दीख पड़ती थी—उस के हाथ शायद बँधे हुए थे।*

काशेई दौड़ा हुआ आ रहा था, दरवाज़े पर एकाएक रुक गया। बिजली से विक्षिप्त व्यक्ति की तरह एक बार उसने चारों ओर देखा, फिर भर्रायी हुई आवाज़ में बोला, "कू सुग, मुझे देर हो गयी, और लीना! लीना! तुम..."

उस का शरीर एकाएक ढीला पड़ गया, मुख पर से वह दीप्ति बुझ *गयी—वह काँप कर आगे की ओर गिर पड़ा।*

11

जब काशेई की आँखें खुलीं, तब प्रकाश हो रहा था। घर में बहुत भीड़ लग रही थी, और आलोचना का हुल्लड़ मचा हुआ था।

काशेई ने सिर कुछ एक ओर घुमा कर कहा—"लीना!"

"क्या है, भैया?"

"कुछ नहीं, यह भीड़ क्या है?"

लीना ने एक हाथ काशेई के मस्तक पर रख दिया, कुछ बोल नहीं सकी।

काशेई ने आँखें बन्द कर लीं।

किन्तु आलोचना बन्द नहीं हुई। कोई कह रहा था, "इसी ने खून किया है! इसी ने!"

"पर इस के तो सेना का बैज लगा हुआ है?"

"वह औरत कौन है?"

"तो क्या सैनिक खून नहीं करते ?"

"यह युवान शिकाई का आदमी होगा।"

"वह जरूर इस की प्रेमिका है।"

लीना का हाथ काँप गया। काशेई चौंका और विकृत मुद्रा से बोला, 'लीना, ये सब क्या बक रहे है ?"

उस ने उठने का प्रयत्न किया, किन्तु एक आह भर कर रह गया, "कितना थक गया हूँ !"

दर्शकों मे से फिर एक ने कहा, "यह देखो, क्या है ?"

मेज पर से एक कागज उठा कर वह पढने लगा—"लियाग चिचाओ, उर्फ काशेई, देशद्रोही···"

काशेई का शरीर फिर हिला, वह उछल कर खड़ा हो गया और लीना का हाथ थाम कर बोला—"चलो !"

लीना चुपचाप उस के साथ हो ली। उस की आकृति देख कर किसी को उन्हें रोकने का साहस नहीं हुआ। वे बाहर चले गये।

जब पुलिस वहाँ पहुँची तब उन दोनों की खोज आरम्भ हुई; किन्तु उन का कोई पता नहीं मिल सका।

12

"शाघाई, मार्च, 1912

"आज सवेरे छ बजे नगर की मुख्य सड़क के पास एक गली मे एक सनसनी फैला देने वाली घटना का पता चला है। कहा जाता है कि सुगचाओ जेन नामक व्यक्ति के घर के बाहर एक मरा हुआ घोडा पाया गया, जिसे देख कर लोगों को कौतूहल हुआ और वे घर के भीतर चले गये। वहाँ सुगचाओ का मृत शरीर पड़ा हुआ था और उस के पास एक स्त्री की गोद में एक और व्यक्ति बेहोश पड़ा था। लोगों के पहुँचने पर वे दोनो भाग गये। बहुत खोज करने पर भी इन का कोई पता नहीं चल सका। सुगचाओ की हत्या तलवार से या कटार से की गयी मालूम होती है। उसके शरीर पर दस-बारह घाव हैं। मृत्यु का कारण उस के सिर का घाव बताया जाता है।

"बाद की खबर :

"सवेरे की घटना के विषय में बहुत-सी और बातों का पता चला है जिस से हत्या का निमित्त कुछ स्पष्ट होने लगा है। घर की तलाशी में जो कागज मिले, उन से विदित होता है कि सुगचाओ वास्तव में हाकाउ के क्रान्तिकारी दल क्वामिङ्ताङ का नेता वू सुग था, जो कि हाकाउ के उपद्रव के बाद से ही लापता हो गया था। यह भी मालूम हुआ है कि उस के बाद यह व्यक्ति टेंगशाओ के नाम से युवान शिकाई की सेना में भी रहा, किन्तु भेद खुल जाने पर भाग कर शाघाई म आया और सुगचाओ जेन के नाम स रहने लगा।

'यह भी पता चला है कि जो स्त्री और पुरुष लापता हो गये, वे भी हाकाउ के ही हैं। पुरुष का असली नाम लियाग चिचाओ है जो कि हाकाउ की क्योमिङताङ से, वू सुग के कहने पर निकाल दिया गया था। स्त्री इस की बहिन थी। ये दोनों व्यक्ति भी युवान शिकाई की सेना में चर का काम करते थे। अनुमान किया जाता है कि पेकिंग में इस स्त्री ने वू सुग की हत्या का प्रयत्न किया था, किन्तु सफल नहीं हुई और बन्दी कर के यहाँ लायी गयी थी। यहाँ शायद क्रान्तिकारी उस के अभियोग का निर्णय करने वाले थे। सुगचाओ के घर से जो कागज मिले हैं, उन से इस अनुमान की पुष्टि होती है।

"अगर यह अनुमान सत्य है तो यह सम्भव है कि लियाग चिचाओ अपनी बहिन को छुडाने के लिए अथवा युवान की आज्ञा से शाघाई आया हो और सुगचाओ की हत्या कर के अपनी बहिन को ले गया हो। यह व्यक्ति पेंकिंग से आया था, इस का सबूत घोड़े की गर्दन पर लगा हुआ पेकिंग-सेना का चिह्न है।

"पुलिस अनुसन्धान कर रही है, किन्तु यहाँ यह भावना है कि युवान के कार्य में कोई अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, क्योंकि विदेशी राष्ट्र उस से मित्र-भाव रखना चाहते हैं।"

13

सीक्याग नदी में पानी बढ़ रहा था। वर्षा की बड़ी-बड़ी बूँदें जब नदी की सतह पर पड़ती, तब नदी का पानी उछल पड़ता था, मानो उन बूँदों का स्वागत कर रहा हो।

नदी के किनारे, पतली कीच में, दो सवार सरपट चले जा रहे थे—एक पुरुष और एक स्त्री। दोनों के चेहरों पर व्यथा के भाव थे और उन के कपड़े

अस्त-व्यस्त थे। स्त्री के केश खुले थे; किन्तु गीले और कीच से सने होने के कारण वे भारी हो गये थे और उस आँधी मे इधर-उधर उडते नही थे, केवल कन्धे पर पडे थे और घोडे की गति के साथ उठते और गिरते रहते थे।

वे दोनो थे लियाग और शँ-वा, किन्तु उन की मुख-मुद्रा मे कितना परिवर्तन आ गया था! इन छ. मास के अनुभवो ने उनकी आकृति मे अन्धेर मचा दिया था, और वे एक-दूसरे का सम्बोधन भी किसी नये नाम मे कर रहे थे।

"साइमुन! हम नार्नकिंग कब पहुँचेंगे?"

"शायद दो दिन मे; पर तुम पेकिंग जाना अधिक उचित समझती हो या नार्नकिंग?"

"मैं क्या बताऊँ? हम लोग अब क्या करेंगे, इसी पर सब-कुछ निर्भर करता है।"

थोडी देर तक दोनो चुप रहे। फिर स्त्री ने पूछा —"क्या सोच रहे हो?"

"कुछ नही! एक दिन की, याद आ रही है।" फिर थोडी देर रुक कर— "उस दिन की, जब हाकाउ से···"

"भैया, यह सब क्यो सोचते हो? अब भविष्य मे क्या करना है, यही सोचना है।"

"अब हम शायद कुछ नही कर सकते। सिवाय···"

"सिवाय क्या?"

फिर कुछ रुक कर—"मै पेकिंग जाऊँगा और वहाँ युवान को···"

"क्यो?"

"और हम कुछ नही कर सकते। उस अभिशाप से छूटने का हमारे पास कोई उपाय नही है।"

"भैया! भैया! निराश न होओ! अब भी हम विश्वास प्राप्त कर सकेंगे, अपने नाम से यह दाग हटा सकेंगे··"

साइमुन एक विद्रूप हँसी कर बोला, "शायद! पर दाग़ हटने से पहले हम ही हट जायेंगे।"

दोनों विलकुल चुप हो गये। रात्रि की प्रलयान्वित अशान्ति मे उन के हृदयो की प्रज्वलनमय अशान्ति छिप गयी।

रात्रि पानी बरसा रही थी, उन के हृदय आँसू बरसा रहे थे। रात्रि के

पानी से नदी का प्रवाह बढ़ता जा रहा था, किन्तु आँसू बह-बह कर उस के आशा-निर्झर को सुखाये जा रहे थे।

अभिशाप की छाया · नियति का प्रवाह

14

युवान ने अपनी शक्ति पुष्ट कर ली। 'प्रजातन्त्र' के आदर्श को वह भुला चुका था, पार्लियामेंट तोड दी गयी थी और राज-कार्य का भार युवान ने अपने हाथो में ले लिया।

अब महल मे अनेक परिवर्तन हो गये थे। कोई व्यक्ति सहसा भीतर नही जा पाता था, न कोई बिना आज्ञा के युवान के आगे प्रार्थना कर सकता था। अब युवान प्रजातन्त्र के सचालक मात्र नही रह गये थे, वे अब सम्राट् पद के अभिलाषी थे।

उस दिन भी, जब दस बजे युवान की अन्तरग कमेटी की सभा आरम्भ हुई, तब महल के बाहर सैनिक पहरा था। जिस समय वह व्यक्ति दौड कर पहरे के पार निकल कर महल के अन्दर घुस गया, तब सैनिक स्तब्ध रह गये और उसे रोक नही सके, किन्तु फिर भी उसका पीछा करने और लोगो को सावधान करने मे उन्हे देर नहीं लगी।

जब तक वह व्यक्ति सभा-भवन मे पहुँचा, तब तक वह सैनिको से घिर चुका था। एक बार उस ने चारों ओर देखा, फिर जेब से पिस्तौल निकाल कर मध्य मे बैठे हुए युवान शिकाई की ओर चार-पाँच फायर किये। एक गोली युवान के कान के पास होकर चली गयी, किन्तु उस के लगी कोई भी नही।

फिर किसी ने उस व्यक्ति का हाथ पकड लिया। उस ने शीघ्रता स हाथ छुडाया और अन्तिम फायर अपने मस्तिष्क पर कर लिया।

सभा मे शोर मच गया था। उस व्यक्ति के पास आ कर युवान शिकाई बोला, "अरे काशेई!"

काशेई ने तिरस्कारपूर्वक कहा, "नही, काशेई नही, द्रोही, घातक, अभिशापित-अभिशापित-अभि···"

फिर एकाएक उसका शरीर नि स्पन्द हो गया।

वे उसे उठा कर बाहर ले गये।

15

शव उठाये आठ सैनिक दौड़े जा रहे थे, लोग उत्सुक हो कर निकट आते; किन्तु सैनिकों के—युवान शिकाई के सैनिकों के डर से पीछे हट जाते थे।

जब वह वीभत्स जुलूस चौक से कुछ आगे निकला, तो उसे रुक जाना पड़ा। सड़क पर भीड़ लगी हुई थी, उस के मध्य में खड़ी एक स्त्री परचे बाँट रही थी और साथ-साथ कहती जाती थी, "युवान शिकाई का नाश होने वाला है! युवान शिकाई का नाश हो! उठो, वीरो, शान्ति की रक्षा करो!"

सैनिकों ने शव को नीचे रख दिया और भीड़ में घुसे। एक ने भीड़ में किसी से परचा छीन कर पढ़ा, उस के नीचे लियाग चिचाओ के हस्ताक्षर थे। उस ने अपने साथियों से कहा—"बन्दी कर लो!"

सैनिकों ने स्त्री को बन्दी कर लिया और उसे ले कर वापस चल पड़े। लियाग का शव सड़क पर पड़ा रह गया, लोगों की भीड़ भूखे कौओं की तरह उस को घेर कर खड़ी हो गयी।

स्त्री के विषादपूर्ण किन्तु उद्धत चेहरे को देख कर कुछ व्यक्ति हँस रहे थे। एक कह रहा था, "यह अवश्य ही युवान शिकाई की गुप्तचर है, हमें फँसाने आयी थी!" दूसरे ने उत्तर दिया, "हाँ, नहीं तो ऐसा हो सकता है कि कोई सड़कों पर परचे बाँटे?" तीसरा बोला, "इस का दंड केवल मृत्यु-दंड है। बन्दूक से उड़ा दी जायेगी!"

स्त्री उपेक्षा से उन की ओर देख रही थी। उस के लिए मानो वे थे ही नहीं। किन्तु जब वह शव के पास पहुँची, तब उस के मुँह से एक चीख निकल गयी। "लियाग! लियाग! हमारा प्रायश्चित्त पूरा हो गया! और वू सुग का अभिशाप! अब•••!"

उस ने यत्न से अपने को वश में किया और धीरे-धीरे कदम रखती हुई आगे बढ़ गयी।

एक सैनिक ने पूछा, "यह कौन था, तुम जानती हो?"

स्त्री ने विमनस्कता से उत्तर दिया, "हाँ, वह मेरा भाई लियाग"—फिर एकाएक चौंक कर—"नहीं-नहीं, वह कुछ नहीं केवल अभिशापित••।"

वह चली गयी, लोग देखते रहे गये···एक ने कहा, "उँह, कोई पगली होगी···।"

उसी वर्ष के दिसम्बर मास म युन्नान प्रान्त मे विद्रोह हुआ। जनवरी में दो और प्रान्त भी युवान के विरुद्ध उठ खडे हुए। अन्य प्रान्त भी युवान से विमुख हो गये। मार्च म युवान की स्थिति इतनी बुरी हो गयी कि उस के मित्रो ने उसे राज्य छोड कर भाग जाने का परामर्श दिया। अप्रैल मे उस के मित्रो ने भी उसे द्रोही कह कर उस का तिरस्कार किया। इसी मास म कैंटन मे स्वतन्त्र प्रजातन्त्र स्थापित हुआ। जन के आरम्भ मे युवान की मृत्यु हो गयी।

इस प्रकार शै वा की भविष्यवाणी पूर्ण हुई, किन्तु उस समय तक चीन लियाग चिचाओ और उस की बहिन को भुला चुका था। अविश्वास के अभिशाप का एक भाग यह भी है कि लोग अभिशापित व्यक्ति को शीघ्र भूल जाते हैं।

शिक्षा

•

गुरु थोडी देर चुपचाप वत्सल दृष्टि से नवागन्तुक की ओर देखते रहे। फिर उन्होने मृदु स्वर मे कहा, 'वत्स, तुम मेरे पास आए हो, इसे मैं तुम्हारी कृपा ही मानता हूँ। जिन के द्वारा तुम भेजे गए हो उन का तो मुझ पर अनुग्रह है ही कि उन्होंने मुझे इस योग्य समझा कि मैं तुम्हें कुछ सिखा सकूँगा। किन्तु मैं जानता हूँ कि मैं इस का पात्र नही हूँ। मेरे पास सिखाने को है ही क्या ? मैं तो किसी को भी कुछ नही सिखा सकता क्योकि स्वय निरन्तर सीखता ही रहता हूँ। वास्तव मे कोई भी किसी को कुछ सिखाता नही है, जो सीखता है, अपने ही भीतर के किसी उन्मेष से सीख जाता है। जिन्हें गुरुत्व का श्रेय मिलता है वे वास्तव मे केवल इस उन्मेष के निमित्त होते हैं। और निमित्त होने के लिए गुरु की क्या आवश्यकता है ? सृष्टि मे कोई भी वस्तु उन्मेष का निमित्त बन सकती है ?"

नवागन्तुक ने सिर झुका कर कहा, "मैंने तो यहाँ आने से पहले ही मन ही मन आप को अपना गुरु धार लिया है। आगे आप का जैसा आदेश हो।"

गुरु फिर बोले, "जैसी तुम्हारी इच्छा, वत्स। यहीं रहो। स्थान की यहाँ कमी नही है। अध्ययन और चिन्तन के लिए जैसी भी सुविधा की तुम्हे आवश्यकता हो, यहाँ हो ही जायेगी। और तो···" गुरु ने एक बार आँख उठा कर चारो ओर देखा, और फिर हाथ से अनिश्चित सा सकेत करते हुए बोले, "यह सब ही है। देखो सुना, चाहो तो सोचो, जितना सको आनन्द प्राप्त करो।"

"क्या देखा ?"

'गुरुदेव, मैंने एक पक्षी देखा। बहुत ही सुन्दर पक्षी !"

वात्सल्यपूर्ण स्मिति मे खिल आया और उन्होने कहा, "तो तुमने देख लिया, इतना ही ज्ञान है। इस से अधिक मेरे पास सिखाने को कुछ नही है। यह भी मेरे पास नही है, सर्वत्र बिखरा हुआ है। मैंने कहा था कि कोई किसी को कुछ सिखाता नही है। उन्मेष भीतर मे होता है। गुरु निमित्त हो सकता है। किन्तु निमित्त तो कुछ भी हो सकता है।" एक बार फिर उन का हाथ उसी अस्पष्ट सकेत मे उठा और फिर घुटने पर टिक गया।

"जाओ, वत्स! देखो सुनो! जितना सको, आनन्द ग्रहण करो!"

सेब और देव

•

प्रोफेसर गजानन पण्डित ने अपना चश्मा पोंछ कर फिर आँखों पर लगाया और देखते रह गये।

मोटर पर से उतरकर और सामान डाक्बँगले में भिजवा कर उन्होंने सोचा था, अभी आराम करने की जरूरत तो है नहीं, जरा घूम-घाम कर पहाड़ी सौन्दर्य देख लें, और इसी लिए मोटर के अड्डे के धक्कम-धक्के से अलग हो कर वे इस पहाड़ी रास्ते पर हो लिये थे। छाया में जब चश्मे का काँच ठण्डा हो गया और उस पर उन के गर्म बदन से उठी हुई भाप जमने लगी, तब उन्होंने चश्मा उतार कर रूमाल से मुँह पोंछा, फिर चश्मा साफ कर के आँखों पर चढ़ाया, और फिर देखते रह गये।

पहाड़ी रास्ता आगे एकाएक खुल गया था, चीड़ के वृक्ष समाप्त हो गये थे। आगे रास्ते को पार करता हुआ एक झरना बह रहा था। उस का जितना अंश समतल भूमि में था उस पर तो छाया थी, लेकिन जहाँ वह मार्ग के एक ओर नीचे गिरता था, वहाँ प्रपात के फेन पर सूर्य की किरणें भी पड़ रही थीं। ऐसा जान पड़ता था कि अन्धकार की कोख में से चाँदी का प्रवाह फूट पड़ा है—या कि प्रकृति-नायिका की कजरारी आँख से स्नेह के गद्गद आँसुओं की झड़ी और उस के पार एक चट्टान के सहारे एक पहाड़ी राजपूत बाला खड़ी थी। उस की चौंकी हुई भोली शक्ल से साफ दीखता था कि प्रोफेसर साहब का वहाँ अकस्मात् आ जाना उसे एकदम अनधिकार-प्रवेश मालूम हो रहा है।

प्रोफेसर साहब दिल्ली के एक कालेज में प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व के अध्यापक हैं। वे उन थोड़े-से लोगों में हैं, जिन का पेशा और मनोरंजन एक ही है। मनोरंजन के लिए भी वे पुरातत्त्व की ओर ही जाते हैं। यहाँ कुल्लू पहाड़ की सुरम्य उपत्यकाओं में भी वे यही सोचते हुए आये हैं कि यहाँ भारत की

प्राचीनतम सभ्यता के अवशेष उन्हें मिलेंगे, और हिन्दू-काल की शिल्प-कला के नमूने, और धातु या प्रस्तर या सुधा की मूर्तियाँ, और न जाने क्या-क्या··· लेकिन इतना सब होते हुए भी सौन्दर्य के प्रति—जीते-जागते स्पन्दनयुक्त क्षण-भगुर सौन्दर्य के प्रति—उन की आँखें अन्धी नहीं हैं। बाला को वहाँ खडी देख कर उस के पैरों के पास बहते हुए झरने का स्वर सुनते हुए उन्हें पहले तो एक हरिनी का खयाल आया, फिर सरस्वती का (यद्यपि बाला के हाथ मे वीणा नही, एक छोटी-सी छडी थी)। उन्होंने अपने स्वर को यथासम्भव कोमल बना कर पूछा, 'तुम कहाँ रहती हो ?"

बाला ने उत्तर नही दिया, ससम्भ्रम दृष्टि स उन की ओर देख कर जल्दी-जल्दी पहाड पर चढने लगी।

प्रोफेसर साहब मुस्करा कर आगे चल दिये। बालिका का भोलापन उन्हें अच्छा-अच्छा सा लगा। सोचने लगे, कितने सीधे-सादे-सरल स्वभाव के होते हैं यहाँ के लोग! प्रकृति की सुखद गोद मे खेलते हुए इन्हें न फिक्र है, न खटका है, न लोभ लालच है। अपने खाते-पीते, ढोर चराते, गाते-नाचते दिन बिता देते हैं। तभी तो बाहर से आनेवाले आदमी को देख कर सकोच होता है। अपने-आप मे लीन रहने वाले इन भले प्राणियो को बाहरवालो से क्या सरोकार ?

आगे बढते बढते प्रोफेसर साहब सोचने लगे, ऐसे भले लोग न होते, तो प्राचीन सभ्यता के जो अवशेष बचे हैं वे भी क्या रह जाते ? खुदा-न-खास्ता ये लोग यूरोपियन सभ्यता के सीखे हुए होते तो एक दूसरे को नोच कर खा जाते, उस की राख भी न बची रहने देते। लेकिन यहाँ तो फाहियान के जमाने का ही आदर्श है, सब को अपने काम से मतलब है, दूसरे के काम मे दखल देना, दूसरे के मुनाफे की ओर दृष्टि डालना यहाँ महापाप है। लोग ढोर चरने छोड देते हैं, शाम को ले आते हैं। कभी चोरी नही, शिकायत नही। खेती खडी है, कोई पहरेदार नही। मजाल क्या एक भुट्टा भी चोरी हो जाय। मेरे खयाल म तो अगर मैं एक चवन्नी यहाँ राह म फेंक दूँ तो कोई उठायेगा नही कि न जाने किस की है और कौन लेने आ जाय!

रास्ता अब फिर घिर गया था, लेकिन चीड के दीर्घकाय वृक्षों से नही, अब उस के दोनो ओर थे सेब के छोटे-छोटे लचीले गातवाले पेड, डार-डार पर

लदे हुए फलो के कारण मानो विनय से झुके हुए—क्योकि जहाँ सार होता है वहाँ विनय भी अवश्य होता है, क्षुद्र व्यक्ति ही अविनयी हो सकता है—और कभी-कभी हवा से झूम-से जाते हुए, कुल्लू के जगत्प्रसिद्ध सेबो की प्रशसा प्रोफेसर साहब ने सुन ही रखी थी, कई बार मँगा कर सेब खाये भी थे, लेकिन आज इस प्रकार पेड पर लगे हुए असख्य फलो को देख कर उन की तबीअत खुश हो गयी। और इस से भी अधिक खुशी हुई इस बात से कि गन्ध और स्वाद और रस की उस विपुल राशि का न कोई रक्षक कही देखने म आता है, न बचाव के लिए बाड तक लगायी गयी है। पहाडी सभ्यता के प्रति उन का आदर-भाव और भी बढ गया—क्या शहर मे इस तरह बाग रह सकता? फलो के पकने की कभी नौबत ही न आती और नही तो स्कूल-कालेजो के लडके ही टिड्डी दल की तरह आ कर सब साफ कर देते और जितना खाते नही उतना बिगाड देते। वहाँ तो कोई बाग लगाये तो दस-एक भोजपुरिये लठैत पहरेदार रखे, और फिर भी चारो ओर जेल की-सी दीवार खडी करे कि कोई लुक-छिप कर न ले भागे, तब कही जा कर चैन स रह सके। और यहाँ—यहाँ बाग की सीमा बताने के लिए एक तार का जँगला तक नही है। पेडो के नीचे जो लम्बी-लम्बी घास लग रही है, वही रास्ते के पास आ कर रुक जाती है, वही तक बाग की सीमा समझ लो तो समझ लो। यहाँ तो··

प्रोफेसर साहब के पास ही धम्म-स कुछ गिरा। उन्होने चौंक कर देखा, उन्हें आते देख एक लडका पेड पर से कूदा है और उस की अपर्याप्त आड मे छिपने की कोशिश कर रहा है। उस के हाथ मे दो सेब हैं जिन्हे वह अपने फटे हुए भूरे कोट मे किसी तरह छिपा लेना चाहता है।

उस की झेंपी हुई आँखें और चेहरा साफ कह रहा था कि वह चोरी कर रहा है।

साधारणतया ऐसी दशा मे प्रोफेसर साहब किंचित् ग्लानि से उस की ओर देखते और आगे चल देते, लेकिन इस समय वैसा नही कर सके। उन्हें जान पडा कि यह लडका उस सारी प्राचीन आर्य सभ्यता को एकसाथ ही नष्ट-भ्रष्ट किए दे रहा है जो फाहियान के समय से सदियो पहले से अक्षुण्ण बनी चली आई है। वे लपक कर उस लडके के पास पहुँचे और बोले, "क्यो बे बदमाश, चोरी कर रहा है? शर्म नही आती दूसरे का माल खाते हुए?"

लडका घबराया-सा खडा रहा, बोल नहीं सका। प्रोफेसर साहब और भडक उठे। उन्होने एक तमाचा उस के मुँह पर जमाया, सेब छीन कर घास मे फेंक दिये, जहाँ वे ओझल हो गये। फिर वे गर्दन पकड कर लडके को धके-लते हुए रास्ते की ओर ले आये।

"पाजी कहीं का! चोरी करता है! तेरे-जैसो के कारण तो पहाडी लोग बदनाम हो गये हैं। क्यो चुराये थे सेब? यहाँ तो पैसे के दो मिलते होंगे, एक पैसे के खरीद लेता? ईमान क्यो बिगाडता है?"

रास्ते पर लडके को उन्होने छोड दिया। वह वहीं खडा आँसू भरी आँखो से उधर देखता रहा जहाँ घास मे उस के तोडे हुए सेब गिर कर आँखो से ओझल हो गये थे।

प्रोफेसर साहब आगे बढते हुए सोच रहे थे, खडा देख रहा होगा कि चोरी भी की तो भी फल नही मिला। बहुत अच्छा हुआ! सेबो का सड जाना अच्छा, चोर को मिलना नही। सडे, चोर को क्या हक है कि खाये?

प्रोफेसर साहब एक गाँव के पास आ रुके। अन्दाज से उन्होने जाना कि यह मनाली गाँव होगा, और उन्हे याद आया कि यहाँ पर एक दर्शनीय प्राचीन मन्दिर है। गाँव के लोगों से पता पूछते हुए वे मनु के मन्दिर पर पहुँच ही गये। मन्दिर छोटा था, सुन्दर भी नही था, लेकिन ससार-भर मे मनु का एकमात्र मन्दिर होने के नाते वह अपना अलग महत्त्व रखता था। प्रोफेसर साहब कितनी ही देर तक एकटक उस की ओर देखते रहे, यहाँ तक कि देहरी पर बैठे हुए बूढे पुजारी का ध्यान भी उन की ओर आकृष्ट हो गया, आने जानेवाले तो खैर देखते ही थे।

प्रोफेसर साहब ने गद्गद स्वर मे पूछा, "आसपास और भी कोई मन्दिर है?"

पास खडे एक आदमी ने कहा, "नही बाबूजी, यहाँ कहाँ मन्दिर है!"

"यहाँ मन्दिर नही? अरे भले आदमी, यहाँ तो सैकडो मन्दिर होने चाहिए। यहाँ पर "

"बाबूजी, यहाँ तो लोग मन्दिर देखने आते नही। कभी-कभी कोई आता है तो यह मनूरिखि का मन्दिर देख जाता है, बस। और तो हम जानते नही।"

पुजारी ने खाँसते हुए पूछा, "कौन-सा मन्दिर देखियेगा बाबू?"

"कोई और मन्दिर हो। आसपास की सब मन्दिर मूर्तियाँ मैं देखना चाहता हूँ।"

पुजारी ने थोडी देर सोच कर कहा, "और तो कोई नही, उस चोटी के ऊपर जगल म एक देवी का स्थान है। वहाँ पहले कभी एक किला भी था जिसके अन्दर देवी के स्थान में पूजा होती थी। पर अब तो उस के कुछ पत्थर ही पडे हैं। वहाँ कोई जाता नही अब, उस जगल मे भूत बसते हैं।"

प्रोफेसर साहब कुछ मुस्कराये, लेकिन बोले, "कैसे भूत ?"

'कहते हैं कि पुराने राजाओ के भूत रहते हैं—वे राजा बडे परतापी थे।"

अर, उन भूतों से मेरी दोस्ती है!" कह कर प्रोफेसर साहब ने रास्ता पूछा, और क्षण-भर सोच कर पहाड पर चढने लगे। पुजारी ने 'पास ही' बताया था, तो मील भर से अधिक नही होगा, और अभी तीन बजे हैं शाम होने तक मजे में बगले में पहुँच जाऊँगा

जगल का रूप बदलने लगा। बडे-बडे पेड समाप्त हो गये, अब छोटी-छोटी झाडियाँ ही दीख पडने लगी। यह पडाव का वह मुख था जो हवा के थपेडो से सदा पिटता रहता था, जाडो मे तो बर्फ की चोटें यहाँ लगे हुए किसी भी पेड-पौधे को कुचल डालती। प्रोफेसर साहब को समझ आने लगा कि यह ऊँचा शिखर किले के लिए बहुत उपयुक्त जगह है, और यह भी वे जान गये कि यहाँ बना हुआ किला उजड कर कितनी जल्दी निरवशेष हो जायेगा।

झाडियाँ भी छोटी होती चली। घास की बजाय अब पथरीली जमीन आई, जिसम किसी तरफ कोई बनी हुई पगडडी नही थी, जिधर चले जाओ वही मार्ग। कहीं-कही लाल पत्थर के भी कुछ टुकडे दीख जाते थे, जो शायद किले की इमारत मे कही लगे होंगे, नही तो उधर लाल पत्थर होता नही। कही-कही पत्थर और मिट्टी के स्तूपाकार टीले की आड म कोई गाढ़े रग के पत्तो-वाली झाडी लगी हुई दीख जाती, तो वह आसपास के उजाड सूनेपन को और भी गहरा कर देती। साँझ के धुँधलके म ऐसी झाडी को देख कर स्तूप से धूम्रवत् निकलते हुए किसी प्रेत की कल्पना होना कोई असम्भव बात नही थी।

एक ऐसे ही स्तूप की आड मे प्रोफेसर साहब ने देखा, एक गड्ढे म कीच

भरी है जिसकी नमी से पोसे जाते हुए दो वृक्ष खडे हैं, और उन के नीचे पत्थर का छोटा-सा मन्दिर है, जिस का द्वार वन्द पडा है।

प्रोफेसर साहब ने कुण्डे में अटकी हुई कील निकाली तो द्वार खुलने की बजाय आगे गिर पडा। उसके कब्जे उखड गये हुए थे। उन्होने किवाड को उठा कर एक ओर धर दिया।

थोडी देर वे पीछे हट कर खडे रहे कि वन्द और सीलन के कारण बदबूदार हवा बाहर निकल जाए, फिर भीतर झाँकने लगे।

मन्दिर की बुरी हालत थी। भीतर न जाने कब के बलि-पशुओ के सीग—वकरे के और हिरन के—पडे हुए थे जो सूख कर धूल के रग के हो गये थे। उन पर कीडे भी चल रहे थे। फर्श के पत्थरो के जोडो मे काई उग आई थी। उन सीगो के ढेर से देवी की काले पत्थर की मूर्ति एक ओर को लुढक गयी थी, पास मे पडी हुई गणेश की पीतल की मूर्ति जग से विकृत हो रही थी। केवल दूसरी ओर खडा श्वेत पत्थर का शिव-लिंग अब भी साफ, चिकना और सधे हुए सिपाही की तरह शान्त खडा था। आसपास की जर्जर अव्यवस्था मे उस के दर्पोन्नत भाव से ऐसा जान पडता था मानो क्रुद्ध हो कर कह रहा हो, 'मेरी इस निभृत अत शाला मे आ कर मेरे कुटुम्ब की शान्ति भग करने वाले तुम कौन ?'

दो-एक मिनट प्रोफेसर साहब देहरी पर खडे-खडे ही इस दृश्य को देखते रहे। फिर उन्होने बाँह पर टँगा हुआ अपना ओवरकोट नीचे रखा, एक बार चारों ओर देख कर निर्जन पा कर भी जूते खोल देना ही उचित समझा, और भीतर जा कर देवी की मूर्ति उठा कर देखने लगे।

मूर्ति अत्यन्त सुन्दर थी। पाँच सौ वर्ष से कम पुरानी नही थी। इस लम्बी अवधि का उसपर जरा भी प्रभाव नहीं पडा था या पडा था तो पत्थर को और चिकना कर के मूर्ति को सुन्दर ही बना गया था। मूर्ति कही बिकती तो तीन-चार हजार से कम की न होती; किसी अच्छे पारखी के पास होती तो दस हजार भी कुछ अधिक मूल्य न होता। और यह यहाँ ऐसी उपेक्षित हालत मे पडी है। न जाने कब से कोई इस मन्दिर तक आया भी नही है।

प्रोफेसर साहब ने मूर्ति ठीक स्थान पर सीधी कर के रख दी, और फिर देहरी पर आ कर उस का सौन्दर्य देखने लगे।

पाँच सौ वर्ष···पाँच सौ वर्ष से यह यहीं पड़ी होगी, न जाने कितनी पूजा इसने पाई होगी, कितनी बलियों के ताज़े गर्म-पूत रक्त से स्नान कर के अपना दैवी सौन्दर्य निखारा होगा, और अब कितने बरसों से इन रेंगते हुए कीड़ों की लम्बी-लम्बी जिज्ञासु मूँछों की ग्लानिजनक गुदगुदाहट सह रही होगी · उफ, देवत्व की कितनी उपेक्षा ! मानव नश्वर है, वह मर जाय और उस की अस्थियों पर कीड़े रेंगें, यह समझ मे आता है। लेकिन देवता पत्थर जड़ है, उस का महत्त्व कुछ नहीं, लेकिन मूर्ति तो देवता की है, देवत्व की, चिरन्तनता की निशानी तो है। एक भावना है, पर भावना आदरणीय है—क्या यह मूर्ति यहीं पड़े रहने के काबिल है, इन कीड़ों के लिए जिन के पास श्रद्धा को दिल नहीं, पूजने को हाथ नहीं, देखने को आँखें नहीं, छूने को त्वचा तक नहीं, केवल टटोलने को हिलती हुई गन्दी मूँछें है · यह मूर्ति कहीं ठिकाने म होती

न जाने क्यों प्रोफेसर साहब ने एकाएक मन्दिर-द्वार से हटकर चारों ओर घूम कर देखा, फिर न जाने क्यों आसपास निर्जन पा कर तसल्ली की साँस ली, और फिर वहीं आ खड़े हुए।

मूर्ति गणेश की भी बुरी नहीं, लेकिन वह उतनी पुरानी नहीं, न उतनी सुन्दर शैली पर निर्मित है। पीतल की मूर्ति मे कभी वह बात आ ही नहीं सकती जो पत्थर मे होती है। देवी की मूर्ति को देखते देखते प्रोफेसर साहब के हृदय की स्पन्दन गति तीव्र होने लगी—इतनी सुन्दर जो थी वह ! वे फिर आगे बढ़कर उसे उठाने को हुए, लेकिन फिर उन्होंने बाहर झाँककर देखा। पर वहाँ कोई नहीं था, कोई आता ही नहीं उस बिचारे उजड़े हुए मन्दिर के पास ! किसे परवाह थी निर्जन को अपनी दीप्ति से जगमग करती हुई उस देवी की ! देवी के प्रति दया और सहानुभूति से गद्गद हो कर प्रोफेसर साहब फिर भीतर आये। लपक कर उन्होंने मूर्ति को उठाया, और अपने धड़कते हुए हृदय को शान्त करने की कोशिश करते हुए एकटक उसे देखने लगे।

दिल इतना धड़क क्यों रहा है ? प्रोफेसर साहब को ऐसा लगा जैसे वे डर रहे हैं। फिर उन्हे इस विचार पर हँसी-सी भी आ गयी। डर किस से रहा हूँ मैं ? प्रेतों से ? मैं भी क्या यहाँ के लोगों की तरह अन्धविश्वासी हूँ जो प्रेतों को मानूँगा ? कविता के लिहाज से भले ही मुझे यह सोचना अच्छा लगे कि यहाँ प्रेत बसते हैं, और रात को जब अँधेरा हो जाता है तब इस बन्द मन्दिर मे आ

कर देवी के आसपास नाचते हैं ''देवी हैं, शिव हैं, उनके गण भी तो होने ही चाहिए ! रात को मूर्तियो को घेर-घेर कर नाचते होगें और इन न जाने कब के बलि-पशुओं के भस्मीभूत सींगों से प्रेतोचित प्रसाद पाते होगे। और दिन मे मन्दिर की कन्दराओ मे, दरारो म छिप कर अपनी उपास्य मूर्तियो की रक्षा करते होगें, देखते हागे कि कौन आता है, क्या करता है

उन्होने फिर मूर्ति को रख दिया और लौट कर देखा । उन्हे एकाएक लगा जैसे उस अखड नीरवता मे कोई छाया-सा आकार उन के पीछे से भाग कर कही छिप गया है—प्रेत ! वे फिर एक रुक्ती-सी हँसी हँस कर बाहर निकल आये। इस घोर निर्जन ने मेरे शहर के शोर से उलझे स्नायुओ को और उलझा दिया है—इसी नतीजे पर वे पहुँचे और फिर मन्दिर की ओर देखने लगे ।

दिन ढल रहा था। मन्दिर की लम्बी पडती हुई छाया को देख कर प्रोफेसर साहब को ऐसा लगा, मानो वह दूर हटती-हटती भी मन्दिर से अलग होना नहीं चाहती, उस से चिपटी हुई है, मानो उस की रक्षा करना चाहती हो, मानो वह मन्दिर और उस की मूर्तियां उस छाया की गोद के शिशु हों। प्रोफेसर साहब का मन भटकने लगा ।

''इजिप्ट के पिरामिड भी इतने ही उपेक्षित पडे थे। यह मन्दिर आकार मे बहुत छोटा है, वे विराट् थे, लेकिन उपेक्षा तो वही थी । उन मे भी न जाने क्या-क्या खजाने ऐसे ही पडे थे जैसे यहाँ यह मूर्ति । उन के बारे म भी अज्ञान ने क्या-क्या बातें फैला रखी थी भूत-प्रेतों की'' अन्त मे यूरोप के पुरातत्त्वविद् साहस कर के वहां गये, उन्होने उन मे प्रवेश किया और अब ससार के बडे-बडे सग्रहालयो मे वे खजाने पडे हैं और अपने महत्त्व के अनुरूप सम्मान पाते हैं। फिलाडेल्फिया के अजायबघर मे तूतांखामेन् की वह स्वर्ण-मूर्ति—उस नौ सेर खरे सोने का ही मूल्य तीस हजार रुपये होगा—फिर प्राचीनता का मूल्य अलग और उस मे जडे हुए हीरे-जवाहरात का अलग''कुल मिला कर लाखो रुपये की चीज़ है वह'''

वे फिर भीतर गये । मूर्ति उठाई और फिर रख दी । रख कर फिर बाहर आ गये । उन्हों ने फिर सब ओर देखा। कोई नही था । सूर्य भी एक छोटे-से बादल के पीछे छिप गया था ।

और उन्हे लगता कि वे सब उनकी छाती की ओर ही देख रहे हैं, जैसे उस काले ओवरकोट की ओट मे छिपी हुई देवमूर्ति को, और उस के भी पीछे प्रोफेसर साहब के दिल मे बसे हुए पाप को, वे खूब अच्छी तरह जानते है ··

अँधेरा होते-होते वे मन्दिर पर पहुँचे। किवाड एक ओर पटक कर उन्होने मूर्ति को यथास्थान रखा। लौट कर चलने लगे, तो आसपास छाए हुए और अब अँधेरे मे भयानक हो गए सुनसान ने उन्हे फिर सुझाया कि वे एक निधि को नष्ट कर रहे है, लेकिन न जाने क्यो उन के मन मे शान्ति उमड आई, उन्हे लगा कि दुनिया बहुत ठीक है, बहुत अच्छी है।

कैसांड्रा* का अभिशाप

प्यासे खजूर के वृक्षों की छोटी-सी छाया उस कडाके की धूप में मानो सिकुड कर अपने-आप में, या पेड के पैरों-तले, छिपी जा रही है। अपनी उत्तप्त साँस से छटपटाते हुए वातावरण में दो-चार केना के फूलों की आभा एक तरलता, एक चिकनेपन का भ्रम उत्पन्न कर रही है, यद्यपि है सब ओर सूनापन, प्यासापन, रुखाई

उन केना के फूलों के पास ही, एक छीट के टुकडे से अपने कधे ढँके हुए, मेरिया बैठी है। उस से कुछ ही दूर भूमि पर एक अखबार बिछाये उस की छोटी बहन कार्मेन एक रूमाल काढ रही है। वे दोनों अपने-अपने ध्यान में मस्त हैं, किन्तु उन के ध्यान एक ही विषय को दो विभिन्न दृष्टियों से देख रहे हैं··· यद्यपि वे स्वयं इस बात को नही जानतीं कि उन के विचार एक-दूसरे के कितने पास मँडरा रहे हैं—यद्यपि मेरिया उसे कभी स्वीकार नही करेगी, क्योंकि वह इसे अपने हृदय का गुप्ततम रहस्य समझती है··

कार्मेन की आँखें उस के हाथ की रूमाल पर लगी हुई हैं। वह उस पर लाल धागे से एक नाम काढ रही है, जो मेंहदी के

---

*एपोलो के वरदान से कैसाड्रा का भविष्यदर्शिता प्राप्त हुई थी, किन्तु उस की प्रणय भिक्षा को ठुकराने पर एपोलो ने उसे शाप दिया कि उस की भविष्य वाणी पर कोई विश्वास नही करेगा। ट्राय के युद्ध के समय, और उस के बाद एगामेम्नन की स्त्री बन कर, भावी घोर दुर्घटनाओं को देख कर वह चेतावनी देती रही, किन्तु ट्रायवालों ने उसे पागल समझ कर बन्द कर रखा और एगामेम्नन ने भी उस की उपेक्षा की। कैसाड्रा का अभिशाप यही है कि वह भविष्य देखेगी और कहेगी, किन्तु कोई उस का विश्वास नही करेगा।—ले०

रग मे उस पर लिखा हुआ है—मिगेल ! नाम के चारो ओर एक बेल काढी जा चुकी है और बेल के ऊपर एक लाल झडा ।

मेरिया अपने पास की किसी चीज को अपने चर्मचक्षुग्रा म भी नहीं देख रही है । केना के फूलो के आगे जो खजूर के दो चार झुरमुट म है, उन के आगे जो छोटे छोटे नये गन्ने के खेत हैं, उन के भी पार कही जो स्पष्ट किन्तु अदृश्य सत्यताएँ हैं, उन्ही पर उस की आँखें गडी है

वहाँ है तो बहुत-कुछ । वहाँ मार-काट है, हत्या है, भूख है, प्यास है, विद्रोह है, पर मेरिया उसे देख ही नही रही । वह तो वहाँ एक स्वप्न की छाया देख रही है । एक स्वप्न, जो टूट चुका है, किन्तु बिखरा नही, जो बद्ध हो चुका है, किन्तु मरा नही है

वह मिगेल को याद कर रही है, मिगेल, जो जेल म बैठा है, मिगेल, जो

पर क्या मन को उलझाने के लिए कोई स्पष्ट विचार आवश्यक ही है ? क्या कवि कविता लिखने से पहले उसे लिखने के विचार म और उस के अनुकूल झुकाव मे ही इतना तल्लीन नही हो सकता कि कविता की अभिव्यक्ति एक अकिंचन, आकस्मिक, द्वैतीयिक वस्तु हो जाय ? तभी तो मेरिया भी उस की याद मे तल्लीन हो रही है, उसे याद ही नही कर रही, उसे याद करने की अवस्था म ही ऐसी खो गयी है कि वह याद सामने नही आती ··

मेरिया और कार्मेन साधारणतया इस समय घर से बाहर नहीं बैठती । एक तो धूप गर्मी दूसरे विद्रोह के दिन, तीसरे घर का काम, और सब स बडी, सब से भयकर बात यह कि उन दिनो मे वेश्याएँ ही दिन दहाडे बाहर निकलती हैं या वे कुलवधुएँ जो भूख और दारिद्र्य से पीडित हो कर दिन मे ही अपने-आप को बेच रही हैं—चोरी से नही, धोखे से नही, धर्मध्वजियो की कामलिप्सा से नही (इन सब सभ्यता के अलकारो के लिए उन्हे कहाँ अवकाश ?) किन्तु, केवल छ आने पैसे के लिए, जिसम वे रोटी-भर खा सकें । मेरिया विधवा है, कार्मेन अविवाहिता, और दोनो ही अनाथिनी और दरिद्र, किन्तु वे अभी वे अभी वहाँ तक नही पहुँची, वे अभी घर मे बैठ कर अपने टूटते हुए अभिमान मे लिपट कर रो सकती हैं, इसलिए किसी हद तक स्वाधीन हैं ··आज वे बाहर

बैठी हैं तो इस लिए कि आस-पास आने-जानेवालों को देख सकें, और आवश्यकता पड़ने पर पुकार सकें, क्योंकि आज वे एक अतिथि की प्रतीक्षा कर रही हैं

दोनों ही उद्विग्न हैं, क्योंकि प्रतीक्षा का समय हो चुका है। पेड़ों की छाया अपना लघुतम रूप प्राप्त कर के अब फिर हाथ-पैर फैलाने लगी है। शायद पेड़ों के चरणों में आसन पाने से निराश हो कर उस प्राची दिशा की ओर बढ़ने लगी है, जिस में सूर्य का उदय हुआ था—शायद इस भावना से कि जो सूर्य को कोख में दाब कर रख सकती है, वह क्या उसे आश्रय नहीं देगी? अतिथि के आने की वेला, बहुत देर हुए, हो चुकी है, पर मेरिया और कार्मेन दोनों अपने कामों, या कामों की निष्क्रियता में, ऐसी तन्मय दीख रही हैं कि दोनों ही एक-दूसरे को धोखा नहीं दे पातीं और व्यक्त हो जाती हैं।

कार्मेन कहती है, "बहन, देखो तो, यह ठीक बन रहा है? तुम सोच क्या रही हो?"

और, मेरिया बिना उस के प्रश्न का उत्तर दिये ही स्वयं पूछती है, "हाँ कार्मेन, तू तो कम्यूनिस्ट है न पक्की?"

"मैं जो हूँ सो हूँ, तुम यह बताओ कि तुम सोच क्या रही थीं?"

"मैं? मैं क्या सोचूँगी? तू ही तो अपने झंडे में इतनी तल्लीन हो रही है कि कुछ बात नहीं करती।"

"मैं झंडे में, और तुम इस नाम में, क्यों न?"—कह कर कार्मेन शरारत से हँसती है।

"चुप शैतान!"—हँस कर मेरिया एकाएक गम्भीर हो जाती है

और कार्मेन भी चुप रहती है, कभी-कभी बीच बीच में कनखियों से उस की ओर देख कर कुछ कहने को होती है, पर कहती नहीं।

गन्ने के खेत में इधर एक व्यक्ति आता दीख रहा है। मेरिया स्थिर उत्कंठा से उसे देखने लगी है। कार्मेन ने उधर नहीं देखा, किन्तु किसी अलौकिक बुद्धि से वह भी अनुभव कर रही है कि उस की बहन व्यग्रता में कुछ देख रही है और वह भी एक तनी हुई प्रतीक्षा-सी में अपना काम कर रही है।

जब वह व्यक्ति पास आ गया, तो मेरिया ने उठ कर हाथ से उसे इशारा किया और कार्मेन से बोली, "कार्मेन, तू भीतर जा। मैं बात कर के आऊँगी।"

कार्मेन एक बार मानो कहने को हुई मैं भी रह जाऊँ ? ' फिर उस वाक्य को एक चितवन म ही उलझा कर चली गयी।

कहा मवेस्टिन मिलने को क्यो कहला भेजा था ?

तुम्हार निए समाचार लाया हूँ। कोई सुनता तो नही ?

नही।

फिर भी धीरे धीरे कहूँ। मिगेल का समाचार है।

मरिया चप। उस के चेहरे पर उत्कठा भी नही दीखती।

वह मैग्वास की जेल मे है।

यह तो मैं भी जानती हूँ।

सबेस्टिन स्वर और भी धीमा करके बोला वह वहाँ मे निकल कर अमरीका जाने का प्रब ध कर रहा है।

मेरिया फिर चुप। पर अब की उत्कठा नही छिपती।

उम धन की जरूरत है।

फिर ?

सेबस्टिन सं दग्ध स्वर मे बोला यही मैं सोच रहा हूँ। मेरा जो हाल है सो देखनी हो—अभी तीन दिन से रोटी नही खायी और तुम मे भी कुछ कह नही सकता। और और यहा कौन बच रहा है—सभी भूखे मर रहे है। माँगू किससे ?

मरिया थाडी देर चुप रही। फिर बोली कितना धन चाहिए ?

मबस्टिन न एक बार तीव्र दष्टि से उस की ओर देखा फिर कहा क्या करोगी पूछ कर—बहुत !

फिर भी कितना ?

लाओगी कहा स ? अगर सौ डालर चाहिए तो ?

सौ चाहिए ?

तनिक विस्मय स अगर दो सौ डालर चाहिए – तीन सौ ?

तीन सौ डालर चाहिए ?

अब विस्मय को छिपा कर उदासीनता दिखाते हुए नही चाहिए तो इससे भी अ धक—कम से कम पाँच सौ डालर खच होग। बडी जोखिम का

काम है···पर इन बातो से क्या लाभ ? हो तो कुछ सकता ही नही···तुम पूछती क्यो हो ?"

मेरिया चुप है। उस के मुख पर अनेक भाव आते हैं और जाते हैं। सेवेस्टिन उन्हे पढ नही पाता और सोचता है—यह औरत बडी गहरी मालूम पडती है, मुन मे बहुत-कुछ छिपाये हुए है, जिस का मैं अनुमान भी नही कर पाता···

मेरिया एकाएक बोली, "यहाँ कोई बैंकर है ? कोई अमरीकन ?"

"हाँ, है तो। क्यो ?"

' गिरवी रखेंगे ?"

"क्या ? शायद कोई खरी चीज हो तो रख लें—पर आज-कल गिरवी से बेचना अच्छा, क्योकि मिलेगा बहुत थोडा। पर क्या तुम कुछ गिरवी रखना चाहती हो ? अभी तो तुम्हारा खर्च चलता होगा ?"

मेरिया ने उत्तर नही दिया, कुछ देर सोचने के बाद पूछा, "उसे निकालने मे कितने दिन लगेंगे ?"

"दिन क्या ? सब प्रबन्ध तो है, धन भिजवाते ही वह निकल जायगा।"

"यहाँ से मैंटाजास भिजवाओगे ?"

' प्रबन्ध करने वाले यही हैं। उन्ही को देना होगा। उन के पास धन पहुँचते ही वे कर लेंगे, ऐसा मुझ से कहा है।" सेबेस्टिन ने एक दबी हुई अनिच्छा-सी से कहा, मानो अधिक रहस्य खोलना न चाहता हो।

"हूँ।"

मेरिया फिर किसी सोच मे पड गयी। थोडी देर बाद उस ने उतरे हुए चेहरे से फीके स्वर मे कहा, "शायद मैं पाँच सौ डालर का प्रबन्ध कर सकूँ। तुम—रात को आना !"

"तुम ! पाँच सौ डालर !"

"हाँ ! मेरा विश्वास है कि कर सकूँगी ! पर निश्चय नही कह सकती—तुम रात को आना।"

"पर—"

"अभी जाओ, रात को आना। अभी बस, अभी बस ! मैं कुछ सोचना चाहती हूँ—मेरा स्वास्थ्य ठीक नही है।" यह कह कर मेरिया मुड कर घर की ओर चली।

पिता सकुटुम्ब हवाना आये और दोनो लड़कियो को छोड़ परलोक सिधारे थे—जहाँ शायद चीनी पर विदेशी कर नही लगता था। तब पहले कुछ दिन मेरिया ने मजदूरी भी की थी, पर फिर यात्रियो की टहल करने लगी थी। यात्री उस से अधिक कुछ नही माँगते थे—अधिक से-अधिक एक मुस्कान, हाथों का स्पर्श, एक कोमल सम्बोधन · इतने के लिए वह इनकार नही करती थी, उपेक्षा से देती थी, और अपनी मजदूरी ले जाती थी। इस मे आगे उस के भी एक कठोर कवच था, तीर पडी सीपी की तरह, और वह सोचती थी कि उस का कौमार्य सदा ऐसा ही अक्षत रहेगा ··

एक बार, ऐसा हुआ था कि वह इस गात को बदलने लगी थी— वह अपने का उत्सर्ग करने लगी थी। अपनी ओर से तो वह उत्सर्ग हो भी चुकी थी, शायद स्वीकृत भी, पर यदि ऐसा हुआ था, तो न वह उत्सर्ग-चेष्टा ही व्यक्त हुई थी और न उस की स्वीकृति ही!

वह पिछले साल की बात है। तब मिगेल उस के पडोस मे रहता था। वह स्वय गरीब था और मजदूरी करता था, किन्तु वह मेरिया के छिपे अभिमान को समझता था। कभी-कभी वह मेरिया की अनुपस्थिति म आता, कार्मेन से बातचीत करता और उस के लिए खाने-पीने का बहुत-सा सामान छोड़ जाता। कार्मेन स्वय खाती, तो मिगेल कहता, "रख लो, बहन के साथ खाना।" और कार्मेन इस उपदेश का औचित्य देख कर इसे स्वीकार कर लेती। इसी प्रकार, मिगेल हर दूसरे दिन कुछ भेंट छोड जाता, जिस से दोनो बहनो का एक दिन का खर्च बच जाता···तब एक दिन मेरिया ने उसे मना करने के लिए उस का सामना किया था और तब से फिर सामना कर सकने के अयोग्य हो गयी थी—बिक गयी थी ··

मेरिया मिगेल स बात बहुत कम करता। वह आता और कार्मेन स बातें करता, हँसता खेलता और मेरिया उन की तरुण माता की तरह ही उन्ह देखा करती·· पर कई बार उस विचार होता, मिगेल क कार्मेन के साथ खेलने मे एक प्रेरणा है, उस की बातचीत मे एक आग्रह, उस की हँसी मे एक सहानुभूति, जो कार्मेन को दी जा कर भी उस की ओर आती है, उसी के लिए है· तब वह लज्जित भी होती, पुलकित भी; और एक विपण्ण आनन्द से और भी चुप हो जाती·· और यह सब इस लिए कि उस की अपनी सब प्रेरणाएँ, अपने सब

आग्रह, अपनी सब सहानुभूतियाँ एक ही रहस्यपूर्ण अभिव्यक्ति मे मिगेल की ओर जा चुकी थी···

मिगेल म प्रतिभा थी, और प्रतिभावान व्यक्ति कभी एक स्थिर, व्यक्तिगत प्रेम नही पाता—चाहे अपने व्यक्ति वैचित्र्य से उसका अनुभव करने के अयोग्य होता है, चाहे भाग्य द्वारा ही उस से वचित होता है। मिगेल और मेरिया भी ऐसे ही रहे। मिगेल हवाना के एक गुप्त मजदूर-दल का अगुआ था— इस बात का पता लग जाने पर उस के नाम वारट निकल गये और वह भाग गया। इस बात को भी छ मास हो गये— और, अब तो मिगेल महीने-भर से मैंटाज़ास के फौजी जेल मे पडा है। उसे पता नही क्या होगा—शायद बिना मुकदमे के ही वह फाँसी लटका दिया जायगा। क्योकि अब है मैंकाडो का राष्ट्रपतित्व, जो कि अमरीकन छत्रच्छाया से भी बुरा है, क्योकि मैंकाडो दास ही नही, वह अधिकार-प्राप्त दास है। इस लिए अधिकारी से अधिक क्रूर और हृदयहीन है··· आज, अगस्त 1933 मे, जब प्रजा पहले ही भूखी मर रही है, तब उस के बचे-खुचे जीविका के साधन भी छीने जा रहे है; और इतना ही नही जो इस भूखी मृत्यु का विरोध करते हैं, उन्हे सब से पहले चुन-चुन कर मारा जा रहा है। हाँ, सभ्यता और प्रगति !

मेरिया ने मिगेल को अपनाया नही था, शायद इसी लिए मिगेल का एक चिह्न मेरिया के पास सदा रहता है—उस की द्वादशवर्षीया बहन। मेरिया का प्रेम मौन था, कार्मेन का स्नेह अत्यन्त मुखर क्योकि वह प्रेम नही था, वह था एक पूजामिश्रित अधिकार—वैसा ही, जैसा किसी बच्चे के मन मे अपने देवता के प्रति होता है। कार्मेन हर समय मिगेल का नाम जपती थी, हरेक परिस्थिति मे उस के मुख पर एक ही प्रश्न आता था कि "इस मे मिगेल को कैसा लगता ?" यहाँ तक कि जब वह रूखा-सूखा खाना खाने बैठती, तब सर्वोत्तम खाद्य वस्तु का (बहुधा तो एक ही वस्तु होती !) एक अश निकाल कर उसे एक अलग पात्र मे रख कर पूर्वस्थ मैंटाज़ास की ओर उन्मुख हो कर कहती, "यह मिगेल के लिए है"···मेरिया हँसती, "पगली !" पर कार्मेन के कर्म से, उसे ऐसा जान पडता कि मिगेल की एक सकरुण साँस उस के पास से, उस की किसी लट को किंचित्मात्र कम्पित करती हुई, शायद उस के श्रुतिमूल को छूती हुई चली गयी है···वह ज़रा पीछे झुक जाती है—विश्रान्ति की मुद्रा मे क्षण-

नहीं था, किन्तु उस के बिना जाने ही उस का मन इस निश्चय पर पहुँच चुका था कि जो कुछ मिगेल का निजी है, वही उस का भी है।

मिगेल चला गया, बन्दी भी हो गया। मेरिया के जीवन में इस से कोई विशेष परिवर्तन प्रकट नहीं हुआ—सिवा इस के कि अब वह ना को जो कुछ खाने पीने को प्राप्त होता है, वह मेरिया की अपनी कमाई का फल होता है, क्योंकि सेबेस्टिन उन की कुछ सहायता नहीं कर सकता—वह स्वयं इस का आकांक्षी है! सेबेस्टिन और मेरिया अब कभी-कभी मिलते हैं, बस! कभी मेरिया सेबेस्टिन के घर का स्मरण कर के, उसे अपने यहाँ रोटी खिला देती है। तब सेबेस्टिन कृतज्ञ तो होता है पर उस के हृदय में स्वभावतः ही यह भाव उदय होता है कि इन बहनों के पास आवश्यकता से अधिक धन है, नहीं तो ये क्यों मुझे खिलातीं—कैसे खिला सकतीं? बेचारे सेबेस्टिन के अब वे दिन नहीं थे, जब वह सोचे, मैं किसी को खिला सकता हूँ। और उस का यह भाव, उस की कृतज्ञता के पीछे छिपा होने पर भी, मेरिया को दीख जाता था। तब वह विषण्ण-सी हो कर, सेबेस्टिन के चरित्र को समझने की चेष्टा करती थी। वह उस के बहुत पास पहुँच जाती थी, किन्तु पूर्णतया हल नहीं कर पाती थी, सेबेस्टिन उस के लिए एक उलझन रह जाता था, जो सुलझ सकती है, यद्यपि अभी सुलझी नहीं, जो एक पहेली है। जिस का हल है तो, पर अभी प्राप्त नहीं हुआ ··

तब वह सान्त्वना के लिए जाती थी—अपने चिर अभ्यस्त कवियों के पास नहीं—उस चिर अभ्यस्त कविता के जीवन राहु, आँधी पानी धुएँ के पैगम्बर कार्ल मार्क्स की शरण में! क्योंकि, उस समय उस की मनःस्थिति कोमल कविता के अनुकूल नहीं होती थी, वह चाहती थी एक भैरव कविता, उच्छल लहरी की तरह एक ही भव्य गर्जन में सब कुछ डुबोनेवाली, घोर विनाशिनी···

वह कार्मेन को बुला कर पास बिठा लेती और उस के साथ पढ़ने लगती। कार्मेन के उत्साहशील तरुण हृदय को मिगेल ने पूरा कम्युनिस्ट बना दिया था। वह कार्ल मार्क्स के नाम पर किसी समय कुछ भी पढ़ने को प्रस्तुत थी। उस की इस तत्परता में वही व्यग्र भावुकता थी, वही सहज स्वीकृति, जिस का मार्क्स प्राणशत्रु था, पर उस से क्या? मार्क्स उस की बुद्धि को पुष्ट कर सकता था, पर उस की स्वाभाविक चंचलता को नहीं।

मेरिया भी मार्क्स को अपने मस्तिष्क से नहीं, अपने हृदय से पढ़ती थी।

कार्मेन जब देखती कि मेरिया किस प्रकार उस के उच्चारण में ही लीन हुई जा रही है, उस के तर्क की ओर नहीं जाती केवल उस की विराट् विध्वंसिनी प्रेरणा में बही जा रही है, तब मेरिया के भाव को प्रतिबिम्बित करता हुआ एक रोमांच-सा उसे भी हो जाता था, एक कँपकँपी-सी उस के शरीर में दौड़ जाती थी—वैसी ही, जैसी किसी अनीश्वरवादी मूर्तिपूजक हृदय में, किसी भव्य मन्दिर में आरती को देख-सुन कर हो उठती है। जब मेरिया पढ़ चुकती थी, तब कार्मेन अकस्मात् कह उठती, "मिगेल के पढ़ाने में तो यह ऐसा नहीं होता था—"

मेरिया पूछती, "क्या?" तो कार्मेन से उत्तर देते न बनता। वह मन-ही-मन कल्पना करती, कहीं विजन समुद्र-तट पर बने हुए गिर्जाघर में समवेत गान हो रहा हो और लहरों के नाद में मिल रहा हो और इस भाव को कह नहीं पाती थी, एक खोयी सी मुस्कान मुस्करा देती थी।

आज, सेबेस्टिन के जाने के बाद भी यही हुआ। मेरिया पढ़ने लगी और कार्मेन चुपचाप सुनने। किन्तु मेरिया से बहुत देर तक नहीं पढ़ा गया। उस ने उकता कर पुस्तक रख दी और बोली, "फिर सही।"

कार्मेन ने धीरे से पूछा, 'मेरिया, आज तुम्हें कुछ हो गया है? बताओ, सेबेस्टिन क्या कहता था?"

मेरिया जैसे चौंकी। बोली, "कुछ तो नहीं?"

उस स्वर में कुछ था, जिस ने कार्मेन को झकझोर कर कहा, "पास आ!" कार्मेन आयी और मेरिया की गोद में सिर रख कर बैठ गयी। मेरिया ने उसे पास खींच लिया और उसे गले से लिपटाये बैठी रही "कभी-कभी कार्मेन को मालूम होता, मेरिया वहाँ नहीं है, तब वह सिर उठा कर मेरिया का मुँह देखना चाहती, पर मेरिया उसे और भी जोर से चिपटा लेती, सिर उठाने न देती थी·

ऐसे ही धीरे-धीरे सन्ध्या हो गयी। खजूर के पेड़ों के पीछे सारा वायु-मंडल स्वर्णधूलि से भर-सा गया, जिस में गन्ने के खेत अदृश्य हो गये। जो क्षितिज दोपहर में बहुत दूर जान पड़ रहा था, अब मानो बहुत पास आ गया, मानो खजूर के वृक्षों के नीचे ही घासला बनाने को आ छिपा। दूर कहीं, अमरीकन राजदूत भवन से घंटे का स्वर सुन पड़ने लगा और नगर से शोर भी एकाएक बहुत पास जान पड़ने लगा···

कार्मेन, मेरिया की गोद में बहुत चुप पड़ी थी। मेरिया ने पूछा, "कार्मेन, सो गयी क्या ?" तब कार्मेन ने गोद में रखा हुआ सिर, मेरिया के शरीर से रगड़ कर हिला दिया और झूठमूठ के रूठे स्वर में बोली, "तुम बनाती तो हो नहीं।"

"ओ, वह !" कह कर मेरिया फिर चुप हो गयी। थोड़ी देर बाद बोली, "कार्मेन, तुझ से एक बात पूछनी है; न, उठ मत, ऐसी ही पड़ी रह !"

कार्मेन ने विस्मय से कहा, "क्या आज रोटी नहीं खानी है ?"

"खा लेंगे। तू सुन तो !"

"हाँ, कहो।"

"कार्मेन, जानती है जब माँ मरी, तब हमें बिलकुल अनाथ नहीं छोड़ गयी ?" मेरिया ने गम्भीर स्वर में ऐसी मुद्रा में यह प्रश्न किया, जैसे उत्तर की भी अपेक्षा नहीं और ऐसे ही कहती चली। कार्मेन चुपचाप सुनने लगी।

"वह मुझे थोड़े-से गहने सौंप गयी थी। बहुत तो नहीं थे, पर आजकल के जमाने में उतने ही बहुत होते हैं। कुछ तो हमारे वंश की परम्परा में ही चले आ रहे थे, कुछ माँ ने तेरे विवाह के लिए बनवाये थे।"

"मेरे ? और तुम्हारे लिए नहीं ?"

"हाँ, मेरे भी थे, सुन तो। यह सब वह सौंप गयी थी, और सँभाल कर रखने को भी कह गयी थी। इसके अलावा एक मोती भी है, जो मिगेल ने दिया था।"

"मिगेल ने ? उस के पास था ?"

"हाँ। उसे उस की बुआ दे गयी थी। पर, तू ऐसे प्रश्न पूछेगी, तो मैं बात नहीं कहूँगी।"

मेरिया फिर कहने लगी, "यह सब मैं ने एक बर्तन में रख कर दाब दिये थे कि कहीं गुम न हो जायँ। आज उन्हें निकालने की सोच रही हूँ। मिगेल ने मँगवाये हैं।"

"पर वह तो कैद है न ?"

"हाँ, वह वहाँ से निकल कर अमरीका जायेगा। इसलिए जरूरत है।"

"अच्छा, तभी मुझे भगा कर बातें कर रही थी। हाँ, तो निकाल लाओ, रखे कहाँ हैं ?"

मेरिया ने इस प्रश्न की उपेक्षा कर के कहा, "जो वश के हैं, और जो तेरे विवाह के लिए बने थे, उन पर मेरा अधिकार नही है।"

कार्मेन सिर को झटक कर उठ बैठी, कुछ बोली नही, मेरिया के मुख की ओर देखने लगी।

मेरिया ने देखा कि कार्मेन को यह बात चुभ गयी है, पर वह कहती गयी, "वे तेरे हैं, इसी लिए तुझ से पूछना था कि उन्हे बिकवा दूं ?"

कार्मेन ने आहत स्वर मे कहा, "मुझ से पूछती हो ?"

मेरिया ने जान-बूझ कर उस स्वर को न समझते हुए, फिर पूछा, "हाँ बता तो !"

"मैं नही बताती—" कार्मेन की आँखो मे आँसू भर आये। उस ने मुँह फेर लिया, मेरिया उस की मनुहार करने लगी। एक दृश्य हुआ, जिसे न देखना, देख कर न कहना ही उचित है।

तब कार्मेन ने रो कर कहा, "मैं कभी मना करती ?"

मेरिया एकाएक शिथिल हो गयी।

3

सन्ध्या घनी हो गयी।

कार्मेन अपनी बहन की प्रतीक्षा मे बैठी थी। अधकार हो रहा है, इस लिए उसने पढना छोड दिया है, पर अभी बत्ती नही जलायी। आवश्यकता भी क्या है ? तेल बचेगा ! और, इस कोमल अधकार मे बैठ कर सूर्यास्त के पट पर अपने स्वप्नो का नृत्य देखना कितना अच्छा लगता है।

कार्मेन ने बहुत दिनो मे इस प्रकार अपने-आप को प्रकृति की प्रफुल्लता मे नही भुलाया – उस का जीवन ऐसा हो गया है कि इस के लिए अवसर नही मिलता, इस लिए जब अवसर मिल भी जाता, तब उस स्वप्न-ससार से लौट कर आने की चोट के भय से वह उधर जाती ही नहीं, पर आज, इतने दिनो बाद न जाने क्यो, उसे बडी प्रसन्नता हो रही है। शायद एकाएक मिगेल के निकलने की सम्भावना के कारण, शायद इस अनुभूति से कि आज उस की बहन के प्यार मे सदा से अधिक कुछ था—कोई वस्तु नही, किन्तु एक प्रकार की विशिष्टता का कोई सूक्ष्म भेद ··कार्मेन एक विचित्र, अदम्य त्याग-भावना से भरी मान्ध्य

नभ को देख रही है। देख नहीं रही, प्रतिबिम्बित कर रही है। नभ के प्रत्येक छाया-परिवर्तन के साथ ही साथ उस के प्राणों में भी मानो एक पर्दा बदलता है।

सूर्यास्त के बाद का रंग जाने कैसा कलुष लिये लाल-लाल, मैला-सा हो रहा है उसे देखकर कार्मेन के मन क्षेत्र में किसी अँधेरे विस्मृत कोने में एक विचार, या छाया, या कल्पना आ रही है वह आकाश उसे ऐसा लग रहा है, जैसे वन में किसी रहस्यपूर्ण नैश-उत्सव की अपनी आग से दीप्त, उसे प्रतिबिम्बित करती हुई, किसी भैरव देवता की विराट्, चमकती हुई, काली प्रस्तर-मूर्त्ति की खुली-खुली, चपटी-चपटी, फैली हुई छाती

कार्मेन सोचती है कि वे दोनों बहनें उस देवता की रक्षिता हैं, यद्यपि वह देवता बड़ा विकराल है पर, मेरिया अभी तक आयी क्यों नहीं ?

हम सान्ध्य आकाश की छटा को एक स्वतन्त्र विभूति मानते हैं, पर वह है क्या ? वह है किसी अन्य के, किसी अस्त हुए आलोक की प्रतिच्छाया-मात्र

और, हम समझते है, सन्ध्या में एक आत्मभूत, आत्यन्तिक सौन्दर्य है, पर वहाँ वैसा कुछ नहीं है हम सन्ध्या में देखते हैं केवल अपने अन्तर का प्रतिबिम्ब, अपनी बुझी हुई आशाओं-आकांक्षाओं का स्फूर्तिमान कंकाल

नहीं तो, यह कैसे होता कि जिस सान्ध्य आकाश में कार्मेन को ऐसा भव्य चित्र दीखता है, उसी में चालीस मील दूर मेदाज़ास के फौजी जेल में बैठे मिगेल को इतना बीभत्स चित्र दीखता है ·

चार-पाँच खेमे गड़े है जिन के आस-पास कँटीले तार का जँगला लगा हुआ है। उस के भीतर-बाहर, दोनों ओर सशस्त्र सिपाहियों का पहरा है और उस से कुछ दूर एक और खेमा लगा है, जिस के बाहर बैठे सिपाही गाली-गलौज कर रहे है। उस के सामने ही तीन तीन बन्दूकों को मिला कर बनाये हुए चार-पाँच कुन्दले हैं। और उन से आगे प्रशान्त खेत और पश्चिमीय क्षितिज

एक खेमे के बाहर मिगेल खड़ा है। उसे बाहर निकलने की अनुमति नहीं है, किन्तु पहरेवाले सिपाही की दया से वह कुछ देर के लिए बाहर का दृश्य देखने निकला है। वह उन बन्दूकों के कुन्दले की अग्रभूमि से, और खेतों के मौन के पार के सान्ध्य आकाश को देख रहा है और सोच रहा है···

इसी दिशा में चालीस मील दूर हवाना है, वहाँ उस का सब कुछ है। कुल चालीस मील, पर चालीस मील! वह सोचता है, यदि आज मैं छूट कर हवाना पहुँच सकूँ तो क्या कुछ कर सकूँगा·· न जाने वहाँ क्या परिस्थिति है—बहुत दिनों से समाचार नहीं आया है, विद्रोह की इतनी तैयारियाँ थीं और शायद उस का आरम्भ भी हो गया हो···जिस विद्रोह को जगाने में उस ने इतना यत्न किया, जिस के लिए वह यहाँ भी आया, उसी में वह भागी नहीं हो सकेगा—हाय वंचना!

वह चाहता है, तीव्र गति से इधर-उधर चल कर अपने अन्दर भरते हुए इस अवसाद को कुछ कम कर ले, पर, उसे तो वहाँ निश्चल खड़ा रहना है। उसे तो हिलना भी नहीं, वह तो वहाँ खड़ा भी है तो एक सिपाही की अनुकम्पा से, मैंसाड़ो के सिपाही की अनुकम्पा से·· हाय परवशता!

उस के मन में विचार उठता है, आज रात ही इस का अन्त करना है। वह अकेला ही है, अकेला ही यत्न करेगा। वह इस बन्धन का अन्त आज ही रात में करेगा—मुक्ति के लिए प्राणों पर खेल जायगा। प्राण तो जाते ही हैं—शायद पहले मुक्ति मिल जाय। एक सिपाही ने उसे सहायता का वचन दिया है, वह उसे कँटीले तार के पार तक जाने देगा। उस के आगे मिगेल का अधिकार है। उस के पास एक पिस्तौल है। वह यदि निकल कर भाग न सकेगा, तो अपना अन्त तो कर सकेगा। यदि शत्रु की गोली से भी मरेगा, तो उस कँटीले तार के उस पार तो मरेगा! उस कँटीले तार की रेखा ही उस के लिए जीवन और मरण की विभाजक रेखा हो रही है, मुक्ति का संकेत—हाय दासता!

बुद्धि उसे कहती है, ये विचार तुझे विचलित कर देंगे। युद्ध में निश्चय हो जाने के बाद विकल्प नहीं करना चाहिए—वह तो उससे पूर्व की बातें हैं ··तब वह कहीं पढ़ी हुई कविता की दो-चार पंक्तियाँ दुहराता है और सूर्यास्त को देख कर, वही बीभत्स कल्पनाएँ करने लगता है···

यह वही आकाश है, वही आलोक का छायानर्तन वही कलुषमयी लाली, वही फीका-फीका मैलापन · पर मिगेल क्या देखता है! जैसे रोगिणी क्षितिज का रक्तमिश्रित रजस्राव · या, जैसे कालगति से किसी विकराल जन्तु के प्रसव के बाद गिरे हुए फूल ··अपनी कल्पना की बीभत्सता से वही मचमचा जाता है, पर वह आती है और आती है · और इतना ही नहीं, वह यह भी सोचने लगता

है कि वह विकराल जन्तु क्या होगा, जिस के प्रसव के ये फूल हैं—वह क्रूर, भयंकर, नामहीन, आतंक ··

यह तो बहुत दूर है यहीं हवाना के अन्तिक में उसी सूर्यास्त को एक और व्यक्ति देख रहा है—सेबेस्टिन।

वह अपने घर में अकेला है, यद्यपि उस के पास ही उस की स्त्री और बच्चे हैं, और उस की स्त्री उसे कुछ कह रही है। वह कुछ सुन नहीं रहा, उसे आज अपनी स्त्री के चुभ जाने वाले शब्दों का भी ध्यान नहीं, वह उस से भी अधिक चुभनेवाली बातों पर विचार कर रहा है वह विश्वासघात की तैयारी कर रहा है; वह जानता है कि यह विश्वासघात होगा, यह भी अनुभव कर रहा है कि यह भयकर पाप, अत्यन्त नीचता होगी, वह इस पर लज्जित भी है, किन्तु किसी अमर शक्ति से बँधा हुआ-सा वह यह अनुभव कर रहा है कि यह *होगा अवश्य, उस से होगा, और वह सब-कुछ देखते हुए भी अन्धा हो कर इसे* करेगा

क्या करेगा ? कुछ भी तो नहीं। किसी के पास आवश्यकता से अधिक धन है, उसे ले लेगा, उन के लिए जिन्हें उस की आवश्यकता है—अपनी बीबी और बच्चों के लिए···यह कोई पाप है ? और फिर, उस ने इस के लिए योजना तो बनायी नहीं, उसे कब आशा थी कि मेरिया धनी है—उस ने तो पता लगाने के लिए प्रश्न पूछा था 'मेरिया स्वयं ही कहती है ' भाग्य उसे कुछ देता है, तो वह न लेनेवाला कौन ? वह झूठा, दगाबाज़, आत्मवंचक। अब उसे दीखता है, वह कुछ हो, वह एक अप्रतिरोध प्रेरणा से बँधा हुआ है । और उस के लिए, यदि कहीं क्षमा नहीं तो उसी प्रेरणा से अवश्य मिलेगी··

सारा आकाश, सारी सृष्टि, आग के लाल प्रतिबिम्ब और काले काले धुएँ से भरी हुई है ! तब वही कहाँ से एक शीतल आत्मा ले आवे, वही कहाँ से आदर्श पुरुष हो जाय, वही कहाँ उस लाल प्रतिज्योति और उस काले धुएँ से बच कर जा पहुँचे।

और वह अकेला ही उसे नहीं देख रहा, यहीं हवाना शहर में, उसी सूर्यास्त में, अनेक व्यक्तियों को क्या कुछ दीख रहा है ·

यहाँ हवाना का वह अंश रहता है, जिसे कभी उस का अंश गिना नहीं जाता, किन्तु जिस पर उस का अस्तित्व निर्भर करता है ' जो हवाना की

गरीबी का निकेत है, किन्तु जो हवाना की सम्पत्ति को बनाता है ''यहाँ वे पुरुष हैं जो दिन-भर मजदूरी कर के एक मास में उतना कमा पाते हैं, जितना अमरीकन मजदूर एक घण्टे में, जिन के भले के नाम पर इन लोगों को पीसा जा रहा है और जो स्वयं किसी और के लिए पिसेंगे ? यहाँ वे औरतें भी हैं, जो दिन-भर और आधी रात-भर सिलाई का काम करती हैं और एक दर्जन कमीजें सी कर पाँच आने वेतन पाती हैं, या जो अपने शरीर को बेच कर उस के मूल्य में कुछ आने पैसे और कोई मारक रोग पा कर, कृतज्ञ भी हो सकती हैं ''यहाँ वे लड़के भी हैं, जो अपने माता-पिता का पेट भरने—माता-पिता के पेट का खालीपन कम करने के लिए वह भी करने को तैयार रहते हैं, जिस के विरुद्ध समस्त मानवता चिल्लाती है—

वे सब, सूर्यास्त को देख नहीं रहे हैं, पर सूर्यास्त उन की आँखों के आगे है। उन्हें कुछ-न-कुछ दीखता भी है। उन के पास इतना समय नहीं कि रुक कर उसे देखें, उस पर विचार करें, पर उन की अशान्ति में सूर्यास्त के प्रति एक भाव जाग रहा है'''

वही कलुषपूर्ण लाल-लाल, मैला-सा आकाश'' उन के मन में ऐसा है, जैसे क्रोध की पिघली हुई आग उबल-उबल कर बैठ गयी हो, ऊपर सतह पर छोड़ गयी हो एक धूसर-सी, जली-बुझी सुलगती-सी एक कुढ़न की आग'''

उन के हृदय में भी, कुढ़न की आग-सी उठ रही है'''वे समझते हैं, उन में क्रोध की ज्वाला है, पर क्रोध करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है, और वे हैं निर्बल और अपनी निर्बलता से परिचित। वे कुढ़ ही सकते हैं, जैसे कि वे अब तक करते रहे हैं'''

आज वे जो तैयारी कर रहे हैं, वह क्रोध नहीं, वह भी कुढ़न की आग ही है। तभी तो वे ऐसे चुप-चुप-से हैं, यद्यपि वे विद्रोह की तैयारी में हैं, उसी के लिए निकल भी पड़े हैं ''उन के प्रतिनिधियों का एक दल जा रहा है महल और फौजी बारकों की ओर, और दूसरा दल चला है विद्रोह के द्रोहियों की तलाश में, पर उन की प्रेरणा क्रोध नहीं, उन की प्रेरणा है केवल भूख'''उन्हें फौज से सहायता की आशा है, पर वे पुलिस से डर भी रहे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि पुलिस के जत्थे भी विद्रोहियों की खोज में हैं। और क्योंकि उन के हृदय में डर है, इसी लिए वे सोच भी सकते हैं, तैयारी भी कर सकते हैं, भविष्य की ओर

उन्मुख भी हो सकते हैं···

सन्ध्या बहुत घनी हो गयी ··

4

कार्मेन मेरिया से पूछ रही थी, "बड़ी देर कर दी ?" कि सेबेस्टिन ने पुकार कर पूछा, "आ जाऊँ ?"

मेरिया ने कन्धे पर से चादर उतार कर रखी और कार्मेन से बोली, "ले, देख ।"

कार्मेन व्यग्रता से उस हँडिया को खोल कर, उस के भीतर मोमजामे मे लिपटे हुए आभूषणो को निकाल कर देखने लगी । सेबेस्टिन ने दबे विस्मय से पूछा, "इन्हें कहाँ से लायी ?"

मेरिया एक छोटी-सी सन्तुष्ट हँसी हँसी । फिर कार्मेन से बोली, "कार्मेन, तू इन्हे ले जा कर रख, हम जरा बातें कर लें ।"

कार्मेन चली गयी तो मेरिया ने धीमे स्वर म सेबेस्टिन से पूछा, "पर्याप्त होगे ?"

"होने तो चाहिए । तुम्हे मूल्य का कुछ अनुमान है ?"

"पाँच सौ से तो कहीं ज्यादा के हैं ।"

"हाँ पर आजकल तो बहुत घाटे पर देने पड़ेंगे । और, आज तो बहुत ही कम ।"

"आज कोई खास बात है ?"

"हाँ, पर वह ठहर कर बताऊँगा । तो, ये मैं ले जाऊँ ?"

मेरिया ने कुछ हिचकिचाते हुए कहा, 'हाँ ।" सेबेस्टिन ने समझा, शायद सन्देह के कारण हिचकिचा रही है । ऐसी अवस्था मे उस ने चुप रहना ही उचित समझा । मेरिया बोली, 'मैं ले आऊँ ?" और भीतर चली गयी ।

वहाँ स लौट कर आते, उसे केवल आभूषण लाने म जितनी दर लगनी चाहिए थी, उस से अधिक लगी । क्योंकि उसे एक बार फिर कार्मेन स पूछना था कि आभूषण देख कर उस की राय बदल तो नहीं गयी, उसे बताना था कि कौन किस का था, उसे और कुछ नहीं तो मिगेलवाला मोती उस के हाथो गले

मे पहन कर दिखाना भी था, उस के मोती रखने का आग्रह सुन कर उसे टालना भी था और फिर सब आभूषण दे डालने के लिए उस की प्रसन्न स्वीकृति पर, उसे चूमना भी था और उस के शरारत भरे इस कथन पर कि "तुम्हारे मिगेल के लिए तो है।" एक हलका-सा मीठा चपत लगा कर तब कहीं बाहर आना था।

सेबेस्टिन ने चुपचाप गहने ले कर वस्त्रों मे कहीं रख लिये। तब बोला, "कोशिश करूँगा, आज ही धन का प्रबन्ध हो जाय, एक-दो अमरीकन बैंकर हैं, जो रात म भी काम करते हैं—बल्कि रात म ही काम करते हैं।"

"हाँ।"

थोडी देर चुप्पी रही। फिर मेरिया एकाएक बोली, "हाँ, यह तो बताओ, वह खास बात क्या थी?"

"अरे, मैं तो भूल ही चला था इतनी जरूरी बात! यहाँ फौजवालो और विद्यार्थियो के साथ मिल कर लोगो ने कल बडे सवेरे विद्रोह कर देने का निश्चय किया है।"

"है! कल? अभी पिछले निश्चय को दस ही दिन तो हुए हैं!"

"हाँ, अब भी आशा बहुत है। फौज सारी विद्रोही है, मैंकाडो के पक्ष मे पुलिस ही होगी। अगर कही मार-काट हुई भी तो थोडी ही। अकस्मात् ही कही हो जाय, नही तो जितनी होगी, हवाना शहर के बाहर ही होगी।"

'पर घुडसवार पुलिस भी तो सशस्त्र है, और खुफिया?"

"हाँ, उन से आशका है। पर वे हैं कितने?"

' जितने भी हो।"

"देखा जायगा!" कह कर सेबेस्टिन ने विदा माँगी और चला। चलते-चलते न जाने क्या सोच कर एकाएक रुक गया और बोला, "मेरिया, इन आभूषणो म से कोई एक-आध रखना हो तो रख लो।"

' नहीं, जब पाँच सौ डालर पूरे होने की आशा नहीं तो क्यों? यदि अधिक मिल सके, तब चाहे कोई रख लेना—।"

"कौन-सा?"

मेरिया ने इस प्रश्न का उत्तर विधि पर डालते हुए कहा, "जो भी हो!

पर, कोई भी क्यो रखना, जितना धन मिले, सब भेज देना । क्या पता, उसे अधिक की जरूरत पड़ जाय—ऐसे समय लोभ नही करना चाहिए !"

"हाँ, यह बात तो है ।" कह कर सेबेस्टिन जल्दी से चला गया । मेरिया वही खड़ी-खड़ी बाहर अन्धकार की ओर देखकर कुछ सोचने लगी, कुछ देखने लगी, तभी कार्मेन की आवाज आयी, 'सोने नही आओगी ?"

उस के ऊपर एक कोमल उदासी छा गयी ।

मेरिया कोहनी टेके एक करवट लेटी हुई थी, किन्तु सिर उठाये हुए, उसे हथेली पर टेक कर। और कार्मेन उससे चिपट कर उस की छाती मे मुँह छिपाये पड़ी थी ।

समाचार मेरिया सुन चुकी थी । दोनो ने यह निश्चय कर लिया था कि कल उन्हे क्रांति-विद्रोह मे मिल जाना होगा, यद्यपि कैसे क्या करना होगा, यह वे नही सोच सकी थी ।

और, इस निश्चय पर पहुँच जाने के बाद, जो विचार-रहस्य-गर्भित मौन छा गया था, उसी मे दोनो पर वह उदासी छा गयी थी, न जाने क्यो···

कार्मेन देख रही थी क्रान्ति की विजय का स्वप्न, और उस स्वप्न की भव्यता मे उसे एक कँपकँपी-सी आती थी, एक रोमाच-सा होता था, किन्तु मेरिया और मिगेल की उस विजय पर छायी हुई छाया और मेरिया का इस समय का घनिष्ठ सामीप्य उसे उदासी के उस नशे मे से बाहर नही निकलने देता था ·

मानो मेरिया के शरीर मे से, किसी अज्ञात मार्ग से, उस का प्रगाढ नैराश्य कार्मेन मे प्रविष्ट हो रहा था । क्योकि मेरिया के हृदय पर नैराश्य की छाया थी, ऐसा नैराश्य, जो अपनी सीमा पर पहुँच कर नष्ट हो गया है, भाव नही रहा, एक आदत-सी हो गयी है और इस लिए स्वय मेरिया को भी दृश्य नही होता ।

कार्मेन ने किसी गहरी छाया के दबाव का अनुभव कर के, धीरे से कहा, "कुछ गाओ !"

मेरिया ने दूरस्थ भाव से कहा, "आज तो जी नही करता कार्मेन ! कल सुन लेना ।"

"कल तो ··" कह कर कार्मेन एकाएक चुप हो गयी। जिस छाया से वह बच रही थी, वह तनिक और भी गहरी हो गयी···

बहुत देर बाद, कार्मेन एकाएक चौंकी। मेरिया की आँखो से एक आँसू उस के गाल पर गिरा था—एक अकेला, बडा सा, गर्म ··

उस के चौंकते ही मेरिया ने ज़ोर से उसे अपने से चिपटा लिया और बार-बार घूँटने लगी···

मेरिया का भाव कार्मेन समझ नही सकी, किन्तु फिर भी, यह अतिरेक अच्छा-सा लगा···वह मेरिया के मानसिक ससार मे प्रविष्ट नही हो सकी, किन्तु मेरिया के शरीर के इस दबाव का प्रतिदान देने लगी · उस श्रोता की तरह, जो किसी कलाकार गायक का गान सुनते हुए, स्वय गाने की क्षमता न रख कर भी अपने को भूल कर गुनगुनाने और ताल देने लगता है

तब न जाने कितनी और देर बाद, मेरिया भी बहुत धीमे स्वर मे गाने लगी—एक अंग्रेज़ी कविता का टुकडा, जो उस ने अपने समृद्ध जीवन मे कभी सीखा था

मस्ट ए लिटल वीप, लव,
फूलिश मी।
एण्ड सो फाल एस्लीप, लव,
लव्ड बाई दी·· [1]

और उन्हें इस व्यवहार मे लीन देख कर रात चुपके-चुपके तीव्र गति से भागने लगी, मानो उन्हें धोखा देने के लिए, मानो ईर्ष्या मे···

और मेरिया और कार्मेन बार-बार चौंक-सी जाती और थोडी देर बातें कर लेती और फिर चुप हो जाती, और कार्मेन दो-चार झपकियाँ सो भी लेती··· कभी-कभी एकाध आँसू गिर जाता तो दोनो ही अपने आँसू-भरे हृदयों मे सोचतीं, किस का था? और, फिर अपने को छिपाने के लिए बातें करती, या आलिंगन करती और इसी चेष्टा मे वही प्रकट हो जाता जो वे छिपा रही थीं···तब वे

1 थोडा-सा रोऊँगी—
भोली मैं!
और तब सोऊँगी,
तेरे प्यार में-

इसी अतिशय समीपत्व की वेदना से घबरा कर आगे देखने लगती—भविष्य की ओर। मेरिया किधर और कार्मेन किधर···उन के पथ विभिन्न थे और प्रतिकूल, किन्तु न जाने कैसे अपने अन्त में वे मिल जाते थे—एक खारी बूँद में, एक दबाव में, एक साँस में, एक तपे हुए मौन में, या इन सभी की अनुपस्थिति की शून्यता में !

प्रतीक्षा की रातों को प्रतीक्षक का भाव ही लम्बी बनाता है, किन्तु यदि उन से वह भी न हो, तो वे रातें कैसे कटें—अन्तहीन ही न हो जायें !

5

रात में आग फट पड़ी है ।

जलती हुई पृथ्वी को रौंदते हुए, काल के घोड़े दौड़े जा रहे हैं · और उन के मुँह से पिघली हुई आग का फेन गिर रहा है, उन के फटे-फटे नथुनों में से ज्वाला की लपटें निकल रही हैं·· और काल-पुरुष मृत्यु के धुएँ में घिरा बैठा है, घोड़ों को ढील देता जा रहा है और शब्दहीन किन्तु सदर्प आज्ञापना से कह कहा है, "बढ़ो,—रौंदते चले जाओ !" और पृथ्वी की लाली और काल-पुरुष के प्रयाण की लाली के साथ ऊषा के जलते हुए आकाश की लाली मिल रही है—

हवाना में विद्रोह हो गया है ।

उस में बुद्धि नहीं है—अशान्ति को कहाँ बुद्धि ? उस में सगठन नहीं है—रिक्तता का कैसा सगठन ? उस में नियन्त्रण नहीं है—भूख का क्या नियन्त्रण ? उस की कोई प्रगति भी नहीं—विस्फोट की किधर प्रगति ?

विद्रोह इन सब से परे है · वह मानवता के स्वाभाविक विकास का पथ नहीं, वह उस के अस्वाभाविक सचय के बचाव का साधन है, उस की बाढ़ का रेचन · वह ज्वार की तरह बढ़ रहा है ।

उस का घात है—

इधर जहाँ मैकाडो के महल के आगे इतनी बड़ी भीड़ इकट्ठी हो रही है, जहाँ महल लूट लिया गया है, जहाँ महल का सब सामान यथावत् पड़ा है, केवल खाद्य पदार्थ लूटे जा रहे है, और बिखर रहे हैं;

इधर जहाँ बहुत-से निहत्थे लोगों ने किसी समृद्ध राज-कर्मचारी के एक

घर से एक मोटा-सा सुअर निकाला है और उसे कच्चा ही काट काट कर, नोच नोच कर खा रहे है, भूनने के लिए भी नही रुक सकते, यद्यपि आग पास ही जल रही है,

इधर जहाँ कई एक कर्मचारी अपने अच्छे अच्छे वस्त्र फेंक कर अपने नौकरो के फटे मैले-कुचैल कपडे पहन रहे है कि वे भी इस गन्दी शून्यता मे छिप सकें,

इधर जहाँ बीसियो नगे लडके, महल्ला के पीछे जमे हुए कूडे-कर्कट की ढेर म से टुकड बीन बीन कर खा रहे हैं—वही टुकड, जिन्हे वहाँ के कौए भी न खाते थे,

इधर जहाँ पुरुषो की भीड म अनेक अच्छी बुरी स्त्रियाँ और वेश्याएँ तक उलझ रही हैं, पर किसी को ध्यान नही कि वे स्त्रियाँ भी हैं,

इधर जहाँ पाँच-चार विद्रोही सैनिको के साथ जुटी हुई विद्यार्थियो और नवयुवको की भीड केना के फूल और खजूर की डालियाँ तोड तोड कर, उछाल-उछाल कर चिल्ला रही है, और मैकाडो के पलायन की खुशी मे अपना ध्येय, कर्त्तव्य और योजनाएँ भूल गयी है, पागल हो गयी है ·

इधर जहाँ शोर हो रहा है, पर शोर की भावना से नही, नाच हो रहा है, पर नाच की भावना से नही, झगडा हो रहा है, पर झगडे की भावना से नही, हत्या हो रही है, पर हत्या की भावना से नही, बदले लिये जा रहे हैं, पर बदले की भावना से नही

इधर जहाँ क्रान्ति हो रही है, पर बिना उस क्रान्ति समझे हुए, बिना उस किये हुए ही ·

और उस का प्रतिघात

उधर जहाँ मैकाडो के कर्मचारियों की स्त्रियाँ व्यस्त-वस्त्रो म किन्तु मुँह को चित्र विचित्र पखो की आड मे छिपाये, मोटरो या गाडियो म बैठ-बैठ कर भाग रही हैं,

उधर जहाँ मैकाडो की पुलिस, मैकाडो के भाग जाने पर भी अपने पुलिस-पन की धुन मे मदमत्त, स्त्री पुरुप बच्चा जो सामने आ जाता है उसी को पीटती हुई बढी जा रही है,

उधर जहाँ खुफिया पुलिस के सिपाही एक छोटे-से लडके से उस के विद्रोही

पिता का पता पूछ रहे हैं और उस की प्रत्येक इन्कारी पर कैंची से उस की एक-एक उँगली काटते जाते हैं;

उधर जहाँ उन्हीं का एक समूह लोगों को पकड़-पकड़ कर समुद्र में डाल रहा है, जहाँ शार्कें मछलियाँ उन्हें चबाती हैं;

उधर जहाँ विद्रोहियों के नाखूनों के नीचे तप्त सुए चुभाये जा रहे हैं, और तपी हुई मशालों से उन की जननेन्द्रियाँ जलायी जा रही हैं,

उधर जहाँ घुड़सवार पुलिस के सिपाहियों ने एक ग्यारह-बारह साल की लड़की को पकड़ लिया है, और किसी पाशव उद्देश्य से उस के कपड़े फाड़ रहे हैं, उन सिपाहियों में से एक कहता है, "छोड़ दो, अभी बच्ची है" दूसरा बीभत्स हँसी हँस कर कहता है, "क्यूबा में तो बारह साल की लड़की को ..."

उधर जहाँ मेवेस्टिग मेरिया के गहनों को बेच आया है, अपनी स्त्री को सन्तुष्ट कर आया है और स्वयं अपने हृदय से आत्मग्लानि मिटा कर अपने को निर्दोष मान कर धीरे-धीरे एक गली में टहलता हुआ सोच रहा है कि यदि उस की स्त्री न होती तो वह मेरिया को ठगने की बजाय उस से विवाह ही कर लेता, क्योंकि ठगी निर्दोष हो कर भी ठगी ही है ··

और उधर जहाँ मिगेल, जो रात-भर एक चुराये हुए घोड़े को दौड़ाता हुआ, सैंटियागो से हवाना आया है, जिस का घोड़ा गोली से मर चुका है और जिस की टाँग भी गोली लगने से लँगड़ी हो गयी है और खून से भरी पट्टी में लिपटी हुई है। मिगेल मेरिया और कार्मेन को घर में न पा कर हवाना की सूनी-सूनी गलियाँ पार करता हुआ जा रहा है, देखने कि कहाँ क्या हो रहा है, यह सोचता हुआ कि कोई परिचित या विश्वासी मिल जाय तो पता ले कि मेरिया और कार्मेन कहाँ हैं, कि बन्धुओं के और विद्रोह के समाचार क्या हैं, और नगर को एकाएक यह क्या हो गया है। मिगेल, जिस का चेहरा पीड़ा से नहीं, पीड़ाओं से विकृत है, जिस का अधनंगा बदन भूख का नहीं, अनेक बुभुक्षाओं का साकार पुंज है···जो थकान से नहीं, अनेक थकानों से चूर है और गिरता-पड़ता भी नहीं, गिरता ही चला जाता है···

और मेरिया और कार्मेन, जो इस भयंकर ज्वार के घात में भी नहीं, प्रतिघात में भी नहीं, वे कहाँ, किस अपूर्व और स्वच्छन्द समापन की ओर जा रही

हैं ? इस रौद्ररस-प्रधान नाटक की मुख्य कथा से अलग हो कर, किस अन्तर्कथा की नायिका बनने, किस विचित्र प्रहसन की नटी बनने, विधि की वाम रुचि की कौन-सी पुकार का उत्तर देने, कौन-सी कमी पूरी करने ?

इस व्यापक तूफान के बाहर भी कही कुछ है ?

कहाँ ?

क्या ?

6

मेरिया और कार्मेन स्त्रियाँ हैं, जाति-दोष से ही वे प्रतिघात पक्ष की हैं, पर अपनी शिक्षा और अपनी रिक्तताओ के कारण उन मे विद्रोह जागा हुआ है, इस लिए वे उधर नही जा सकती···तभी तो वे कहीं दीख नही पडती, न उस लुटी हुई भीड मे, न उस लूटनेवाली भीड मे, न उस भूखी भीड मे, न उस भूखा रखनेवाली भीड मे · वे उस क्रान्ति मे नहीं मिलती, क्योकि वे उस की सचालिका नही हैं, वे केवल सदेश-वाहिका है···

मानव बनाता है, विधि तोडती है । मानव अपने सारे मनसूबे बाँधता है रात मे, अँधेरे मे छिप कर, विधि उन्हे छिन्न-भिन्न करती है दिन मे, प्रकाश मे, खुले, परिहास-भरे दर्प से । मेरिया और कार्मेन ने, बहुत रो-धो कर रात मे निश्चय किया था कि दिन मे वे भी क्रान्ति मे खो जायेंगी, कार्मेन ने छिपे उत्साह से और मेरिया ने छिपी निराशा से, किन्तु दोनो ने ही दृढ होकर · पर, दिन मे उन्हे कुछ नही दीखा, वे नही सोच पायी कि क्या करें···उन्होने क्रान्ति की गति के बारे मे जो कुछ सीखा था, वह मिगेल से सीखा था, पर मिगेल वहाँ था नही । उस के साथी उन के अपरिचित थे, और जो परिचित थे भी, वे मिल नही सकते थे । तब, वे क्या करती—कैसे उस के सगठन मे हाथ बटाती ? उन के पास कोई साधन नहीं था—यदि था, तो उन्हे ज्ञात नही था । वे अपनी एक ही प्रेरणा पहचानती थी—अपना निश्चय, और उसी को ले कर वे क्रान्ति करने निकल पडी थी···

यह कोई नयी बात नही है। ससार मे नित्य ही, हजारो और लाखो व्यक्ति कुछ करने निकलते हैं, बिना जाने कि क्या, और कुछ कर जाते हैं, बिना जाने कि क्या या कैसे या क्यो ! यह तो सामान्य जीवन मे ही होता है, जहाँ आदमी

की सामान्य बुद्धि काम कर सकती है, तब क्रान्ति में क्यों नहीं सौ-गुना और सहस्र-गुना अधिक होगा···जो क्रान्ति करते हैं, उन में कोई इना-गिना होता है जो जानता है कि वह क्या कर रहा है, यदि कोई कुछ जानते हैं तो इतना ही कि वे कुछ कर रहे हैं, कुछ करना चाहते हैं, कुछ करेंगे···और इतना भी बहुत है, क्योंकि अधिकांश तो इतना भी नहीं जानते कि वे कुछ कर भी रहे हैं, इतना भी नहीं कि कुछ हो रहा है ! वे तो एक भीड़ के भीड़पन में नींद में सो कर, नींद में चलने वाले रोगी की तरह, एकाएक चौंक कर जागते हैं और तब वे जानते हैं कि कुछ हो गया है, अब जो है, वह पहले नहीं था, और पहले जो था, वह अब नहीं है···जो कुछ हो चुका होता है, वह एक प्रगूढ़ आवश्यकता के कारण होता है। प्रायः परिस्थितियों की अनियन्त्रणीय प्रतिच्छवि होती है, जो सर्व-साधारण के भले के लिए ही क्रियाशील होती है, पर यह सब दूसरी बात है, बल्कि (यह) तो यही सिद्ध करती है कि सर्वसाधारण का उस के करने में कोई हाथ नहीं होता···

हाँ, तो मेरिया और कार्मेन एक ऐसी आन्तरिक माँग को ले कर, अपने जीवन की किसी छिपी हुई न्यूनता को, किसी और भी छिपी हुई प्रेरणा को आज्ञापना से पूरी करने के लिए, निकल पड़ी थीं। वह था उषा के तत्काल बाद ही, और अब तो दिन काफी प्रकाशमान हो चुका था, धूप में काफी गर्मी आ गयी थी···

उन्होंने हवाना की गलियों में आ कर देखा—वहाँ कोई नहीं था। वे इधर-उधर ढूँढ़ती फिरीं, पर सभी लोग किसी अज्ञात अफ़वाह के उत्तर में इतने सवेरे ही कहीं गुम हो गये थे···

केवल कहीं गली में दो-चार लड़कियाँ और बूढ़ी औरतें उन्हें मिलीं, और वे उन के साथ हो लीं। और वे धीरे-धीरे हवाना के बन्दरगाह की ओर उन्मुख हो कर चलीं कि और कहीं नहीं तो वहाँ पर लोग अवश्य मिलेंगे, क्योंकि उस के सब ओर हवाना का अभिजात वर्ग और उन के सहायक—राजकर्मचारी, अफ़सर, सिपाही, पुलिसवाले, व्यापारी—इस विराट् प्रपंच के स्तम्भ—बसते हैं।···

वे क्रान्तिकारिणी नहीं थीं—उन में क्या था, जो क्रान्तिकारी कहा जा सकता है ? वे एक निश्चय, और जीवन के प्रति एक भव्य विस्मय का भाव ले

र चल पडी थी ! उन में वह क्रूर प्रचार-भाव नही था, जिस से क्रूसेडर लडा करते थे, या इस्लाम के मुजाहिद। यदि प्रचार की कोई भावना उन में थी तो वैसी ही, जैसी तिब्बत में हो कर चीन जाते हुए बौद्ध प्रचारक कुमारगुप्त के हृदय में···

जिधर वे जा रही थी, उधर बहुत शोर हो रहा था और उस को सुन-सुन कर वे और भी तीव्र गति से चलती जाती थी, उन दो-एक बूढी स्त्रियो मे भी किसी प्रकार का जोश जाग रहा था ··

आगे-आगे कार्मेन उछलती हुई जा रही थी—जैसे सूर्य के सात घोडो के आगे उषा · बीच-बीच मे, कभी वह किलकारी भर कर कहती थी, "क्रान्ति चिरजीवी हो !" और मानो क्रान्ति की सत्यता के आगे इस नारे की क्षुद्रता के ज्ञान से, एकाएक चुप हो जाती थी—तब तक, जब तक कि उस की आत्म-विस्मृति उसे फिर नारा लगाने की ओर प्रेरित नही कर देती थी। बुढियाँ चुप थी—शायद इस लिए कि उन्हे क्या, उन के सात पुरखाओ को भी क्रान्ति का पता नही रहा था ··

और मेरिया ? वह इस परिवर्तन और अशान्ति मे भी अपना वैधव्य नही भूली थी। वह कार्मेन के साथ-साथ चलने का प्रयत्न कर रही थी, किन्तु फिर भी बिना जल्दी के, एक भव्य मन्थरता लिये हुए। उस मे कार्मेन का उत्साह, सुख, यौवन की प्रतीक्षमान चुनौती नही थी ! न उन बुढियो का उदासीन, विवश स्वीकृतिभाव, उस मे था एक सन्तुष्ट अलगाव, मानो वह कही और हो, कुछ और सोच रही हो, कोई और जीवन जी रही हो, उस ने मानो इस जीवन की सम्पूर्णता पा ली थी···

क्यो ?

उस के जीवन मे आरम्भ से ही वचना रही थी, लगातार आज तक, तब फिर सन्तोष कहाँ था ?

यह जीवन का अन्याय (या एक क्रूर न्याय !) है कि उन्ही की वचना सब से अधिक होती है, जो जीवन से सब से अल्प माँगते हैं। मेरिया न कभी जीवन से कुछ नही माँगा, इसी लिए वह इतनी वचिता रही है कि उस कुछ भी नही मिला ··किन्तु शायद इसी लिए वह आज वचना मे इतनी सन्तुष्ट है कि सोचती है, वह सफल हो चुकी है, जीवन पा चुकी है और जी चुकी है।

उस ने अपना कुछ—अपना सब-कुछ !—मिगेल को नहीं तो मिगेल के नाम पर दे दिया है

वह विधवा है। मिगेल उस का कोई नहीं। पर·

उस का जीवन सम्पूर्ण हो गया है। उस के जाने, मिगेल उस की सहायता से छूट गया है, अमरीका चला गया है, आ कर क्यूबा को स्वाधीन और सुशासित कर गया है। इस के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता—क्या उस ने अपना सब कुछ इसी उद्देश्य से नहीं दे दिया?

विधवा मेरिया! तेरी फूटी आँखें, फूटी बुद्धि, फूटे भाग्य! चलो दोनों, देखो, सम्पूर्णता में भी आगे कुछ है

गली में सडक, सडक से चौराहे पर आ कर वे एकाएक रुक गयी हैं।

चौराहे के आगे ही हवाना महल के सामने का खुला मैदान है। वहाँ बहुत-सी भीड इकट्ठी हो रही है, इकट्ठी हो चुकी है, और फिर भी लोग सब ओर से धँसे चले आ रहे हैं। कोई कुछ कर नहीं रहा—क्रान्ति में कौन क्या करता है?—पर सब धँसे आ रहे हैं, मानो स्वाधीनता यहीं बिखरी पडी है और वे उस बटोर कर ले जायेंगे। और कोई जानता नहीं कि वे किस लिए वहाँ आ रहे हैं, केवल और लोगों के उपस्थित होने के कारण वे भी यहाँ आ जुटते हैं

यहाँ क्या होगा? कुछ नहीं होगा, मानवता अपनी मूर्खता का प्रदर्शन अपने ही को करेगी, और फिर झेंप कर स्वयं लौट जायगी। या अपने ही से पिटी हुई—सब लोग कहेंगे कि क्रान्ति सफल हो गई, या दूसरों से—तब लोग जानेंगे कि प्रतिक्रान्ति की जीत रही। और दोनों अवस्थाओं में वे उस ध्येय को नहीं पायेंगे, जिस के लिए उन में अशान्ति उठ रही थी—क्योंकि अभी उन में उसे प्राप्त करने की शक्ति नहीं है। वे स्वाधीनता के किसी एक नाम से दासता का कोई एक नया रूप ले जायेंगे!

मरिया स्तिमित सी हो कर खडी देख रही है। ये सब भाव उस के हृदय में से हो कर दौडे जा रहे हैं। उस का व्यथा से निर्मल हुआ अन्तर बहुत दूर भविष्य को भेद कर देख रहा है यद्यपि वह वर्तमान नहीं देख पाता। उस के मन में एक निराश प्रश्न उठ रहा है, जिसे वह कह नहीं सकती, एक प्रकांड संशय, जिस का वह कारण नहीं समझती। उस का हृदय एकाएक रोने लगा है, यद्यपि

वह यही जानती है कि उसे इस समय आह्लाद से भर जाना चाहिए, इस नवल प्रभात में, जब उस का देश जागकर स्वतन्त्र हो रहा है।

एक थी कैसाड्रा, जिस की दिव्य-दृष्टि अभिशप्त थी, जिस के फल-स्वरूप उस की भविष्यवाणी का कोई विश्वास नहीं करता था ' एक है मेरिया, जो इतनी अभिशप्त है कि स्वयं ही अपनी दृष्टि पर विश्वास नहीं कर पाती '' उसे कुछ समझ ही नहीं आता, वह पागल की तरह देख रही है

नहीं तो, वह तो सफल हो चुकी है, सम्पूर्ण हो चुकी है, उसे अब क्या ? वह तो सन्तुष्ट है, प्रसन्न है।

वह मुड कर, कार्मेन को आँखों से खोजती है। कार्मेन उस से कुछ ही दूर खड़ी किसी से बात कर रही है।

क्या कह रही है ? उस व्यक्ति को सुना कर कार्ल मार्क्स के कुछ वाक्य दुहरा रही है, जिसे उन दोनों ने इकट्ठे पढ़ा था। और मेरिया को अनुभव होता है, कार्मेन प्रयत्न कर रही है कि उन वाक्यों को मेरिया की तरह बोले···वह व्यक्ति उपेक्षा से, तिरस्कार से, शायद क्रोध से या भय से या किसी मिश्रित भाव से, सुन रहा है, क्योंकि वह मैचाडो की पुलिस का आदमी है, (होने दो !) कार्मेन की ध्वनि सुन कर मेरिया आनन्द से और आह्लाद से भर जाती है, उस का सारा निराशावाद और असन्तोष निकल जाता है क्या हुआ यदि वह कुछ नहीं है, वह कुछ नहीं पा सकी, वह रोनी रही, वह अनाथिनी, अभागी, वञ्चिता रही है ? उस के दो हैं, जो ऐसे नहीं, और उसी के कारण ऐसे नहीं —कार्मेन और मिगेल ''कार्मेन, जिसे उस ने सुखी रखा और जो उस के पास खड़ी है; मिगेल, जिस उस ने छुड़ाया है और जो इस समय अमरीका के पथ पर होगा··· ओ स्वतन्त्र, स्वाधीन क्यूबा, तुझे मेरे ये दो उपहार हैं; और मेरा जीवन अब सफल और सम्पूर्ण हो चुका है—

मेरिया का गला घुटता है, वह चीख भी नहीं सकती, झपटती है—

उस व्यक्ति ने जेब से रिवाल्वर निकाल कर कार्मेन पर गोली चला दी है, कार्मेन बिना कुछ बोले, बिना खींची हुई साँस को छोड़े भी, ढेर हो गई है···

7

वहाँ उस के आस-पास, एक छोटा-सा घेरा खाली हो गया है।

वह उस के मध्य मे खडी है। वह एक स्वप्न मे आयी थी, एक स्वप्न मे छुपी थी, अब एक स्वप्न मे खडी है। एक मरा हुआ स्वप्न उस की बाँह मे लटक रहा है, मरा हुआ, किन्तु रक्त-रंजित, अभी गर्म · और उस की दूसरी बाँह उस के सिर पर धरी हुई है, मानो सिर से वह रही हो, "ठहर, अभी यही रह ···"

वही से, उसी व्यक्ति की कर्कश हँसी सुन पडती है, पर सहमी हुई भीड मे कोई नही है, जो इस समय भी उसे चुप करा दे ! और मेरिया के सिर पर से तूफान बहा जा रहा है, नि शब्द, भैरव, निरीह तूफान·· पर उस का सिर झुका नहीं, उस की आँखें झपकी नही। वह स्थिर, शून्य, जड, स्वप्न दृष्टि से सामने देख रही है, नींद मे भीड के मुखों म कुछ पढ रही है, उन मुखो मे लगी हुई आँखों मे, जो उस की बाँह से लटकते हुए अभी तक गर्म रक्त-रंजित स्वप्न को देख रही है, किन्तु जो मेरिया की फटी आँखो से मिलती नही···

मेरिया टूट गयी है, पर अभी जीती है, और सामने देख रही है··· सामने जहाँ भीड स्तब्ध हो रही है··

यह सब क्षण-भर मे—क्षण-भर तक ! तब भीड मे कुछ फैलता है जो भय से हजार गुना त्वरगामी जान पडता है, और भीड भागती है—इधर-उधर, जिधर हो·· कहाँ को न जाने; किस स, न जाने, पर यहाँ से कही अन्यत्र, इस स्वप्निल स्त्री-रूप की छाया से बाहर कही भी, जहाँ ससार का अस्तित्व हो

स्वप्न टूटता है। मेरिया उस भगदड म देखती है—एक भूखा, लँगडा, अधनगा शरीर, एक प्यासा, थका हुआ, व्यथित मुख, जो उस के देखते-देखते क्षण-भर मे ही अत्यन्त आह्लाद और अत्यन्त पीडा मे चमक उठता है—और खो जाता है।

मेरिया एक हाथ से कार्मेन को उठाये है—उस का दूसरा हाथ आगे बढता है, मानो सहारे के लिए ! ओठ कुछ उठ कर खुलते हैं, मानो पुकार के लिए—और मिगेल के लडखडा कर गिरे हुए शरीर को रौंदती हुई भीड चली जाती है, चली जाती है, चली जाती है ··

इस का भी अन्त होगा। सभी कुछ का अन्त होगा। और नयी चीजें होगी, जो इन स विभिन्न होंगी। अच्छी हो, बुरी हो, ऐसी तो नही होगी। वह देश के अमर शहीदो म से होगी या अपमानित परित्यक्त वेश्या, सब एक ही बात है—ऐसे तो नही होगी, ऐसे खडी तो नही रहेगी···

जैसे अब खडी है। एक हाथ से कार्मेन का शव लटक रहा है, और दूसरा मानो सहारे के लिए आगे बढा है; शरीर और मुँह एक दर्प से उठा हुआ है, जो टूटता भी नही, आँखें एक भावातिरेक को ले कर भरी हुई हैं, और यह चित्र मानो शब्दहीन, रक्तहीन, जीवहीन, अत्यन्त श्वेत पत्थर का खिचा हुआ उस जनहीन मैदान मे खडा है ··

यह क्या किसी कुछ का सकेत नही है—कुछ नश्वर, कुछ अमर, कुछ अच्छा, कुछ बुरा, कुछ सच्चा, कुछ झूठा, कुछ मूक, कुछ व्यजक, कुछ अति-शय विकराल···

एक हाथ पर मरे हुए प्रेम का बोझ लिये, दूसरे हाथ से किसी चिर-विस्मृत मृत प्रेम को भीड मे से बुलाती हुई, आँखो से भव को फाडती हुई, एक सन्देश-वाहिनी पीडा···

घोडे गुज़र जाते हैं। मनुष्य गुज़र जाते हैं। भीड गुज़र जाती है। प्रमाद गुज़र जाता है। पर आशा—आशा—विभ्राट्; भूख—भूख—रिक्तता; वेदना—वेदना—पराजय, बिखरी हुई प्रतिज्ञाएँ, यह है क्रान्ति की गति। प्रलय-लहरी क्यूबा मे—जैसे वह अन्यत्र गुज़री है, वैसे वह सर्वत्र गुज़रेगी—विद्रोह···

किन्तु कोई जानता नही। कोई देखता नही। कोई सुनता नही। कोई समझता नही। मेरिया की अनझिप आँखें—कैसाड्रा का अभिशाप···

कोठरी की बात

•

मुझ पर किसी ने कभी दया नही की, किन्तु मैं बहुतो पर दया करती आयी हूँ। मेरे लिए कभी कोई नही रोया, किन्तु मैंने कितनो के लिए आँसू बहाये हैं, ठडे, कठोर, पत्थर के आँसू···

किन्तु इसके विपरीत, कितने ही भावुक व्यक्तियो ने मेरे विषय मे काव्य रचे हैं, कितने ही मेरे ध्यान मे तन्मय हो गये हैं, पर मैं कभी किसी की ओर आकर्षित नही हुई, मेरी भावना किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व मे नही बँधी, मुझे कभी आत्मविस्मृति और तन्मयता का अनुभव नही हुआ···

क्योकि मैं सदा दूसरो पर विचार करती आयी हूँ, और मेरा निर्णय, मेरा न्याय, सदा ही कठोर रहा है, यद्यपि पक्षपात-पूर्ण नही, नपा-तुला रहा है पर दया से विकृत नही ··

मुझ मे जीवन नही है, किन्तु मैं जीवन देने की उतनी ही क्षमता रखती हूँ जितनी उसे छीन लेने की, विनष्ट करने की। मेरा काम है तोडना, मेरा आविष्कार ही इस लिए हुआ है, किन्तु जब मैं बनती हूँ, तब जो कुछ मैं बनाती हूँ, वह अखड और अजेय होता है। मैं स्वय पत्थर की हूँ, वज्र-हृदय हूँ, इस लिए मेरी रचनाएँ भी वज्र की सहिष्णुता रखनेवाली होती हैं···

मैं हूँ एक नगण्य वस्तु, सभ्यता के विकास का एक बडे यत्न से छिपाया हुआ उच्छिष्ट अश, जो उसी सभ्यता मे अपनी कुढन के अत्यन्त अकिंचन कीटाणु फैलाता जाता है—बिना जाने ही नही बल्कि जान-बूझ कर अपने से छिपाये गये साधनो द्वारा, चुपचाप, चोरी चोरी किसी भावी, व्यापक, चिरन्तन, घोर आतकमय जीवन विस्फोट के लिए···

मैं हूँ मुक्ति का साधन एव बन्धन—मैं ससार के किसी भी राज्य के किसी भी जेल की एक छोटी-सी कोठरी हूँ···

मैं जहाँ हूँ, वहाँ से कभी हिली नही। एक बार, कभी किसी ने मुझे बना दिया था, तब से मैं वैसी ही चली आ रही हूँ। कभी-कभी लोग आ कर मेरे अलकार भूषण बदल जाते हैं अवश्य, मुझे नयी कड़ियाँ, नयी शृखलाएँ, और नये पट दे जाते हैं, मेरे मुख और वक्ष पर नया आलेप कर जाते हैं, पर इस से मौलिक और प्रत्यक्ष एकरूपता नही बदलती—वैसे ही जैसे स्त्री के आचरण और अलकार बदल दने पर भी उस का आत्यन्तिक रूप वही रहता है पर ऐसा होते हुए भी मैंने दुनिया देखी है और देखती हूँ, दुनिया के अनुभव सुने हैं और सुनती हूँ, और इस के अतिरिक्त, अपने प्रगाढ अकेलेपन म मैंने एक और शक्ति पायी है—मैं आत्माएँ पढती हूँ। मेरे पास जो आता है, मैं उसे आर-पार देख, पढ और समझ लेती हूँ

कभी सोचती हूँ, मेरा जीवन एक निष्प्राण पत्थर की बनी हुई वार-वधू का सा है, क्योंकि मेरे अपने स्थान से टले बिना ही अनेकों लोग मेरे पास से हो जाते हैं, अपना गूढतम निजत्व मुझ पर व्यक्त कर जाते हैं, और लुट कर, कुछ सीख कर, अवश्य पुन आने का या कभी फिर आने का नाम न लेने का निश्चय कर के चले जाते हैं, और मैं अपना अपरिवर्त्त अनन्त-यौवन लिये, उसी भाँति निर्लिप्त और अजेय और सम्पूर्णत अनासक्त, उन्हें जाने देती हूँ और अग्रिम आगन्तुक की प्रतीक्षा करने लग जाती हूँ

और जब याद आता है किसी भी नवागन्तुक के लिए मुझे सजाया और साफ किया जाता है मेरा प्रत्यग धोया और अलिप्त किया जाता है मेरे धातु के आभूपण चमकाये जाते हैं और जब प्रति सन्ध्या को आ कर मेरे कपाट और ताले खडका कर मानो घोषित करते हैं कि 'वस्तु अच्छी है', तब तो मुझे स्वय यह विश्वास हो जाता है कि मैं वार वधू ही हूँ और मैं लज्जा से सकुचा जाती हूँ, कुठित हो कर पहले से भी अधिक छोटी और घिरी हुई जान पडने लगती हूँ, मेरा दम घुटने लगता है तभी तो कभी-कभी मेरे क़ैदियों को एकाएक ध्यान आ जाता है कि वे बद्ध हैं, या कि उन के बन्धन एकाएक अधिक सकुचित और कठोर हो गये हैं, और वे 'कुछ' कर डालने के लिए तड़फड़ाने लगते हैं

कभी सोचा करती हूँ, मेरा आदिम पिता, मेरा अत्यन्त पूर्वज, कौन था? क्योंकि कोई व्यक्ति यदि ससार की कुत्सा और घृणा का पात्र है तो वही तब

जान पड़ता है कि मेरा एकमात्र सम्भव आदिम निर्माता स्वयं ईश्वर है (यदि वह है तो) क्योंकि मैं अत्यन्त प्राचीन काल से किसी-न-किसी रूप में संसार में चली आ रही हूँ, संसार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना, प्रत्येक आकार, प्रत्येक अनुभूति मेरा ही कोई छिपा हुआ या विकृत रूप है मैं ही वह आदिम समुद्र थी जिस से सृष्टि की उत्पत्ति हुई, मैं ही ईडन-उद्यान की परिधि थी, मैं ही उस आदिम धूम्रपुंज का आकार थी जिस में तारे और ग्रह और नक्षत्र और अन्य भौतिक आकार उत्पन्न हुए · यदि संसार में पहले प्रज्ञा और माया थी, तब मैं माया का अन्धकार थी, यदि पहले आलोक और अन्धकार थे, तो मैं अन्धकार की गरिमा थी; यदि ईश्वर ने पहले-पहल लिलिथ को बनाया तो मैं लिलिथ के *कांचन कचों की एक लट थी जिस के द्वारा वह युवकों के हृदय बाँधती थी और घोंट देती थी···*

किन्तु ये सब विचार मिथ्या हैं, आत्मप्रवंचना हैं। मैं वास्तव में कुछ नहीं हूँ, केवल एक समय एक मिथ्या डर, ज्यामिति के आकारों की भाँति एक काल्पनिक रेखा-जाल जिसे समाज ने पत्थर में खींच दिया है · यही मेरे अन्त-र्विरोध का हल है। मैं कुचलती हूँ तो उद्दीप्त भी करती हूँ, दबाती हूँ तो स्वयं उपेक्षित भी होती हूँ, आतंक फैलाती हूँ तो पराजित भी होती हूँ ··मैं सब-कुछ हूँ जो लोग मुझे बना देते हैं, और वास्तव में मैं हूँ 'कुछ' अपरिवर्त्त, तुषार-शीतल, निष्प्राण ·

मैं बाँधती हूँ, पर निष्क्रिय रह कर, न्याय करती हूँ तो निरीह हो कर। मैं चुप रहती हूँ—पर कभी-कभी उस मौन के विरुद्ध किस कारण मेरा सारा *अस्तित्व उठ खड़ा होता है? तब चुप रहना मुझे स्वयं चुभता है, सालता है,* मैं चाहती हूँ कि फट कर खुल जाऊँ, एक मार्ग बना दूँ, पर कहाँ मैं रो भी नहीं सकती और यही सोच कर और भी रोना आता है—कि मैं रोने से वंचित इस लिए हूँ कि मेरी सम्पूर्णता ही एक जड़ीभूत, प्रस्तर-खचित आँसू है!

इस विक्षोभ से मेरे कहाँ-कहाँ घाव हो गये हैं ··और इतने कि मैं गिना भी न सकूँ न इंगित कर सकूँ। घाव की स्थिति तो तब बतायी जा सके जब उस की वेदना की कोई सीमा हो। वह तो इतनी फैली हुई है कि सर्वत्र एक ही घाव की पीड़ा जान पड़ती है ··

पर, बिना स्थितिवता मवने के भी, मुझे कभी-कभी याद आ जाता है कि कैसे कभी यहीं कोई घाव हुआ था···और तब फिर मैं सोचने लगती हूँ···

यह वेदना क्यों होती है ? मैं नाम कर के थक जाती हूँ पर याद नहीं आता कि यह सब से होने लगा और कैसे···संसार की बहुत-सी वेदनाएँ इसी प्रकार की होती हैं। जब कोई आत्मीय मरता है, तब हम उसे याद कर के रोते हैं, पर शीघ्र ही आत्मीय की स्मृति तो खो जाती है, किन्तु एक कोमल-सी कसक रह जाती है। हम रोते रहते हैं, पर पीडा के उद्रेक से नहीं, केवल अभ्यास के वश··· और फिर ये वेदनाएँ लुप्त भी इसी भाँति हो जाती हैं। तब हमें उन की सत्यता में ही सन्देह होने लगता है। जिस प्रकार मूल कारण के लुप्त हो जाने के बाद भी पीडा की अनुभूति रह जाती है, उसी प्रकार पीडा के लुप्त हो जाने के बाद भी हमारे मन में उस की भावना देर तक रहती है, जैसे लम्बी यात्रा के बाद जहाज़ से उतरने पर भूमि डगमगाती हुई जान पडती है। जब हमें ध्यान होता है कि भूमि नहीं डगमगा रही, केवल अभ्यास का भ्रम है, तब हम जहाज़ के डगमगाने को भी भ्रम समझने लगते हैं। उसी भाँति, जब हमें एक दिन ज्ञान होता है कि जिस पीडा की अनुभूति से हम रो रहे हैं, वह चिरकाल से वहाँ नहीं है, तब हमें इस बात में ही सन्देह होने लगता है कि वह कभी थी भी···

पर—

यह मानव-हृदय की कमजोरी है, या सभ्यता से उत्पन्न एक गहरा विषण्ण दुःखवाद या पीडा की व्यापकता और सार्वजनिक अनुभूति कि जहाँ हम आनन्द को एक भगुर भावना मानते हैं, वहाँ पीडा को अवश्यम्भावी और चिरन्तन समझते हैं ·

मुझे याद आता है···

पर, उसे कहने के पहले यह कहूँ कि मैं कहाँ हूँ, कैसी हूँ, और मेरे पास-पडोस में कौन है···

मैं अन्धी हूँ, मुझे साधारण दृष्टि से कुछ नहीं दीखता। इसी लिए, साधारण वस्तुओं के साधारण रूपाकार का वर्णन मैं नहीं कर सकती ··मुझे दीखती हैं, विभिन्न आकारों के किसी श्याम आवरण में लिपटी हुई आत्माएँ—जिन्हें आकार-भेद के अनुसार हम विभिन्न नाम देते हैं ··

मेरे तीन ओर मुझ-सी ही अनेक कोठरियाँ हैं, और चौथी ओर एक ऊँचा परकोटा जिस की आत्मा मानो विद्रूप से हँस रही है · और इस के बाहर विस्तृत मरु, जिस मे कहीं-कहीं सरकंडे का एकाध झुरमुट, कहीं करील की एक सूनी-सी झाड़ी, या कहीं दो चार खजर खड़े हैं, ऐसी मुद्रा में मानो मरु से कह रहे हों 'हम दीन हैं, पर झुकते नहीं, हम झुकते नहीं, पर अत्यन्त दीन और दुखी हैं ···' ग्रीष्म में, जब यहाँ उत्तप्त लू बहती है, रेत उड़-उड़ कर खजूरों में उलझती है मानो मरु ने उन दीनों को कुचलने के लिए सेना भेजी हो, तब कुछ उत्तप्त कण आ कर मेरे आश्रित बंदी को भी झुलसाते हैं, वैसे ही जैसे रणोन्मत्त सैनिक प्रतिद्वन्द्वी के पास-पड़ोस में बसे हुए लोगों का भी विनाश कर देते हैं, क्योंकि विनाश-भावना औचित्य नहीं देखती···तब मैं स्वयं आहत हो कर अपने आश्रित की रक्षा करती हूँ। मेरा शरीर लू की तपन से नहीं, अपने आन्तरिक विक्षोभ से उत्तप्त हो जाता है, और मैं उद्देश्य भ्रष्ट हो जाती हूँ— अपने आश्रित का भला करने की भावना ले कर उस के अनिष्ट का साधन होती हूँ · और शीतकाल में···किन्तु शीत और ग्रीष्म केवल मात्रा के भेद हैं, हम सब रहते तो वही हैं और हमारे परस्पर सम्बन्ध भी यदि चन्द्रमा आकाश में आ कर मेरे बालरूप पर अपनी सम्मोहिनी ज्योत्स्ना का आवरण डाल कर, मुझे सुन्दर और आकर्षक तक बना देता है, तो क्या इस से मैं कोठरी नहीं रहती ? क्या मैं उसी प्रकार लोगों को बाँधती और तोड़ती नहीं ? और, मेरे इन दो-चार सीखचों के बाहर विस्तीर्ण आकाश या प्रच्छन्न मेघमंडल होने से क्या मेरे बन्धन ढीले या अधिक कठिन हो जाते हैं ? क्या दृष्टि की सीमा, या अन्य इन्द्रियों की सीमा ही प्राणों की, गुणानुभूति की सीमा है ?··

हाँ तो, मुझे याद आता है ·

वह बहुत पुरानी बात है—मेरी बाल्य स्मृतियों में से एक · यद्यपि उस से पहले मेरे पास कई लोग आ चुके थे, तथापि उस में कुछ था जिस ने एकाएक मुझे चौंका दिया, जिस में मैंने कुछ देखा जिस के कारण मैं उसे भूल नहीं सकी उस के पहले, एक ऐसा आया था जो मानो किसी के प्राण उधार ले कर आया था। इसे प्राणों का कोई मूल्य नहीं था—वीरोचित उपेक्षा के कारण नहीं, किसी गूढ़ अक्षमता के कारण, जीवन-शक्ति के किसी भीतरी अपघात के

कारण · यह उन व्यक्तियों में से था जो कुछ भी कर सकते हैं किन्तु अपनी प्रेरणा से नहीं, सक्रिय हो कर नहीं, केवल काल-गति के पुतले बन कर · इन में अपनी नीति, अपना आचार, अपना चारित्र्य, कुछ नहीं होता, वे मानो जीवन-ज्वार पर तैरते हुए घास-फूस होते हैं। उन्हें अपने किसी कार्य के लिए दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता और क्षमा भी नहीं किया जा सकता; वे स्वयं कुछ भी नहीं करते, किन्तु समाज के सच्चे शत्रु वही होते हैं···इन में आरम्भ में तो थोड़ी-बहुत अनुभूति होती है, शायद वे कभी-कभी यह भी देखते हैं कि वे किधर बहे जा रहे हैं, पर इस ज्ञान के पीछे बतलाने की प्रेरणा नहीं होती। वे देख कर खिन्न हो लेते हैं, और फिर, उसी खेद की प्रतिक्रिया में पहले से अधिक गिर जाते हैं, और यह प्रक्रिया बराबर होती रहती है, तब तक जब तक कि उन में यह अनुभूति भी सर्वथा नष्ट नहीं हो जाती, और वे बिलकुल पाषाणहृदय नहीं हो जाते···

और एक और भी आया था···जिसे भूलना ही क्षमा है, और जिस की स्मृति उस का सब से बड़ा दंड है, क्योंकि वह महदाकांक्षी था, संसार पर अपनी छाप बिठाना चाहता था, पर उस के लिए जो त्याग करना पड़ता, उस से घबराता था · महदाकांक्षा ने उसे विद्रोह की ओर प्रेरित किया था, किन्तु जब महदाकांक्षा ने ही विद्रोह का मूल्य उस से माँगा तब उस ने न केवल किये को ही विनष्ट किया, प्रत्युत औरों के भी, जो कि महदाकांक्षी न हो कर भी त्याग करने को तैयार थे · वह अपना पुरस्कार यह समझता था कि वह लोगों की स्मृति में जीवित रहे, किन्तु आज उसे याद रखना उस की सत्यता को याद रखना, उस का सब से बड़ा दंड है···

किन्तु मैं उसे याद रखने का यत्न करना नहीं चाहती। वह संसार का कार्य है, जो दंड देता है। मैं दंड नहीं देती, न पुरस्कार देती हूँ; मैं केवल विचार करती हूँ, निर्णय कर के रह जाती हूँ···ये व्यक्ति आते हैं और मेरे वक्ष वक्ष पर बनते या टूटते हैं, और मैं संसार को जता देती हूँ कि उन पर क्या हुआ · मैं उन के भग्नावशेषों को पुनः जोड़ती नहीं, उन्हें छिपाती भी नहीं ·

जिसे याद करती हूँ उस की बात कहूँ ·

परिधियाँ, बन्धन बहुत व्यक्तियों को अधोगामी बनाते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो उस की स्फूर्तिदायिनी उत्तेजना के बिना जी ही नहीं सकते··

जिस की मैं बात कहने लगी हूँ, वह इसी दूसरी श्रेणी मे था'' उस का नाम था सुशील। इस नाम से यह नही सिद्ध होता कि उस मे शील का आधिक्य या न्यूनता थी, यह केवल यही जताता है कि उस के पिता को शील की आवश्यकता थी—वे क्रोधी, सहसा बिगड उठनेवाले, और सहसा ही शान्त हो जानेवाले, प्राय ससार के प्रति एक विक्षुब्ध चिडचिडापन लिये किन्तु कभी-कभी अत्यन्त प्रसन्न, साधारणत अपनी सतान को उपेक्षापूर्ण सीमा मे बाँध कर रखनेवाले किन्तु कभी-कभी, या किसी-किसी सम्बन्ध म, बहुत स्वच्छन्दता दे देनेवाले या छीन लेनेवाले, व्यक्ति थे'''सम्भवत' उन का मन उन्हें कोसा करता था कि उन मे गम्भीरता की, एकरूप शील की कमी है, और इसीलिए उन्होने उस का नाम सुशील रखा था 'हम सभी अपनी न्यूनता को अपनी कृतियों द्वारा छिपाने की चेष्टा करते हैं

सुशील स्वभावत विद्रोही था। किन्तु जा 'स्वभावत विद्रोही' होते है, उन की विद्रोह-चेष्टा बौद्धिक नही होती, उस का मूलोद्भव एक भावुकता मे होता है। कभी वह भावुकता बौद्धिक विद्रोह स परिपुष्ट भी होती है, तब वह विद्रोही अपनी छाया देश और काल पर बिठा जाता है। पर बहुधा ऐसा नही होता, बहुधा भावुक विद्रोही समय के किसी बवडर म फस कर खो जाते है—क्योकि भावुकता स्वय एक बवडर है ''हाँ तो, सुशील अपने घर के नियमित अत्याचार से और अनियमित आकस्मिक दुलार से, अधिकाधिक विद्रोही होता जाता था, क्योकि घर का वातावरण उसे स्थैर्य नही देता था, बल्कि ज्वालामुखी सी एक विस्फोटक निश्चेष्टा—जो एक दिन फूट पडी! सुशील घर से भाग निकला, और इधर उधर सच्चे-झूठे विद्रोहियो मे फँस कर मेरे पास आ गया ''

लोग समझते हैं कि जो नवयुवक जेल म आते हैं, वे स्वेच्छा से, एक बौद्धिक प्ररणा से आते हैं 'झूठ! वे आते हैं एक अनिवार्यता के वश, जिसपर उन का किंचिन्मात्र भी नियन्त्रण नही है! अगर कोई प्रौढ व्यक्ति आवे, तब तो यह बात सम्भव है, किन्तु युवको के आने का कारण, उन का आवाहन करनेवाली प्रेरणा, उन के मस्तिष्क स नही आती! वह आती है एक अज्ञात मार्ग द्वारा, और आती है उन युवको के घरो से, माता-पिता से और उन की परिस्थिति से, उन के समाज की उन से मिलनेवाली (या बहुधा न मिलनेवाली) स्त्रियो स—

विशेषत उनकी वहनो से···सुशील से कोई पूछता कि वह क्यो विद्रोही हुआ, उस से तर्क करता कि उस का मार्ग लाभकर नही है, तो उस की बुद्धि शायद इस का समुचित उत्तर न दे पाती, किन्तु उस का हृदय अवश्य पुकार उठता—'नही ! मैंने इस मार्ग का ग्रहण इस लिए नही किया कि यह अधिक लाभकर है, प्रत्युत इस लिए कि मेरे वास्ते और कोई मार्ग है ही नही यदि मेरे कार्य से देश को लाभ होता है, तो अच्छा है, पर मैंने यह मार्ग इस लिए नही ग्रहण किया। मैं यदि विद्रोही हूँ तो बस इसी लिए कि मेरी प्रकृति यह माँगती है, मेरी जीवन-शक्ति की वही निष्पत्ति है · ' और उसके हृदय का कथन बिलकुल सच होता···मैं जानती हूँ ! मैं अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखती हूँ—उस के जीवन के कुछ एक दिन—कुछ-एक क्षण···एक वह क्षण मे जिसम उस की विस्फारित आँखें रात मे दिये के प्रकाश से, उस के माता-पिता के बीच एक छोटे-से, अत्यन्त प्राचीन, अत्यन्त साधारण किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गोपनीय दृश्य को देखती हैं— अच्छी आँखें, क्यो कि वे मन के पट पर जो कुछ लिखती है, मन उसे पढ नही पाता। वह लिखावट उसी भाँति मन के एक कोने मे पडी रहती है जैसे किसी पुरातत्त्ववेत्ता के दफ्तर मे कोई ताम्रपट, जिस की लिपि स वह अभ्यस्त नही है, और जिसे किसी दिन वह एक कोष की, और अन्य लिपियो की सहायता से एकाएक पढ लेता है फिर एक वह क्षण जब वह और उस की बहिन पास-पास लेटे हुए किसी विचार मे निमग्न है—शायद अपने उस समीपत्व के पवित्र, रहस्यमय सुख मे, और जब उस के पिता एकाएक आ कर उसे उठा देते है, फटकारते हैं कि वह अपनी बहिन के पास क्या लेटा है, और एक ऐसी क्रुद्ध, सन्देहपूर्ण, जुगुप्सा मिश्रित ईर्ष्यावाली और इतनी विषावन दृष्टि से उन की ओर देखते हैं कि उस के मन म कोई परदा फट जाता है, उस एक कोष मिल जाता है, जिस से पहला दृश्य भी सुलझ जाता है, और अन्य अनेको दृश्य और शब्द और विचार अपना रहस्य सहसा उस पर बिखरा दते हैं जिन के बोझ से वह दब जाता है, जिन की तीखी गन्ध से उस का मानसिक वातावरण असह्य हो उठता है, और वह एक अँधेरे कोने म बैठ कर राता है और निश्चय करता है कि अब कभी बहिन के पास खडा भी नही होऊँगा · और वह क्षण जब यह देख कर कि उस की बहिन ने भी ऐसा ही निश्चय किया है, और बहिन की अकथ्य मर्मव्यथा समझ कर, वह एक साथ ही अपना और उस

का निश्चय तोड कर उस के गले लिपट कर रोता है और उसे भी रुलाता है ··· और वह क्षण—पर ये तीन क्षण ही प्रखर प्रकाशक हैं, किसी व्यक्ति का इतना जीवन देख कर ही मैं उस के जीवन का इतिहास लिख सकती हूँ—उस के जीवन की घटनाओ का नही, समूचे जीवन का, उस की प्रगति का, मानसिक प्रेरणाओं का, उस के उद्देश्य का···

जब वह मेरे पास आया था, तब उसे पक्का निश्चय था कि उस के जीवन के कुछ-एक दिन बाकी रह गये हैं, किन्तु उसे फाँसी नही मिली, नही मिली·· तब धीरे-धीरे, जो शक्ति उसे ढकेल कर वहाँ तक लायी थी, वह बिखर गयी, उस का स्थान लिया एक विक्षोभ ने, एक थकान ने, एक अश्रुहीन उद्वेक-हीन रुआँसेपन ने, जिस में कभी-कभी तूफान की तरह एक पागलपन आ जाता है। यह पागलपन मानो उस के जीवन का आधार था, उस की परिवर्त्तनहीन समरूपता को तोड कर कुछ दिन के लिए उसे शान्त कर देता था' 'यानी अशान्त कर देता था—क्योंकि जीवन और अशान्ति एक ही क्रिया के दो नाम है। शान्ति तो उस तूफान के पहले होती थी—जब वह बिल्कुल ही निर्लिप्त, बिल्कुल निरीह, एक गतिमान अचेतना-सा हो जाता था, शिथिल किन्तु घातक, जैसे दलदल ' उस तूफान में वह उन्मत्त हो कर मेरे वक्ष पर सिर पटक-पटक कर कहता था, 'मैं पागल हो जाऊँ ! पागल हो जाऊँ ! यदि मैं इस जीती मृत्यु से नही बच सकता, तो इस की अनुभूति ही नष्ट हो जाय ! शरीर को जितने कष्ट मिलें, मिलें; आत्मा को पीडा—अच्छा ही है, पर इस नीरस विशेष शून्यता का अनुभव करनेवाली मन शक्ति मर जाय ! मर जाय ! मर जाय !' पर व्यथा पर यदि विचार किया जाय, तो वह भी कुछ पिघल जाती है वह इस बात को समझता था कि उस के असह्य कष्ट का कारण जीवन का विशेषा-भाव है, और इसी समझ के कारण वह उस में आगे टूटता नही था चिन्तन से उसे पीडा होती थी, किन्तु पीडा उसे चिन्तन का आधार देती थी

और इसी लिए वह पागल नही हुआ 'इसी लिए, जब वह तूफान आ कर, उसे अशान्त कर के चला जाता था, तब वह उन्मद दानव की भाँति उस छोटी सी कोठरी मे टहलने लगता था—एक सिरे से दूसरे सिरे तक, एक, दो, तीन, चार, पाँच कदम फिर वापस, एक, दो, तीन, चार, पाँच, फिर लौट कर एक, दो, तीन और इसी तरह वह सारी रात बिता देता, तब उस की टाँगें थक जाती,

वह एकाएक रुक कर भूमि पर बैठ जाता, और चुपचाप मन-ही-मन रोने या कविता करने लगता · उस का एक शब्द भी बाहर नही निकलता, एक छाया भी उस के मुख पर व्यक्त नही होती, वह मानो किसी अदृश्य समुद्र के भाटे की भाँति धीरे-धीरे उतर जाती और निश्चल हो जाती— उस समय तक जब कि दूसरा तूफान पुन उसे न उठावे · पर मैं उसे देखती भी थी और सुनती भी थी—केवल मैं ही उस के नस-नस मे उस के प्राणो से भी अधिक अभिन्नता से व्याप्त थी···

वह सोचा करता था · एक चित्र, एक कल्पना·· कही पर्वत की उपत्यका मे, एक काठ का झोपडा, एक खुली हुई खिडकी । उस के सामने, रीछ का चर्म बिछा हुआ है, जिस के पास चौकी पर वह बैठा है । और उस के आगे, चर्म पर बैठी है— कौन ? वह सुशील के घुटने पर सिर टेके हुए है, उस के केश बिखुरे हुए है । दोनो स्थिर दृष्टि से सामने बुझती हुई आग को देख रहे है । सुशील धीरे-धीरे उस के ललाट पर अपनी ठोडी टेक देता है, और उस के बिखुरे केशो को और भी बिखेर कर उस मे अपना शीश, अपने स्कन्ध, और उस का शीश, सभी लपेट लेता है उस का मन कहता है, "इन के सौरभ मे ही खो जाऊँ, इन्ही म घुट कर चाहे मर भी जाऊँ ··"

यह दृश्य न जाने सुशील को कैसा कर देता था ! मानो उसे वेधता था; मानो उस का अप्रतिहत मौन साँय-साँय कर के सुशील के कानो मे कहता, 'तुम्हारा जीवन कितना सूना है—जैसे रेगिस्तान मे अनभ्र अमावस्या की रात ! जिस के तारो का असख्य अनुपात और अकिंचन प्रकाश उस की शून्यता और आलोकहीनता को दिखाता ही भर है ··'

तब फिर वह मेरे कपाट के पास आ कर, सीखचो को दोनो हाथो से पकड कर और भिची हुई मुट्ठियों पर सिर टेक कर बाहर देखने लगता । तब फिर उस का मन भागता — उस के जीवन के गुप्ततम विचारो, भावो और आकाक्षाओ की ओर, और मैं फिर उन्हे पढती, चुपचाप···

'आकाश · निर्बाध आकाश ··नील, हरित, शुभ्र, श्याम का विस्तीर्ण प्रसार—हा मेरी कल्पना के पर्वत और झरने और शिलाखड और चीड के वृक्ष और काही के बिस्तर, और हा यह लोहे के सीखचो मे से दीखता मरु, उस की

सीमा पर धुँधले-से गरवडे के झुरमुट, नीरस करील की सूखी हुई झाडियाँ और यह रुग्ण आकाश !...'

वह निकम्मा था, फिर भी निकम्मा नहीं बैठ सकता था। उस का मन सदा किसी विचार में लगा रहता—कभी भूत की ओर, कभी भविष्य की, कभी वर्तमान का विश्लेषण करता हुआ, किन्तु सदा निरत... और इस अनवरत चेष्टा का कारण केवल वहाँ का जीवन ही नहीं था, केवल उस का स्वभाव ही नहीं था। मैं, सूक्ष्मदर्शी मैं भी कुछ दिन भुलावे में रही थी, किन्तु अन्त में मैंने देख ही लिया कि उस के भीतर एक और प्रेरणा छिपी है, उस के भीतर कहीं बहुत गहरे तल में, वहीं जहाँ प्रेम का प्रकाश भी नहीं पहुँच पाता...

यह मैंने कैसे जाना? एक दिन सन्ध्या के समय वह अकेला बैठा था, बिलकुल शान्त, निश्चल, और बाहर देख रहा था। उस समय सान्ध्य-प्रकाश फीका पड़ चुका था, और उदय होने वाले चाँद की पीली पूर्वज्योति रुग्ण न रह कर दीप्तिमान-सी जान पड़ने लगी थी। सुशील बिलकुल शान्त बैठा था, किन्तु मेरे भीतर किसी संज्ञा ने कहा कि जिस प्रकार समुद्र के बहुत नीचे अत्यन्त क्षीण स्रोत गतिमान होते हैं, उसी भाँति उस के शान्त बाह्य पट के नीचे कुछ दौड़ रहा है... वह शान्ति किसी तल्लीनता की शान्ति थी, इस लिए मैंने चुपचाप उस के प्राणों में झाँक कर देखा, बहुत गहराई तक? इतनी दूर तक कि यदि वह तल्लीन न होता तो चौंक कर प्रात कुमुद की भाँति एकाएक बन्द हो जाता, छिप जाता, डूब जाता, मुझे अपने हृदय का रहस्य न देखने देता—जो मैंने अनजाने में देख लिया!

सुशील बाहर झाँक रहा था। मरुभूमि के उस सूखे पट पर एक छाया चली जा रही थी—मरु को चीरती हुई किसी बादल के टुकड़े की छाया की भाँति—और (सुशील के लिए) उतनी ही निःसत्त्व! घघरी पहने हुए एक स्त्री, सिर पर एक छोटा-सा मटका और बाँह के नीचे एक टोकरी दाबे... सुशील उसी को देख रहा था, और उस का हृदय किसी अज्ञात कारण से धड़क रहा था, बिलकुल निष्काम हो कर, उस स्त्री के प्रति बिना कोई भी भाव अच्छा या बुरा धारण किये हुए...

मैं उसे देख रही थी और सब-कुछ समझ रही थी। पर, एकाएक उस ने मुँह फेर लिया...मैंने सुना (उस के मुख से नहीं, उस के मस्तिष्क के भीतर)

मेरे लिए कोई आधार आवश्यक है···मेरे सखा-बन्धु सब मर चुके हैं। एक तुम हो, तुम भी कितनी दूर, अनुपगम्य·· और एक है यह छाया ! मैं तुम्हारी ओर ही उन्मुख हूँ, फिर भी ऐसा जान पड़ता है, उस छाया के बिना जी नहीं सकता·' फिर थोड़ी देर चुप रह कर, धीरे धीरे गाने लगा—

'मिथ्या कथा, के बोले ये भोलो नाइ?
के बोले ये खोलो नाइ
स्मृतिर पिंजर द्वार ?'···

मैंने पूछा, यह 'तुम' कौन है ? उस की मुझे एक झाँकी मिली, जिस में मैं उसे पहचान नहीं पायी ! शायद सुशील की बहिन, शायद वही नामहीन आकार जिसे ले कर वह बिखरे बालों की वह कल्पना करता था, शायद कोई और··· इस लिए मेरी उस प्रश्न-भरी दृष्टि का उत्तर नहीं मिला·

कभी सोचती हूँ, संसार में कभी किसी प्रश्न का उत्तर मिलता भी है ? जो प्रश्न एक बार पूछा जावे, वह क्या कभी भी अपना उत्तर पा कर संपूर्णता में लीन हो सकता है ?

प्रश्न जब पूछा जाता है, तब वह आकाश में फैल जाता है उस का उत्तर कितनी भी शीघ्रता से दिया जाय, प्रश्न और उत्तर में कुछ अन्तर रह ही जाता है। प्रश्न अबाध गति से अनन्त की ओर बढ़ता जाता है, और उत्तर उसी की गति से उस का पीछा करता जाता है ·वे सदा निकट रहते हैं, किन्तु केवल निकट—वे कभी मिल कर और एक हो कर सम्पूर्ण, सम्पन्न, समाप्त नहीं होते···

पर, इस से शायद जीवन को स्थायित्व, नित्यता मिलती है, शायद इस के कारण ही जीवन की विद्रोह-शक्ति मृत्यु के बाद तक अपरिवर्त्त रहती है, क्योंकि मृत्यु उसे पकड़ नहीं पाती···हाँ, तो उस प्रश्न का उत्तर मैंने कभी नहीं पाया। उस के बाद बहुत अवसर भी नहीं मिले। एक दिन मैंने देखा, उस के भीतर कुछ अधिक चहल-पहल है। उस दिन उस ने भूख-हड़ताल आरम्भ कर दी ··

उस के बाद···उस के हृदय में ऐसे तूफान उठने लगे कि मैं भी घबरा जाती ! मैं जो पत्थर की हूँ, जो अनुभूतिहीन हूँ, मैं उन भावनाओं की चोट नहीं सह सकती, जिन्हें वह लेटा-लेटा नित्य-प्रति अपने मन में फेरा करता। कई-एक

माग बीत जाने के बाद, कभी-कभी मैं डरते-डरते उस के कोमल-तर विचारों की आहट पा कर, क्षण-भर मे कान लगा कर सुनती, एक-आध अभूतपूर्व उद्-भावनाएँ चुरा लेती, अपने वक्षकोष मे सचित कर के रख लेती मुझ जैसे प्राणहीन पत्थरो से ही विकास-गति मे पड कर मानव बने हैं, तब किसी दिन मेरे कण-कण के भी बन जायेंगे, उन्ही भविष्यत् प्राणियो के लिए मैं ये भावनाएँ एकत्र किया करती''

सदियो पहले, जब मैं किसी पहाड का एक अश थी, तब बहुत-से प्राकृतिक दृश्य देखा करती थी, उन्ही की स्मृति से एक कल्पना मुझे सूझती है। कभी, जब वायु-मडल अत्यन्त स्वच्छ होता है, पर आकाश मे दो-एक छोटे-छोटे बादल के टुकडे मँडरा रहे होते है, ऐसी सन्ध्या म सान्ध्य तारे के आलोक मे एक कोमल धवल दीप्तिमडल बन जाता है। स्वाम की भाँति चचल और स्वप्न की की भाँति विचित्र। उसी दीप्तिमडल के छायानृत्य की भाँति सुशील के मुख पर विचार विवर्त्तन होता रहता, और मैं उसे देखती।

"मैं कैदी हूँ—तीन-चार वर्षों से मैंने किसी स्वतन्त्र व्यक्ति का मुख नही देखा —य जेल के कर्मचारी तो मुझ से भी अधिक कैद है! और यदि जीता रहा तो दस वर्ष और नही देखूँगा। मैं सब ओर बन्धनो से, सीखचो से, पशु-बल से घिरा हुआ हूँ। कोई मुझ से मिल नही सकता, कोई मुझ से बात नही कर सकता, मैं सदा इन्ही सीखचो से घिरा और बन्द रहता हूँ।

"मैं प्राणिमात्र का उपासक हूँ, पर मुझे हिंसावादी कहते हैं। मैं ससार को दबाव और अनुचित प्रभुत्व से मुक्त करना चाहता हूँ, पर मेरा नाम आतक-वादी है।

"मैं जनशक्ति का सेवक हूँ, इस लिए सर्वथा अकेला हूँ।

"इस विराट् षड्यन्त्र के विरुद्ध, अपने अकेलेपन से घिरे हुए मैंने, क्या अस्त्र ग्रहण किया है? विस्तीर्ण और दुर्जेय पशु बल से, सूक्ष्म किन्तु अजेय आत्मा की रक्षा के लिए, क्या युक्ति की है?

"भूख-हडताल!"

और फिर, एक दूसरी बार

'मैं निहिलिस्ट नही हूँ, मैं रोमांटिक नही हूँ। मुझे आत्मपीडन मे ऐन्द्र-यिक सुख नही मिलता, मुझे गौरव का उन्माद भी नही हुआ है। पर मेरी

परिस्थिति में एक ऐसी अपरिवर्त्त, सुधारमय, अमोघ अनिवार्यता है कि मुझे और कोई उपाय सूझता ही नहीं, जिससे कुछ लाभ हो सके···

"मैं एक महीने से भूखा हूँ—भूखा तो नहीं हूँ, क्योंकि भूख चार-पाँच दिन में ही मर गयी थी—एक महीने से मैंने कुछ नहीं खाया। जब मैंने खाना छोड़ा था, तब भी यही सब सोच कर छोड़ा था, तब भी अपने जीवन का मूल्य आँक लिया था। पर ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, ज्यों-ज्यों जीवन की शक्ति क्षीणतर होती जाती है, त्यों-त्यों उस का महत्त्व क्यों बढ़ता जाता है? इस हीन दशा में आ कर मुझे जान पड़ता है, मैंने पहले कभी जीवन का अनुभव ही नहीं किया! यद्यपि अब मेरे जीवन में क्या है? दिन में दो बार, बहुत-से बंदी और नम्बरदार आ कर मेरे क्षीण शरीर पर अपनी शक्ति की परीक्षा करते हैं, डाक्टर मेरे बिस्तर और मुँह पर थोड़ा दूध बिखेर जाता है, और मैं थका पड़ा रहता हूँ! हाय जीवन!

"पर जब तक हम मरते नहीं, तब तक जीवन नहीं जाता। मैं यहाँ बन्द हूँ, मेरे आसपास सनसनाती हुई शिशिर की हवा बह रही है, पर···"

और फिर भी···

"बाहर मैं देख सकता हूँ, अनभ्र आकाश में चन्द्रमा की ज्योति··· दूर पर, शुभ्र आकाश के पट पर श्याम, स्पष्ट और भीमकाय एक सन्तरी खड़ा है, और उस के हाथ की बन्दूक पर लगी हुई संगीन ज्योत्स्ना में चमचमा रही है··· लोहे की छड़ों से सीमित मेरे 'अनन्त' आकाश में एक साथ ही दो वस्तुएँ चमक रही हैं—ऊपर प्रकृति का सर्वोत्तम रत्न चन्द्रमा, और नीचे उस का उपहास करती हुई मानवीय शिल्प की सर्वोत्तम कृति, वह हिंसा का निमित्त, संगीन···

"दूर, जेल की दीवारों से बाहर, मैं देख सकता हूँ एक छोटा सा ऊजड़ भूमि का टुकड़ा—एक काव्यबद्ध सहरा मरुस्थल··· उस के सिर पर खजूरा के छोटे-से झुरमुट में कहीं से एक क्षीण-सी आवाज रहट चलने की आ रही है; बाहर कहीं लड़के खेल में चिल्ला रहे हैं, और चन्द्रमा के उजियाले प्रकाश में मुझे जान पड़ता है कि उस भूमि को पार करती हुई एक बैलगाड़ी जा रही है···और इस सब के ऊपर वह एक संगीन चमचमा रही है···

"मानवता और प्रकृति एक-दूसरे के सामने खड़े हो रहे हैं। मानवता की एक ललकार है किन्तु उस में डर का भाव निहित है, प्रकृति का भाव सम्पूर्ण

उपेक्षापूर्ण है, किन्तु उस उपेक्षा मे *एक कविता, एक प्रशान्त भव्य विराट् तत्त्व है* ·''

बुझते समय दीपक का आलोक सहसा दीप्त हो उठता है, किन्तु दीपक आजीवन उसी प्रखरतर दीप्ति से नही जल सकता। मरणासन्न मानव का मानसिक जीवन पहले से अधिक गतिमान् हो जाता है, किन्तु मानव आजीवन उसी तल पर नही रह सकता · एक दिन सुशील बेहोश हो गया, और बहुत देर तक रहा जब उसे होश हुआ, तब उसने जाना कि अब उस का विद्रोह शान्त होने वाला है *क्योकि उस की दासता मिटने वाली है* · तब, एकाएक ही, वह बहुत थके हुए प्राणी की तरह मेरे वक्ष पर सिर टेक कर रोया··

पागल ! पागल ! किन्तु कितना स्नेहपूर्ण पागल ! रोया जीवन के लिए नही, मुक्ति के लिए नही, उन रहस्यपूर्ण आकारो के लिए नही, रोया इस लिए कि वे उसे मेरे पास से ले जायँगे, कि उसे अपनी अन्तिम निद्रा और अन्तिम (या सर्वप्रथम ?) जागृति मेरी छाती पर नही प्राप्त होगी, रोया कि वह मुझ से बिछुड जायेगा ··

मैं पत्थर, कठोर पत्थर ! और अपनी जडता के ज्ञान से ही, अपनी गति-विवशता से ही, मैं उस दिन पिघल जाने के कितना निकट आ गयी···पर पत्थर कविता-कहानी के बाहर कभी नही पिघलता, मैं भी पिघल नही सकी, *उस के भस्म कर देनेवाले आँसुओ मे भी नही*···

किन्तु मैंने जो किया, वह उस से कही अधिक व्यथापूर्ण, कही अधिक यातनाभिभूत था—मैं उन आँसुओ को पी गयी···

उन्ही की ज्वाला से, मेरा वक्ष अभी झुलसा हुआ है। पर वह उन्हे देखने को नहीं है, वह मुझे अकृतज्ञ सकज्ञता हुआ ही चला गया···

स्मृति भी मानो अफीम की तरह का एक सम्मोहक विष है, वह एक विचित्र, थकी हुई-सी तन्द्रा लाती है, और ज्यो ज्यो हम उसके आगे नमित होते जाते हैं, त्यो-त्यो विष का प्रभाव द्रुततर होता जाता है और फिर सोते समय एकाएक वह पूरा हो जाता है, भीतर कुछ नष्ट कर डालता है···

मैं कह चुकी हूँ कि मैं कुछ नहीं हूँ और सब-कुछ हूँ। प्रत्येक व्यक्ति मुझ मे अपने प्राणो का, अपनी भावना का, प्रतिरूप पाता है। मैं कृष्ण-मन्दिर नही

हूँ, न दासता की संकेत हूँ। मैं हूँ केवल एक दर्पण किंतु काले शीशे का दर्पण · मुझ मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा-भर देखता है, बिल्कुल यथा-तथा, बिना किसी भी प्रकार के परिवर्तन या गोपन-चेष्टा के—आत्मा की नग्नता मे, निरावरणता मे बाह्य आडम्बर और दर्प और प्रतिभा और शक्तिमत्ता की हीनता मे···नगे सत्य की तरह अकोमल और कृष्णकाय ··

एक और की बात कहती हूँ। वह मेरे पास बहुत दिन नही रहा किन्तु मेरे पास आने से पहले भी वह कुछ काल तक जेल मे रह चुका था। वह आया ही, तो मैंने देखा, उस ने अपने भीतर एक छोटी-सी मजूषा अलग बन्द कर रखी है, और वह समझता है, उस मे बहुमूल्य वस्तुएँ हैं, वह समझता है, वे परकीय आँखो से अत्यन्त सुरक्षित हैं पर मैंने पहले-पहल उन्ही की परीक्षा ली, और मैंने देखा, उन मे महत्त्वपूर्ण वस्तु कोई नही है—यदि किसी भावना की प्राचीनता और अनिवार्यता ही उसे महत्त्वपूर्ण नही बना देती तो।

मैंने देख कर और जाँच कर कहा, "कायर !"

यह बात मेरे अतिरिक्त कोई नही जानता था। ससार उसे एक सच्चा वीर, एक नेता, पौरुष की सम्पूर्णता का पुरुष समझता था। किन्तु मैंने देखा—

मेरी ललकार, उस के प्राणो ने सुन ली। हमारे बाह्य आकार अपनी चेतनाएँ खो चुके हैं, इस लिए परस्पर व्यवहार नही कर सकते, किन्तु हमारे प्राण अब भी वह क्षमता रखते हैं, और स्वतन्त्र रूप से अपना व्यवहार जारी रखते हैं। तो उस के प्राणो ने उत्तर दिया, "मैं कायर नही हूँ। मैं कायर शरीर मे बसनेवाली वीर आत्मा हूँ। मैं शारीरिक कष्ट से डरता हूँ, पर मुझ म नैतिक बल है।"

मैंने कहा, "तुम किसी प्रकार के भी आघात से डरते हो। तुम जो विद्रोही बने हो, उसका कारण कोई नैतिक विशालता या बौद्धिक विश्वास या शारीरिक बल नही है, उस का कारण है केवल आघात के डर की प्रतिक्रिया-मात्र !"

उस क प्राण, मानो किसी अभौतिक चादर से अपने को ढाँपने का प्रयत्न करते हुए बोले, "नही ! मैं इस लिए नही रोता कि मैं अपने आघात से डरता हू, मेरी खिन्नता का कारण है कि मैं इतना कुछ तोडता और विनष्ट करता हूँ, इतनो को इतने भयकर आघात पहुँचाता हूँ ··"

मैं हँसी। उस में प्राणों ने भी अनुभव किया कि उस हँसी में एक कठोरता है—वह आखिर एक पत्थर की ही हँसी तो थी ! मैंने कहा, "तुम कायर ही नहीं, झूठे भी हो !" पर वह अपने में इतना लीन था, अपने को धोखा देने में इतना पटु कि उस ने सुना नहीं, कोई लम्बी-चौड़ी स्कीम ले कर उसी पर विचार करने लगा ··मैंने फिर कहा, "जो आज के दिन इस लिए रोते हैं कि उन के हाथों से पाप हो रहे हैं, कल इस लिए रोयेंगे कि उनकी आत्मा भूखी मर रही है ! क्योंकि स्वस्थ और सक्षम पुरुष को रोने का समय कहाँ है ? मैं यह अनुभव से कहती हूँ, क्योंकि मेरी आत्मा भी रुग्ण और भूखी है···" पर इस ने यह भी नहीं सुना ··

एक और दिन की बात है, मैंने देखा, वह मेरे मध्य में चुप खड़ा है। मैंने यह भी देखा, उस के प्राणों पर एक परदा छाया हुआ है—यानी वह किसी विषय में फिर आत्मप्रवञ्चना कर रहा है··

मैंने उस के विचार पढ़े। यह, अपनी ओर से अब भी शान्ति के विषय में विचार कर रहा था। किन्तु उन का धरातल सत्यता से इतनी दूर, बौद्धिक बारीकियों में इतना उलझा हुआ, और मानव जाति के प्रति ऐसी विमुख *उपेक्षा से पूर्ण था कि मैंने अपना साधारण नियम तोड़ कर उन्हें बिखेर दिया* और कहा, "युवक, वह धोखा है, उधर मत देखो, उतनी दूर ! अपने सामने, अपने पास, अपने सब ओर देखो, उस में मिल जाओ ! तुम्हारा जन्म पृथ्वी की अक्षय कोख से हुआ है, तुम्हारा पोषण भी आकाश में नहीं, धरती से ही हो सकता है शक्ति, प्रेरणा, सूर्य की प्रखर दीप्ति, आकाश से आती है अवश्य, किन्तु केवल धरती को जीवन का एक आधार देने के लिए ··"

उस ने सुना, पर माना नहीं। मैंने देखा, उस के नख अकारण और अकामत मेरे वक्ष पर लिख रहे हैं, 'गेट दी बिहाइंड मी, सेटन' ··हा अन्याय ! पर मेरा विचारकर्त्ता कौन है ?

तब वह दिन भी आ गया जब वह अपने पापों के लिए नहीं, अपनी *भूख के लिए रोया* ··

वह स्नान कर चुका था। हाथ में शीशा लिये हुए, वह स्थिर दृष्टि से उस में अपने प्रतिबिम्ब को देख रहा था। उसका शरीर तना हुआ, सिर कुछ पीछे मुड़ा हुआ, आँखें अर्धनिमीलित,—उस की मुद्रा में कुतूहलपूर्ण पर्यवेक्षण के

अतिरिक्त कुछ नहीं था, किन्तु मैंने जाना, उस का हृदय दर्पण में प्रतिबिम्बित अपनी छाया का आलिंगन कर रहा था, एक कोमल लालसा से कह रहा था, "मैं तुम्हें चाहता हूँ, मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ···" और एक डर से घबरा रहा था—"तुम नष्ट हो जाओगे, व्यर्थ खो जाओगे, अपूर्ति में मर जाओगे"

मैंने सहसा उसे रोक कर कहा, "युवक! तुम में एक ही शक्ति, एक पौरुष-प्रेरणा है, जो अपनी निष्पत्ति माँगती है। वह विद्रोह से भी मिल सकती है, और इस—इस प्रेम से भी, पर दोनों से नहीं! प्रेम की शक्ति उस नागिन के सिर की तरह है, जो उसे एक बार देख लेता है, वह फिर जड़ हो जाता है" मैंने यह नहीं सोचा कि यदि ऐसा है, तो फिर मेरी शिक्षा का क्या लाभ है? वह तो उस मूर्ति को देख चुका है, जिस के प्रति अन्धा रहना अन्धेपन से बचे रहना है···

मैंने उसे 'प्रेम' तो कहा, पर वह प्रेम नहीं था, वह थी एक और शक्ति जो अन्धकार से उत्पन्न होती है, और जो अधिकार पा लेने पर अन्धकार की ओर, शून्यत्व की ओर, अधोगमन की ओर खींचती है···

जाने दो। कोई अन्धा है, तो हमारे रो-रो कर अपनी आँख फोड़ लेने से उसे कुछ दीखेगा नहीं। उस के अन्धेपन को ही फलने दो, उस की वही गति है। और जिन के आँखें हैं—

वे एक तरह से अलग हैं—

इस अलगाव का पता सहसा नहीं लगता, क्योंकि निर्बलताओं में बँधे हम संसार में हम निर्बलताएँ ही देखते हैं, और निर्बलता के क्षण में आँखें होने या न होने से कोई विशेष भेद नहीं होता···

सच्चे विद्रोही, और साधारण व्यक्ति में एक बहुत बड़ी समानता है—एक समानता जिस में उन की आत्यन्तिक विभिन्नता प्रखर दीप्ति में चमक जाती है—कि विद्रोही अपनी कमज़ोरी के क्षण में वह इच्छा करता है जो कि साधारण व्यक्ति अपनी शक्ति के चरम विकास में—मुक्ति की, बचाव की, छुटकारे की इच्छा, इस झंझट से, इस उलझन से, इस प्रपीडन और यातना और अवसन्नता से भरे जीवन और संसार से निकल भागने की तीव्र, भयंकर, आत्मा को झुलसानेवाली इच्छा···

हर महीने बीस एक रुपल्लियाँ कमा कर इस के आगे ला कर पटक दिया करे कि ले, इस दवाइखाने को सँभाल और इस ढाबे को चलता रख !—इस गँवार, अनपढ, बेवकूफ औरत के आगे जो चक्की पीसने और झाड़ू लगाने से अधिक कुछ नही जानती और यह नही समझती कि एक पढे-लिखे आदमी की भूख दो वक्त की रोटी के अतिरिक्त कुछ और भी माँगती है !

उस की खीझ एकाएक बढ कर क्रोध बन गयी। स्त्री की ओर से आँख हटा कर वह सोचने लगा, इस का यह नाम किस ने रखा ? इन्दु ! कैसा अच्छा नाम है—जाने किस बेवकूफ ने यह नाम इसे दे कर डुबाया ! और कुछ नही तो सुन्दर ही होती, रंग ही कुछ ठीक होता !

लेकिन जब यह पहले-पहल मेरे घर आयी थी, तब तो मुझे इतनी बुरी नही लगी थी ! क्यो मैंने इसे कहा था कि मैं अपने जीवन का सारा बोझ तुम्हें सौंप कर निश्चिन्त हो जाऊँगा—कैसे वह पाया था कि जो जीवन मुझ से अकेले चलाय नही चलता, वह तुम्हारा साथ पा कर चल जायगा ? पर मैं तब इसे जानता कब था—मैं तो समझता था कि—

रामलाल ने फिर एक तीखी दृष्टि से इन्दु की ओर देखा और फौरन आँखें हटा लीं। तत्काल ही उसे लगा कि यह अच्छा हुआ कि इन्दु ने वह दृष्टि नही देखी। उस में कुछ उस अहीर का-सा भाव था जो मण्डी से एक हट्टी-कट्टी गाय खरीद कर लाये और घर आ कर पाये कि यह दूध ही नही देती।

तभी गाडी की चाल फिर धीमी हो गयी। रामलाल अपने पडोसी गँवार की ओर देख कर सोच ही रहा था कि कौन-सी बीभत्स गाली हर स्टेशन पर खडी हो जाने वाली इस मनहूस गाडी को दे, कि उस की स्त्री ने बाहर झाँक कर कहा, "स्टेशन आ गया !"

रामलाल की कुढन फिर भभक उठी। भला यह भी कोई कहने की बात है ? कौन गधा नहीं जानता कि स्टेशन आ रहा है ? अब क्या यह भी सुनना होगा कि गाडी रुक गयी। गार्ड ने सीटी दी। हरी झंडी हिल रही है। गाडी ने सीटी दी। गाडी चल पडी···

लेकिन मैं इस पर क्यों खीझता हूँ ? इस बिचारी का दिमाग़ जहाँ तक जायगा, वही तक की बात वह करेगी न ? अब मैं उस से आशा करूँ कि इस

इन्दु की बेटी

जब गाड़ी सचाखच लदी होने के कारण मानो कराहती हुई स्टेशन से निकली, तब रामलाल ने एक लम्बी साँस ले कर अपना ध्यान उस प्राण ले लेने वाली गर्मी, अपने पसीने से तर कपड़ों, और साथ बैठे हुए नंगे बदन वाले गँवार के शरीर की बू से हटा कर फिर अपने सामने बैठी हुई अपनी पत्नी की ओर लगाया, और उसकी पुरानी कुढ़न फिर जाग उठी।

रामलाल की शादी हुए दो बरस हो चले हैं। दो बरस में शादी का नयापन पुराना हो जाता है, तब गृहस्थ-जीवन का सुख नयेपन के अलावा जो दूसरी चीज़ें होती हैं, उन्हीं पर निर्भर करता है। मातृत्व या पितृत्व की भावना, समान रुचियाँ, इकट्ठे बिताये हुए दिनों की स्मृतियाँ, एक-दूसरे को पहुँचाये गये सुख-क्लेश की छाप—नयापन मिट जाने के बाद ये और ऐसी चीज़ें ही वे ईंटें होती हैं, जिन से गृहस्थी की भीत खड़ी होती है। और रामलाल के जीवन में ये सब जैसे थे ही नहीं। उस के कोई सन्तान नहीं थी, जहाँ तक उस के दाम्पत्य जीवन के सुख-दुःख की उसे याद थी, वहाँ तक उसे यही दीखता था कि उन्होंने एक-दूसरे को कुछ दिया है तो क्लेश ही दिया है। इस से आगे थोड़ी-बहुत मामूली सहूलियत एक-दूसरे के लिए पैदा की गयी है, लेकिन उस का शिक्षित दिमाग उन चीज़ों को सुख कहने को तैयार नहीं है। उदाहरणतया वह कमा कर कुछ लाता रहा है, और स्त्री रोटी पका कर देती रही है कपड़े धोती रही है, झाड़ू लगाती रही है, चक्की भी पीसती रही है। क्या इन चीज़ों का नाम सुख है? क्या उस ने शादी इस लिए की थी कि एक महरी उसे मिल जाय और वह खुद एक दिन में दूसरा दिन करने की चख-चख से बच जाय और बस? क्या उस ने बी० ए० तक पढ़ाई इसी लिए की थी कि

र महीने बीस-एक रुपल्लियाँ कमा कर इस के आगे ला कर पटक दिया करे क ले, इस कबाड्खाने को सँभाल और इस ढाबे को चलता रख !—इस गँवार, अनपढ़, बेवकूफ़ औरत के आगे जो चक्की पीसने और झाड़ू लगाने से अधिक कुछ नहीं जानती और यह नहीं समझती कि एक पढ़े लिखे आदमी की भूख दो वक्त की रोटी के अतिरिक्त कुछ और भी माँगती है !

उस की खीझ एकाएक बढ़ कर क्रोध बन गयी। स्त्री की ओर से आँख हटा कर वह सोचने लगा, इस का यह नाम किस ने रखा ? इन्दु ! कैसा अच्छा नाम है—जाने किस बेवकूफ़ ने यह नाम इसे दे कर डुबाया ! और कुछ नहीं तो सुन्दर ही होती, रंग ही कुछ ठीक होता !

लेकिन जब यह पहले-पहल मेरे घर आयी थी, तब तो मुझे इतनी बुरी नहीं लगी थी ! क्यों मैंने इसे कहा था कि मैं अपने जीवन का सारा बोझ तुम्हें सौंप कर निश्चिन्त हो जाऊँगा—कैसे कह पाया था कि जो जीवन मुझ से अकेले चलाये नहीं चलता वह तुम्हारा साथ पा कर चल जायगा ? पर मैं तब इसे जानता कब था—मैं तो समझता था कि—

रामलाल ने फिर एक तीखी दृष्टि से इन्दु की ओर देखा और फौरन आँखें हटा लीं। तत्काल ही उसे लगा कि यह अच्छा हुआ कि इन्दु ने वह दृष्टि नहीं देखी। उस में कुछ उस अहीर का-सा भाव था जो मण्डी से एक *हट्टी कट्टी गाय खरीद कर लाये और घर आ कर पाये कि यह दूध ही नहीं देती।*

तभी गाड़ी की चाल फिर धीमी हो गयी। रामलाल अपने पड़ोसी गँवार की ओर देख कर सोच ही रहा था कि कौन-सी बीभत्स गाली हर स्टेशन पर खड़ी हो जाने वाली इस मनहूस गाड़ी को दे, कि उस की स्त्री ने बाहर झाँक कर कहा, "स्टेशन आ गया !"

रामलाल की कुढ़न फिर भभक उठी। भला यह भी कोई कहने की बात है ? कौन गधा नहीं जानता कि स्टेशन आ रहा है ? अब क्या यह भी सुनना होगा कि गाड़ी रुक गयी। गार्ड ने सीटी दी। हरी झंडी हिल रही है। गाड़ी ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी...

लेकिन मैं इस पर क्या खीझता हूँ ? इस बिचारी का दिमाग़ जहाँ तक जायगा, वहीं तक की बात वह करेगी न ? अब मैं उस से आशा करूँ कि इस

2

गाडी ने सीटी दी और चल दी। रामलाल को यह नही सुनना पडा कि "हरी झडी हिल रही है—गाडी चली" इन्दु ने कहा भी नही। गार्ड की सीटी हो जाने पर भी जब रामलाल नही पहुँचा, तब इन्दु खिडकी से बाहर उझक-कर उत्कण्ठा से उधर देखने लगी, जिधर वह गया था। गाडी चल पडी, तब उस की उत्कण्ठा घोर व्यग्रता मे बदल गयी। लेकिन तभी उस ने देखा, एक हाथ म लोटा थामे रामलाल दौड रहा है। वह अपने डिब्बे तक तो नही पहुँच सकेगा, लेकिन पीछे के किसी डिब्बे मे शायद बैठ जाय।

इन्दु ने देखा कि रामलाल ने एक डिब्बे के दरवाज़े पर आ कर हैण्डल पकड लिया है और उसी के सहारे दौड रहा है, लेकिन गाडी की गति तेज़ होने के कारण अभी चढ नही पाया। कही वह रह गये तब ? क्षण-भर के लिए एक चित्र उस के आगे दौड गया—परदेस मे वह अकेली—पास पैसा नही, और उस से टिकट तलब किया जा रहा है और वह नही जानती कि पति को कैसे सूचित करे कि वह कहाँ है। लेकिन क्षण-भर म ही इस डर का स्थान एक दूसरे डर ने ले लिया। कही वह उस तेज़ चलती हुई गाडी पर सवार होने के लिए कूदे और—"यह डर उस से नही सहा गया। वह जितना बाहर झुक सकती थी, झुक कर रामलाल को देखने लगी—उस के पैरो की गति को देखने लगी "और उस के मन मे यह होने लगा कि क्यो उस ने पति से प्यास की बात कही—यदि कुछ देर बैठी रहती तो मर न जाती"

एकाएक रामलाल गाडी के कुछ और निकट आ कर कूदा। इन्दु जरा और झुकी कि देखे, वह सवार हो गया कि नही और निश्चिन्त हो जाय। उस ने देखा—

अन्धकार—कुछ डूबता-सा—एक टीस—जाँघ और कन्धे म जैसे भीषण आग—फिर एक दूसरे प्रकार का अन्धकार। "

गाडी मानो विवश क्रोध स चिचियाती हुई रुकी कि अनुभूतियो से बँधे हुए इस क्षुद्र चेतन ससार की एक घटना के लिए किसी ने चेन खीच कर उस जड, निरीह और इस लिए अडिग शक्ति को क्यो रोक दिया है।

समय वह मेघदूत मुझे सुनाने लग जाय और वह इस आशा को पूर
तो उस का क्या कसूर है ?

लेकिन मैंने उसे कभी कुछ कहा है ? चुप-चाप सब सहता अ
भी कठोर शब्द उस के प्रति मेरे मुँह से निकला हो तो
आखिर पढ़-लिख कर इतनी भी तमीज़ न आयी तो पढ़ा क्या
दार का काम है सहना। मैंने उस से प्यार से कभी बात नही
हृदय में नही है, उस का ढोंग करना नीचता है। क्रोध को
थोड़े ही है कि झूठ-मूठ का प्यार दिखाया जाय ?

गाड़ी रुक गयी। इन्दु ने बाहर की ओर देखते-दे
है।"

रामलाल को वह स्वर अच्छा नही लगा। उस में
था कि हे मेरे स्वामी, मैं प्यासी हूँ, मुझे पानी पिला
नहीं तो खैर, पर वहाँ तो ध्वनि भी नही है। ऐसा
हूँ कि मैं प्यासी हूँ—आगे कोई पानी ला देगा तो
भी काम चल जायगा। इतनी उत्सुक ? मैं किस
लिए कह सकूँ ?" फिर भी रामलाल ने लोटा उ
देख कर कि गाड़ी के पिछले सिरे के पास
धक्का कर रहे हैं और एक-आध जो जरा
उतार रहे हैं, वह उतर कर उधर को चल

वह मुझे कह ही देती कि पानी ला दो,
बन पड़ता है, उस लि । अब
कहूँ ? गाँव में
म खर्च भी होगा

मैं खर्च की
होता तो गाँव में
है, पर गिरस्ती ले
ही कर—बात तो
में भी अभिमान

रामलाल मल के

पर कई बार
कर देखा, कहीं कोई कुली नहीं था। वह स्वय बिस्तर और ब..
लगा। तभी स्टेशन के पाइटमैन ने आ कर कहा, "बाबू जी, कहां जा..स
छोटे स्टेशनो पर लाइनमैन और पाइटमैन ही मौके-बे-मौके कुली का काम द...
देते हैं। रामलाल ने कहा, "यही एक तरफ कर के रख दो।"

'और कुछ सामान नहीं है ?"

'बाकी ब्रेक म है, आगे जायगा।"

'अच्छा।"

गाडी चली गयी। बूढे पाइटमैन ने सामान स्टेशन के अन्दर ठीक से रख दिया। रामलाल बेंच पर बैठ गया। स्टेशन के एक कोने मे एक बडा लैम्प जल रहा था, उस की ओर पीठ कर के जाने क्या सोचने लग गया, भूल गया कि कोई उस के पास खडा है।

बूढे ने पूछा, 'बाबू जी, कैसे आना हुआ ?" ऐसा बढिया सूट बूट पहनने-वाला आदमी उस ने उस स्टेशन पर पहले नहीं देखा था।

"यो ही।"

'ठहरिएगा ?"

"नही। अगली गाडी कब जाती है ?"

"कल सवेरे। उस मे जाइयेगा ?"

'हाँ।"

"इस वक्त बाहर जाइयेगा ?"

'नही।"

'लेकिन यहाँ तो वेटिंग रूम नहीं है—"

"यही बेंच पर बैठा रहूँगा।"

बूढा मन मे सोचने लगा, यह अजब आदमी है जो बिना वजह रात-भर यहाँ ठिठुरेगा और सवेरे चला जायगा! पर अब रामलाल प्रश्न पूछने लगा :

"तुम यहाँ कब से हो ?"

"अजी, क्या बताऊँ—सारी उमर ही यही कटी है।"

'अच्छा! तुम्हारे होते यहाँ कोई दुर्घटना हुई ?"

"नहीं—" कह कर बूढा रुक गया। फिर कहने लगा, "हाँ, एक बार एक औरत रेल के नीचे आ कर कट गयी थी—उधर प्लेटफार्म से जरा आगे।"

समय वह
रामलाल के स्वर मे जैसे अरुचि थी, लेकिन बूढ़ा अपने-आप ही
तो–
ना का वर्णन करने लगा।

"कहते हैं, उस का आदमी यहाँ पानी लेने के लिए उतरा था, इतनी देर मे गाड़ी चल पड़ी। वह बैठने के लिए गाड़ी के साथ दौड़ रहा था, औरत झाँक कर बाहर देख रही थी कि बैठ गया या नहीं, तभी बाहर गिर पड़ी और कट गयी।"

"हूँ।"

थोड़ी देर बाद बूढ़े ने फिर कहा—"बाबू जी, औरत-जात भी कैसी होती है! भला वह गाड़ी मे रह जाता तो कौन बड़ी बात थी? दूसरी मे आ जाता। लेकिन औरत का दिल कैसे मान जाय—"

रामलाल ने जेब से चार आने पैसे निकाल कर उसे देते हुए संक्षेप मे कहा—"जाओ।"

"बाबू जी—"

रामलाल ने टाँगें बेंच पर फैलाते हुए कहा, "मैं सोऊँगा।"

बूढ़ा चला गया। जाता हुआ स्टेशन का एकमात्र लैम्प भी बुझा गया—अब उस की कोई जरूरत नहीं थी।

रामलाल उठ कर प्लेटफार्म पर टहलने लगा और सोचने लगा ··

उस ने पानी नहीं माँगा था, लेकिन अगर मैंने ही कह दिया होता कि मैं अभी लाये देता हूँ पानी, तो—तो—

आदमी जब चाहता है जीवन के बीस वर्षों को बीस मिनट—बीस सेकंड मे जी डालता, और वह बीस सेकंड भी ऐसे जो आज के नहीं हैं, बीस वर्ष पहले के हैं, मर चुके हैं, तब उस की आत्मा का अकेलापन कहा नहीं जा सकता, अँधेरे में ही कुछ अनुभव किया जा सकता है···

5

रामलाल स्टेशन का प्लेटफार्म पार कर के रेल की पटरी के साथ हो लिया। एक सौ दस कदम चल कर वह रुका और पटरी की ओर देखने लगा। उसे लगा, पटरी के नीचे लकड़ी के स्लीपरों पर जैसे खून के पुराने धब्बे हैं।

वह पटरी के पास ही बैठ गया। लेकिन बीस वर्ष में तो स्लीपर कई बार बदल चुकते हैं। ये धब्बे खून के हैं, या तेल के?

रामलाल ने चारों ओर देखा। वही स्थान है—वही स्थान है। आस-पास के दृश्य से अधिक उस का मन गवाही देता है।

और रामलाल घुटनों पर सिर टेककर, आँखें बन्द कर के पुराने दृश्यों को जिलाता है। वह कठोर एकाग्रता से उस दृश्य को सामने लाना चाहता है—नहीं, सामने आने से रोकना चाहता है—नहीं, वह कुछ भी नहीं चाहता, वह नहीं जानता कि वह क्या चाहता है या नहीं चाहता है। उस ने अपने आप को एक प्रेत को समर्पित कर दिया है। जीवन में उस से खिंचे रहने का यही एक प्रायश्चित्त उस के पास है। और इस समय स्वयं मिट्टी हो कर, स्वयं प्रेत हो कर, वह मानो उस से एक हो लेना चाहता है, उस से कुछ आदेश पा लेना चाहता है

जाने कितनी देर बाद वह चौंकता है। सामने कहीं से रोने की आवाज़ आ रही है। एक औरत के रोने की। रामलाल उठ कर चारों ओर देखता है, कहीं कुछ नहीं दीखता। आवाज़ निरन्तर आती है। रामलाल आवाज़ की ओर चल पड़ता है—जो स्टेशन से परे की ओर है···

इन्दु कभी रोयी थी? उसे याद नहीं आता। लेकिन यह कौन है जो रो रहा है? और इस आवाज़ में यह कशिश क्यों है···

"कौन है?"

कोई उत्तर नहीं मिलता। दो-चार कदम चल कर रामलाल कोमल स्वर में फिर पूछता है, "कौन रोता है?" रेल की पटरी के पास से कोई उठता है। रामलाल देखता है। किसी गाढ़े रंग के आवरण में बिलकुल लिपटी हुई एक स्त्री उसे पास आता देख कर जल्दी से एक ओर को चल देती है और क्षण-भर में झुरमुट की ओट हो जाती है। रामलाल पीछा भी करता है, लेकिन अन्धकार में पीछा करना व्यर्थ है—कुछ दीखता ही नहीं।

रामलाल पटरी की ओर लौट कर वह स्थान खोजता है, जहाँ वह बैठी थी।

क्या यहीं पर? नहीं, शायद थोड़ा और आगे। यहाँ पर? नहीं, थोड़ा और आगे।

उस का पैर किसी गुदगुदी चीज से टकराता है। वह झुक कर टटोलता है—*एक कपड़े की पोटली। बैठ कर खोलने लगता है। पोटली चीख उठती है।* काँपते हाथों से उठ कर वह देखता है, पोटली एक छोटा-सा शिशु है जिसे उस ने जगा दिया है।

वह शिशु को गोद म ले कर थपथपाता हुआ स्टेशन लौट आता है और बेंच पर बैठ जाता है। घड़ी देखता है, तीन बजे है। पाँच बजे गाड़ी मिलेगी। अपने ओवरकोट से वह बच्चे को ढँक लेता है—दो घंटे के लिए इतना प्रबन्ध काफी है। गाड़ी मे बिस्तर खोला जा सकेगा

6

रामलाल ने अपने गाँव म एक पक्का मकान बनवा लिया है और उसी मे रहता है। साथ रहती है वह पायी हुई शिशु-कन्या जिस का नाम उसन इन्दु-कला रखा है, और उस की आया, जो दिन भर उस गाड़ी म फिराया करती है।

गाँव के लोग कहते है कि रामलाल पागल है। पैसे वाले भी पागल होते है। और इन्दु जहाँ-जहाँ जाती है, वे उँगली उठा कर कहते हैं— वह देखो, उस पागल बूढ़े की बेटी।' इस म बडा गूढ व्यग्य होता है, क्योंकि व जानते है कि बूढा रामलाल किसी के पाप का बोझ ढो रहा है। लेकिन रामलाल को किसी की परवाह नही है वह निर्द्वन्द्व है। उस के हृदय म विश्वास है। वह खूब जानता है कि उस की क्षमाशीला इन्दु ने स्वय प्रकट हो कर अपने स्नेहपूर्ण अनुकम्पा के चिह्न-स्वरूप अपना अश और प्रतिरूप वह बेटी उस भेंट की थी।

जिजीविषा

•

कलकत्ता, सेण्ट्रल एवेन्यू, गिरीश पार्क से कुछ आगे दक्खिन की ओर सड़क किनारे की चौड़ी पटरी।

बातरा अपनी घुटनों तक ऊँची, कमर के पास फटी हुई और छाती के सिर्फ बायें भाग को मुश्किल से ढाँपने में समर्थ मैली धोती का छोर पकड़ कर उसे बदन से सटाती हुई चल रही है। वह चलना निरुद्देश्य है, लेकिन रस की अनुपस्थिति के कारण उसे टहलना नहीं कहा जा सकता। वह यों ही वहाँ चल रही है, क्योंकि उसे भूख तो लगी है, लेकिन भीख माँगने का उस का मन नहीं होता है। उस में आत्माभिमान अभी तक थोड़ा-थोड़ा बाकी है, और उसे यह भी दीखता है कि इस इतने बड़े बहुत यथार्थ और बहुत यथार्थवादी शहर कलकत्ते में आ कर भी वह यथार्थता को ठीक-ठीक समझ नहीं पाई है, उसके हृदय में कुछ रस की माँग रहती है। जैसे अब वह भूखी भी है तो सिर्फ रोटी पाना ही नहीं चाहती, पाने में कुछ मिठास भी चाहती है। भूखे कुत्ते को रोटी मिलती है, तो लार तो उस के मुँह में टपक ही आती है, फिर भी वह (हो सके तो) किसी घर में खास अपने लिए आयी हुई रोटी को पसन्द करेगा, गली में माँगने नहीं जायेगा •

बातरा सथाल है। बच्ची थी, तभी उस के माँ-बाप इधर चले आये थे और ईसाई हो गये थे। पादरी ने ईसाइयत के पानी से लड़की की खोपड़ी सींचते हुए जब उस का नाम बीएट्रिस रख दिया था, तब माता-पिता भी बड़े चाव से उसे 'बातरा! बातरा!' कह कर पुकारने लगे थे।

लेकिन वे मर गये। बातरा ने चाहा, मिशन में जा कर नौकरी कर ले; लेकिन मिशन के भीतर पंजाब से आये हुए ईसाई खानसामों का जो अलग मिशन था, उस की नौकरी उसे

जगह बना ली। किसी दिन वह भीख माँगता, यदि कभी चार पैसे मिल जाते, तो उन के अमरूद खरीद कर अपने अँगोछे पर सजा कर दूकान कर लेता।

आस-पास के दूकानदार जो उस से परिचित थे,—मजाक बनाते, लेकिन फिर अमरूद महँगे दामों खरीद भी लेते। इसी प्रकार कभी दिन में चार-छ पैसों का नफा हो जाता, तो दामू बातरा के लिए तरबूज की एक फाँक खरीद लेता, या पकौड़ियाँ ले आता और उसे कहता—'देख, आज तू किसी से मत माँगना।'

वह हँस कर कहती—"और कोई दे जाय तो?"

"तो कहना, ले जा, हम कोई भिखमंगे हैं?"

और दोनों हँस पड़ते।

लेकिन इस लापरवाही में और कभी दैवात् बिक्री न होने से उस की शाम इतनी सुखद न होती और बातरा थके हुए स्वर में कहती, भूख लग आई"

तब दामू एकाएक दूकान उठा देता और दोनों जले फल बाँट कर खा जाते। अगले दिन सवेरे ही दामू कहीं चल देता, गली गली में भटक कर और कचरा-पेटियाँ देख कर पुराने टीन, बोतलें, टूटे पुर्जे बटोर कर लाता और एक कबाड़िये के पास दो-तीन पैसों में बेच लेता

एक दिन से दूसरा दिन हो जाता, लेकिन कुछ जुटने की नौबत न आती और बातरा की संचित लालसा उस कभी न फूलने वाले अशोक के आस-पास चक्कर काट कर रह जाती लेकिन जैसे उस ने हारना सीखा ही नहीं था, लालसा को कम उग्र करना भी नहीं सीखा था।

साल-भर होने को आया। गर्मियाँ फिर चुक चलीं, आकाश में बादल घिरने लगे। वे आते, घिर कर बिना बरसे ही फिर बिखर जाते और बातरा को लगता, दुनिया गलत हो गयी है। वह अशोक के दूसरी ओर बैठे हुए दामू की ओर देखती और न जाने क्यों उस का हृदय उमड़ आता, उस में खलबली-सी मच जाती, उस की आँखों को धुँधला सा कुहरा-सा दीखने लगता और उन दोनों के बीच में खड़ा वह अशोक वृक्ष का तना उस की दृष्टि में काँप-सा उठता वह आकाश की ओर मुँह उठा कर कहती—"अब तो बारिश होनी ही चाहिए!" और दामू भी आकाश की ओर देखता हुआ ही उत्तर देता—"हाँ, अब तो मेरा जी भी तरस गया।"

बानरा का हृदय मानों उछल पड़ता, और वह जैसे पूछने को हो उठती—"किस चीज के लिए तरस गया है ?" पर साहस न होता और दिल फिर बैठ जाता··

और आस-पास के लोग भी देखने लगे कि उस अशोक वृक्ष के नीचे कुछ बदल गया है। वे लोग बीच-बीच में कभी एक तीखी दृष्टि से बानरा की ओर देखते, उस दृष्टि में थोड़ा-सा उपहास और थोड़ी सी लोलुप-सी प्रशंसा भी होती। बानरा उस दृष्टि को देखती, तो सिमट-सी जाकर अपने से पूछ उठती, "क्या मेरी सूरत अच्छी है ?" फिर उसका ध्यान अपने सांवले बदन की ओर अपने सूखे बालों की ओर जाता और प्रश्न मानो मूक हो कर बैठ जाता।

3

"आज तो हो कर रहेगी !"

दामू ने बानरा की ओर देखा, फिर उस की दृष्टि का अनुसरण करते हुए आकाश की ओर, और बैठते हुए बोला—"हाँ, लो, यह लाया हूँ।"

रात को बानरा ने गली में कचरा-पेटी के पीछे छिप कर यह दूसरी धोती लपेटी, जो पुरानी और कुछ मैली तो थी, पर फटी कहीं से नहीं थी और मोटी भी खूब थी। अपनी जगह लौट कर उसने पुरानी धोती नीचे बिछाई, कुछ दिन पहले लाये गये बोरिये के टुकड़े को ऊपर ओढ़ने के लिए रखा और पेड़ की आड़ में दामू की ओर देखने लगी।

रात को बारिश शुरू हुई। लेकिन बानरा को लगा कि वह जैसे भीग ही नहीं रही है, उस बोरिये के टुकड़े से इतना काफी बचाव हो रहा था। लेकिन हवा के झोंकों से जब वह बोरिया बार-बार उड़ने लगा और साथ ही धोती को भी उड़ाने लगा, तब बानरा पेड़ की आड़ लेने के लिए बिलकुल उस के तने से सट गयी।

दूसरी ओर से सटे हुए दामू ने पूछा—"क्यों, भीग रही हो ?" और बोरिये का छोर पकड़ कर बानरा के बदन के नीचे दाब दिया।

तब आधी रात थी। वक्त वैसे बहुत नहीं हुआ था, फिर भी बारिश की वजह से एवेन्यू सुनसान पड़ा था। बिजली की गड़गड़ाहट सन्नाटा की नीरवता

को और भी स्पष्ट कर रही थी। बातरा को लगा, वह अकेली है, और उसे कुछ ठण्ड-सी भी लगी। उस ने पेड के और निकट सिमटते हुए कहा, "नहीं··"

दामू ने उस की ओर हाथ बढ़ा कर बाल छूते हुए कहा—' भीग तो गई "

बातरा के भीतर उस का एकान्त सहसा उमड-उमड आया, उस की पुरानी लालसा तडप उठी दामू का कोमल स्वर सुन कर उस के भीतर न जाने क्या हुआ, वह एकाएक हतप्रभ, शून्य-सी हो कर अपने ऊपर छाये हुए और कभी-कभी चमक जानेवाला अशोक के गीले पत्तो की ओर देखने लगी···

दामू ने फिर बुलाया—"क्या हुआ, बातरा ?"

"कुछ नही।"

"कुछ कैसे नही ? बताओ न ? कोई तकलीफ है ?"

बातरा से सहा नही गया। उसका बदन जैसे एकदम तप उठा। वह उठ कर बैठ गयी, बोरिया उस ने उतार फेंका, अशोक के तने की छाल मे एक हाथ के नाखून जोर से गडा कर, आँखें फाड़-फाड कर सडक की धुली हुई कालिख की ओर देखने लगी

दामू ने उस का हाथ धीरे-धीरे पेड से अलग कर के अपने दोनो हाथो मे ले लिया। बातरा ने छुडाया नही—उसे जैसे पता नही था कि वह कहाँ है ··

दामू ने पुकारा—' बातरा !"

वह चौंकी। उस ने दामू का हाथ झटक दिया, पेड मे कुछ हट कर बैठ गयी। बोली—"मुझे मत बुलाओ !"

"क्यो ?" अचम्भे के स्वर मे पूछता हुआ दामू उठा और पेड के इधर बैठ गया।

"मुझे माँ की याद आ गयी—वह ऐसे बुलाती थी।"—कह कर बातरा एकाएक रो उठी और थोडी देर मे उस की हिचकी बँध गयी ··

दामू ने कहा—"लेट जाओ !" वह बिना विरोध किये लेट गयी। दामू उसका सिर थपकने लगा और वह सो गयी।

सवेरा होने को हुआ, तब भी अभी दामू वही बैठा था। बातरा एकदम हडबडा कर उठी और बोली—"अरे—"

दामू ने जल्दी से टोकते हुए पूछा—"क्यो, फिर भी याद आयी ?"

बातरा को अपनी रात मे कही हुई बात याद आ गयी। वह झूठ नही बोली थी, लेकिन अब उसे लगा कि वह सच नही था...

उस ने दामू से कहा—"तुम सोये नही ? जाओ सोओ !"

लेकिन दामू पेड के दूसरी तरफ नही लौटा। उसे लगा कि पेड के एक तरफ से दूसरी तरफ आने का पडाव डेढ वर्ष मे तय कर पाया है, तो एक बार कहने से नही लौटेगा।

और एक बार से अधिक बातरा ने कहा भी नही। आस-पास के दूकानदारो ने यह नई व्यवस्था देखी, तो एक-दूसरे को बुला कर उन पर फबतियाँ कसने लगे, एक ने सुना कर कहा—"आखिर खुल ही गयी हकीकत रॉड की !" लेकिन बातरा ने जब उद्दण्ड रोष से कहा—"चुप रहो, लाला !" तब वह वीभत्स हँसी हँस कर चुप हो गया।

और बातरा को पैसे अधिक मिलने लगे। लोगो के भीतर छिपा हुआ शैतान जब समझता है कि दूसरो के भीतर भी शैतान बसा है, तब अपनी उस कल्पित मूर्ति को सिर झुकाये बिना नही रहता, फिर बाहर से चाहे जो कहे !

और बातरा के भीतर जीवन शक्ति उमडने लगी, उस की वह उत्कण्ठा घनी होने लगी—कभी-कभी रात मे वह न जाने कैसा स्वप्न देख कर चौक उठती और अपना भीगा हुआ सिर दामू के कधे मे छिपा कर अपना बोरिये का टुकडा कुछ दामू के ऊपर भी खीच कर जरा-सा काँप कर फिर सो जाती ..

4

सर्दियाँ आयी, तो बातरा के ऊपर एक जेल से नीलाम हुए काले कम्बल का आधा हिस्सा था, दामू के सिर पर एक पुरानी खाकी पगडी। और जब वसन्त के दिनो एक शाम को गिरीश पार्क के पिछवाडे से मधुमालती की एक बेल मे से कुछ फूल तोड कर उन्हे दामू के पास डालते हुए बातरा ने अपनी पीडा को दबाते हुए लज्जित स्वर मे कहा था—"मैं अभी आती हूँ, तुम यही रहना।" और एक ओर को चल दी थी, तब अशोक के पेड के नीचे एक अलमूनियम का गिलास पडा था, एक लिपटी हुई छोटी चटाई, एक टूटी कघी, एक पीतल की डिबिया, और पेड की शाख मे एक पीले कपडे की पोटली भी टगी हुई थी। बातरा जब इन दो बरसो मे इकटठी हुई चीजो को देखती थी, तब

दामू कुछ पुराने अखबारों के गट्ठर में से अखबार निकाल कर एक के ऊपर एक बिछाता जा रहा है, कि बैठने लायक जगह बन जाय; बातरा टीन की चादर को सम्हालनेवाले खम्भों के सहारे खड़ी प्रतीक्षा कर रही है। मदद उस से की नहीं जाती, उस की टाँगें काँप रही हैं। वह फटी-फटी सी, दृष्टिहीन-सी आँखों से बिछते हुए कागजों की ओर देखती जाती है, ऐसे मानो आँखें बाहर की ओर नहीं, भीतर की ओर देख रही हों, जहाँ उस में दुर्बल, असहाय, लेकिन नया जीवन छटपटा रहा है, जहाँ एक अदम्य जीवन-शक्ति नींद में भी तड़प उठती है अकथनीय सपने देख कर—दरवाजे के आगे दो छोटे-छोटे फूल-भरे गमले, भीतर पालने में दो छोटे-छोटे बच्चे, और बातरा के पास एक और—कोई एक और···

यह कहानी पहले 'जीवन शक्ति' के नाम से छपी थी।

चिड़ियाघर

•

रमा ने तिनक कर कहा—"हां, और तुम्हे क्या सूझेगा! कालेज से छुट्टी हुई, आये फैल कर पड रहे। न हुई छुट्टी, तो शाम को सिनेमा जा कर ऊँघ लिया। फिर जब मैं कह दूँगी कि मर्द तो शादी इसी लिए करते हैं कि रसोइया-कहारिन को तनख्वाह न देनी पडे, तो कहेंगे अन्याय करती हो। मैं कहती हूँ, राजे क्या रोज-रोज मरते हैं? आज सोचा कि छुट्टी हुई है, तो चलो, कही घूम आयें, लेकिन इन्हे क्या घूमने से—वह भी मेरे साथ! ये तो लेट के हुक्का गुडगुडायेंगे। हां, होती कोई मेम साहब—"

मैंने बात खत्म करने के लिए कहा—"अच्छा भाई, चले चलते हैं। लेकिन तुम कपडे तो पहनो, मैं भी जरा पाँच मिनट सिगार पी लूं।"

सिगार के नाम से रमा फिर भडक उठी, लेकिन मैने उस के कुछ कहने से पहले ही जोड दिया—"वह पीली साडी पहनना—काले किनारेवाली—तुम तो कभी अच्छा कपडा पहनती ही नही अब—"

रमा ने भीतर-भीतर पिघल कर, लेकिन बाहर से और कठोर बन कर कहा—"तुम ला के भी दो कभी कुछ!" और चली गयी। मैंने सन्तोष की एक लम्बी साँस ली और आराम-कुर्सी पर टाँग फैला कर लेट गया।

बात यह थी कि उस दिन अपने राजा साहब के ससुर—के राजा की मृत्यु के कारण कालेज बन्द हो गया था और मैं लौट आया था। मन मे आयी, घर चल कर पडे पडे ऊँघा जाये। ऐसा मौका भी कब मिलता है। इतवार को छुट्टी होती है, तो पढाई के नोट रगडते-रगडते नष्ट हो जाती है! लेकिन श्रीमती को यह कब मजूर? उन का आग्रह हमेशा यही रहता है, चलो,

घूमने चलें। सुबह हो, शाम हो, दुपहर हो, गर्मी हो, बारिश हो, उन्हें एक ही धुन रहती है—घूमने चलो। और घूमने भी कहाँ ? बाग नहीं, नदी पर नहीं, शहर में नहीं—चलो चिडियाघर ! लडने लगेगी, तो बप्पा रावल भी सामना नहीं कर सकेंगे, लेकिन 'टेस्ट' बिलकुल बच्चों का-सा ! मुझे चिडियाघर के नाम से चिढ है। आज तक कभी रमा की बात मानी नहीं है मैंने, सो इसी लिए। चिडियाघर भी कोई देखने की चीज़ है ? दुर्गन्ध से नाक सडती है।

आज भी मुझे उम्मीद थी, वह कहेगी, चलो चिडियाघर देख आयें। उस ने नहीं कहा। तभी मैंने घूमने चलना स्वीकार कर लिया, यद्यपि मुझे निश्चय नहीं था कि अब भी वह रास्ते में नहीं कह बैठेगी कि चलो उधर चलें और हाथ पकड कर घसीट न ले चलेगी !

मैं आरामकुर्सी में पडा सिगार के कश खींचने लगा। सिगार बढ़िया थे—यद्यपि अब की बार रमा खरीद कर लायी थी—इस महीने से घर का खर्च चलाने का ज़िम्मा उस ने लिया था और शर्त थी कि मुझ से अच्छा चलायेगी और किफायत से।

मैं ऊँघने लगा। रमा से हारना भी कुछ मीठा-मीठा-सा लगने लगा।

रमा ने आ कर कहा, "चलो, चलो, चलो—"

मैं हडबडा कर उठ बैठा।

"कहाँ चलें ?"

'चिडियाघर, और कहाँ। जाने कब से कह रही हूँ।" कह कर रमा मेरी ओर देख कर मुसकरायी। हौआ ने जब आदम को वह वर्जित फल खाने को कहा होगा, तब वह भी ऐसे मुसकरायी होगी—और हौआ के पास वह काले बार्डरवाली पीली साडी भी नहीं थी···

मैंने एक लम्बी साँस ले कर कहा—"चलो !"

बाहर बादल छाये थे। हवा चल रही थी। मौसम अच्छा था। हम लोग ताँगे में बैठ कर चिडियाघर पहुँचे। रमा ने बटुआ खोल कर चार आने की मूँगफली और चने लिये और बोली—"जानवरों को खिलायेंगे।"

मैं मुसकरा दिया और आगे बढा।

"इधर नहीं बाबू, इधर !" मेरे कन्धे के बिलकुल पास किसी ने कहा। मैंने

घूम कर देखा, एक डटियल बुड्ढा खाकी कपडे पहने खडा था और मुझे कह रहा था, "इधर नही बाबू, इधर !"

मैंने पूछा—"तुम कौन हो ?"

[illegible] ...ाऊँगा ।" और वह आगे चल पडा ।

[illegible] चाहता था कि मेरे साथ सिर्फ रमा [illegible]

मैंने कहा—"चिडियाघर मे गाइड ? आज तक तो सुना नही—"

उस ने बात काट कर कहा—"मैं चिडियाघर की एक-एक बात जानता हूँ । आप को वह हाल सुनाऊँगा कि फिर कभी चिडियाघर देखने की जरूरत ही नही पडेगी ।" कह कर उस ने बडी तीखी दृष्टि से रमा की ओर देख कर मुसकरा दिया ।

मैंने मन ही-मन हँस कर कहा—"बुड्ढा बडा घाघ है ।"

और उस ने मानो मेरे विचार पढ कर स्वर मिला कर कहा—"हाँ, समझ लीजिए कि मैं चिडियाघर की आत्मा हूँ ।"

बन्दर

"ये आप देखते है ?"

दो कठघरो मे बन्दर बन्द थे । पाँच-छ तरह के एक मे, वही पाच-छ के दूसरे मे । कुछ नीचे रेत मे, कुछ बीच मे गडी हुई पानी की नाँद के किनारे, और कुछ दोनो कठघरो के बीच जँगले से सट कर बैठे थे । अधिकाश ऊपर आकाश की ओर देख रहे थे ।

रमा ने मूँगफली फेंकी । दो-एक ने सुस्त चाल से आ कर उठायी, तब मैं ने देखा कि अधिकाश बन्दरो के शरीर पर खुजली हो रही है, कइयो के बाल झड रहे हैं, और कुछ ने बदन छील छील कर घाव कर लिये है । एकाएक ग्लानि से भर कर मैंने कहा—"चलो, चलें !"

गाइड ने कहा—"देख लिया आप ने ? अब मैं दिखाऊँ । आप ने पहचाना, दो कठघरो के बन्दरो मे कुछ फर्क है ? एक म नर हैं, एक मे मादा। ये हिमालय के बन्दर है, यहाँ की गर्मी मे इन का रहना मुश्किल है । लेकिन ज्ञान के लिए वह कष्ट जरूरी है । आदमी के ज्ञान के लिए जानवरो का सुख क्या चीज है ?

यहाँ सब को खुजली हो गयी; और जो बच्चे पैदा हुए, वे और भी रोगी हुए। रेन मे पडे वे शून्य आँखो से बाहर देखा करते थे उस पीपल की छाँह की ओर। उस के शरीर से निकली हुई पीव से यह जगह सड रही थी। एक दिन राजा साहब आये, उन्हे चिडियाघर के साहब ने कहा कि इन बच्चो को गोली मार देनी चाहिए। लेकिन राजा साहब को यह हिंसा नही जँची, उन्होंने व्यवस्था, की कि अब इन के बच्चे नही होने दिये जायें, और हर साल दो नये बन्दर खरीद कर यहाँ रखे जायें ताकि प्रदर्शन ठीक रहे। तभी से नर और मादा अलग कठघरो मे रखे जाते हैं। देखिए—"

मैं स्थिर दृष्टि से बन्दरो की ओर देख रहा था। जो बीच के जँगले के पास बैठे थे, उन की निश्चेष्टता, मूँगफली के प्रति उनकी उपेक्षा, एक बडी भारी और बडी भयकर बात बन कर मेरे मन म समा रही थी··

रमा ने मेरी कोहनी पकड कर कहा—"आगे चलो!"

एकाएक जी चाह उठा, रमा के उस स्पर्श को कोहनी के दबाव स बाध लूँ, अलग न होने दूँ, और वहाँ से भाग जाऊँ ··मैंने कहा—"चलो, चलो!" पर मुग्ध दृष्टि बन्दरो से नही हटी, जब तक कि बुड्ढे ने नही कहा—"अभी बहुत देखना है आप को!"

हाथी

रमा बोली—"अरे, चिडियाघर में हाथी भी रखा है।"

मैंने कहा—"हाँ, इधर हाथी भी एक अजीब चीज है न—"

गाइड बीच मे बात काट कर कहने लगा, "यह हाथी हाथियों में भी अजीब है। इस का एक इतिहास है। यह पहले राजा साहब के निजी पीलखाने का सब से तगडा हाथी था। साल मे दो बार जब दगल होता था, तब राजा साहब इसे लडाया करते थे। बाहर भी लडने भेजते थे। लेकिन बहुत ज्यादा लडने से खोपडी पर ज़ोर पडा और दोनो आँखें अधी हो गयी, तब राजा साहब ने पाँच सौ रुपये मे स्टेट को बेच दिया और चिडियाघर मे रख दिया। अब इस के हिलते हुए सिर, लटके हुए दाँत और झुर्रियो-पडे शरीर को देख कर आप अन्दाज भी नही लगा सकते कि यह कैसा यमदूत रहा होगा, लेकिन देखिए—"

कह कर उन ने हाथी के पेट के पास लटकती हुई चमडी को पकड कर कहा—

"यह देखिए, फुट-फुट-भर लटक रही है अब ! इस मे अगर मास और पुट्ठे होते, तब—"

मैंने समर्थन करते हुए कहा—"हाँ वाकई, है हाथी ही ।"

"अब इसे चौथाई खुराक पर रखा गया है । खर्च बहुत होता है न ! साहब ने इसे भी गोली मरवा देने की राय दी थी, और राजा साहब ने पुछवाया भी था कि दाँत और हड्डी बेच कर क्या आमदनी होगी । लेकिन मालूम हुआ कि कोई खास फायदा नही होगा, और यह भी कहा गया कि यह राजा साहब की शान के खिलाफ होगा । लोग कहेंगे कि सारी उम्र तो बेचारे को लडवाते रहे और बूढ़ा हो गया तो थोड़े-से चारे के लोभ मे गोली मरवा दी । इन दोनों बातों पर ध्यान रख कर राजा साहब ने धर्म का विचार कर के यह तजवीज नामंजूर कर दी ।"

रमा ने मुट्ठीभर मूंगफली बढ़ायी । हाथी शायद गन्ध से पहचान गया कि खाने को कुछ दिया जा रहा है, लेकिन सूंड से टटोल कर भी नही पहुँच सका । तब एकाएक उस ने सूंड लटका दी और बहती हुई कीचडवाली आँखें शून्य पर जमा कर रह गया, मानो वह कह रहा हो—भूखे तो मरना है, तब यह खायी तो क्या, न खायी तो क्या···

मेरे मन मे अपने पूर्ववर्ती प्रोफेसर डाक्टर कृष्ण का चित्र घूम गया, जो बीमार हो जाने के कारण छुट्टी न पा सके थे और डिसमिस कर दिये गये थे · वह भी ऐसा ही बाँका जवान था, लेकिन जब उस ने मुझे कहा था, मेरा कुछ भरोसा नही है, बीमे की रकम वसूल करने मे उस की (स्त्री की) मदद करना, रियासत की कम्पनी है ··" और चुप हो कर मेरी ओर देख दिया था, तब ··

मैंने रमा से कहा, "तुमने क्या हाथी भी नही देखा ?" और बाँह पकड़ कर आगे खींच ले चला ।

तोते

गाइड बोला, "पहले इधर ।"

मैंने कहा, "दिखाने का कुछ तरीका भी है ? हाथी के बाद तोते—"

वह बोला, "मेरा तरीका आप अभी नही समझते । मैं किताबी कीड़ा तो

हूँ नही। मैं आप को चिडियाघर के जानवर नही, उस की आत्मा दिखा रहा हूँ। उस आत्मा का विकास ही आप मेरी कहानी मे पायेंगे।"

बुड्ढे म कुछ अजीब प्रभावशालिता थी। हम पीछे हो लिये।

तोते ऊँघ रहे थे। गाइड ने चुटकी बजा कर उन्हें जगाया, रमा बुलाने लगी, "मिट्ठू, मियाँ मिट्ठू!"

तोते रमा की तरफ देखते रहे। रमा ने दाने भीतर डाल दिये, पर तोते वहीं बैठे रहे, एक ने चिडचिडे-से स्वर मे कहा, 'टेऊँ!' मानो यह जतला रहा हो कि तुम अपना काम कर चुके, अब जाओ, खा लेंगे!"

गाइड बोला—'ये तोते अब प्रात काल या सायकाल को ही बोलते हैं। जब पहले-पहल ये चिडियाघर के लिए खरीदे गये तब खूब बोलते थे। लेकिन खरीद कर भीतर रखे जाते ही वे चुप हो गये, हिलाने-डुलाने, बुलाने-पुचकारने और भूखे रहने तक का कोई असर नही हुआ, तब राजा साहब ने उस सौदागर को बुलाया जिस से तोते खरीदे गये थे और जवाब तलब किया। सौदागर ने जगह देख भाल कर निवेदन किया, 'हुजूर, ये तोते जगलो के रहने वाले है। आकाश के डकैत है, लेकिन इसी लिए इन का सुख-दुख, गाना-रोना सब आजादी के ही आसरे है। यहाँ इन्हे उस की झलक भी नही मिलती। आप इन के रहने के लिए ऐसी जगह बनवाइए जहाँ सामने दीवार न हो, आगे खुला नज्जारा हो, ये सूर्योदय भी देख सकें और सूर्यास्त भी, उस आजादी से इनका नाता न टूटे जो इनका जीवन है।' राजा साहब को बात जँची तो नही, लेकिन तोते सुन्दर थे, और चार सौ रुपये मे खरीदे गये थे, इस लिए सौदागर के कहे अनुसार इमारत खडी कर दी गयी। जब तोते उस मे रख दिये गये, तब एक दिन राजा साहब उस सौदागर को ले कर सवेरे-सवेरे देखने आये। रास्ते मे राजा साहब कहने आये कि सिर्फ रहने की जगह तैयार करने मे हजार से अधिक रुपया खर्च हो गया है 'खैर। उन्होने पहुँच कर देखा, सूर्य की पहली किरण के पडते ही तोते सजग हो उठे हैं, आगे की ओर लटक कर गर्दन झुका कर, अपनी गोल गोल स्थिर आँखो से पूर्व की लाली को मानो व्याकुल उत्कण्ठा से पी रहे हैं, उस से कुछ स्फूर्ति पा रहे है, जिस से उनके डैने फडफडा तो नही जरा-स उठ-उठ कर काँप रहे हैं, सारा बदन काँप रहा है, एकाएक वे भरे हुए स्वर स, भर हुए दिल से चीत्कार कर उठे—कुछ मिनटो के लिए कोलाहल-सा

मच गया…फिर सूर्य पूरा निकल आया और तोते धीरे-धीरे चुप हो गये, केवल कभी-कभी कोई एक मानो भूली-सी याद को ले कर पुकार उठता, 'टी !'

राजा साहब खुश हो कर बोले, 'बोलते तो है ।"

"सौदागर ने बाँछें कुछ खिला कर कहा, 'राजा साहब, मेरे तोतो की एक-एक आवाज हजार रुपये की है !' "

तनिक चुप रह कर गाइड फिर बोला—"इस हिसाब से ये तोते अब तक करोडो रुपये कमा चुके हैं ।"

मैंने कहा, "तरकीब तो अच्छी रही—"

"अच्छी ? अजी साहब, गजब की रही तरकीब ! आप देखें, यह कहाँ-कहाँ लागू नही होती ? आप दिन-भर कालेज मे लेक्चर झाडते हैं, सो क्या आप का धर्म है ? आप को भी दूर कही पर दीखता है—पेन्शन, एक अपना घर, बगिया मे धनिया-पुदीना की अपनी खेती, वगैरह-वगैरह, इसी आसरे तो—"

मैंने कहा, "रहने दो अपना दर्शन, हमें चिडियाघर देखना है ।"

उस ने ज़रा भी अप्रतिभ हुए बगैर कहा, "यह चिडियाघर नही तो और क्या है । और आप उन से पूछ कर देखें—" उसने रमा की ओर इशारा किया, "ये रोटी पकाती हैं, घर सँभालती है, शायद हारमोनियम बजाती हैं, सो सब किस लिए ? इन के हृदय मे भी कोई स्वप्न है या—"

रमा ने अनावश्यक क्रोध से भभक कर कहा, "चुप रहो तुम !" लेकिन मैंने देखा, उस की आँखो मे कुछ घना-सा घिर आया है, जिसे मैं नही समझता।

शेर

रमा की फटकार का शायद उस पर कुछ असर हुआ । तभी जब हम शेर के कठघरे पर पहुँचे, तब उस ने धीरे से कहा, "वह देखिए", और कठघरे के सीखचे से लगे हुए एक बोर्ड की ओर हमारा ध्यान खीचा ।

हमने पढा, "यह शेर—के राजा साहब ने चिडियाघर के लिए भेंट किया था । गुजरात के जंगलो मे यह राजा साहब के पुरुषार्थ से ही पकडा गया था ।"

हमने शेर को देख लिया—वह रेत मे गड्ढा-सा खोद कर, उस मे बसी हुई नमी की शीतलता पकडने के लिए उस से ठोडी सटाये हाँफ रहा था, उस की अधखुली आँखें करुणा से हम लोगो की ओर देख रही थी, मानो वह रही

थी, मैं भी कैद मे हूँ, नही तो तुम लोग हो क्या चीज़" और देख कर हम लोग आगे बढने लगे।

गाइड ने कहा, "राजा साहब के पुरुषार्थ की कहानी है, शायद आप को दिलचस्पी हो।" उसका स्वर ऐसा निरीह था, मानो जोड रहा हो, 'स्वय मुझे कोई दिलचस्पी नही है।' हम कहानी को ललच गये। मैंने कहा "कहो।"

"राजा साहब के यहाँ अक्सर विदेशी शिकारी आते रहते है, और विदेशी होने के नाते यह ज़रूरी हो जाता है कि साहब उन के ओहदे के मुताबिक एक या दो शेर मरवायें। इस लिए अब शेर बहुत थोडे हो गये हैं। लेकिन दशहरे के दिनो राजा साहब को एक शेर मारना ज़रूरी होता है, क्योंकि परम्परा चली आयी है। उसी की कच्ची खाल पर खडे हो कर राजा साहब दरबार मे मुजरा लेते हैं। तो उस बार भी तैयारी हुई, मचान बँधे, और शिकारपार्टी चली। लेकिन बहुत खोजने और हो हल्ला करने पर भी शेर नही मिला। केवल एक बुड्ढे ने यह खबर दी कि जगल मे एक ताल के पास शेरनी ने बच्चे दिये हैं, और उन के साथ माँद मे पडी रहती है। तब नया मचान बँधा, नये सिरे से शोर मचाया गया कि शेरनी बाहर निकले। लेकिन वह नही निकली। आखिर राजा साहब ने अपने दो नौजवान शिकारियो को हुक्म दिया कि वे माँद के पास जायें और शेरनी को भडकायें। उन्हे आत्मरक्षा के लिए बन्दूकें दे दी गयी, और कडा हुक्म दिया गया कि शेरनी पर फायर न करें, उसे राजा साहब के लिए ही आने दें। वे माँद के पास गये और कुछ दूर से उन्होंने बडा-सा पत्थर माँद की ओर लुढकाया। शेरनी तडप कर बाहर निकली, तब शिकारी भागे। एक तो निकल गया, लेकिन दूसरे पर शेरनी का पंजा पडा, और वह गिर गया। बन्दूक अभी उस के हाथ मे थी, और शायद वह गोली चला भी सकता, लेकिन राजा साहब की आज्ञा नही थी! राजा साहब ने तीन-चार फायर किये, शेरनी मर गयी। घायल शिकारी को उठा ले गये, राजा साहब ने अपने निजी डाक्टर से उस का इलाज कराया, लेकिन वह सातवें दिन मर गया!"

मैंने कहा, "लेकिन यह शेर—इस की तो बात ही नही हुई—"

"हाँ, शेरनी के दोनो बच्चे पकड लिये गये। राजा साहब ने खुद माँद में घुस कर पकडवाये। उन मे से एक यह शेर है जो आप देखते हैं।"

हम आगे बढ़ गये ।

ऊदबिलाव

"यह ठण्डे देश का जानवर है, इस से यहाँ की गर्मी सही नही जाती, इसी-लिए पहले इस के लिए खास तौर से कुएँ का ठण्डा पानी लाया जाता था, लेकिन अब वह बन्द कर दिया गया है । तभी देखिए वह पानी के बाहर बैठ कर हाँफ रहा है, शायद हवा के झोंके से बदन कुछ ठण्डा हो ।"

मैंने कहा, "उस के पैर मे क्या हुआ है ?" पैर से रक्त-सा बह रहा था ।

रमा बोली, "यही है न जो हौज मे से पैसे निकाल लाता है ?"

गाइड ने कहा, "हाँ, आप दोनों के प्रश्नो का एक ही उत्तर है, मैं अभी कहता हूँ । ठहरिए, पैसा मत डालिए —"

रमा रुक गयी । गाइड कहने लगा, "जब से यह यहाँ आया, तभी से यह पैसा निकालनेवाला खेल शुरू हो गया । ऊदबिलाव तो पानी का जानवर है, मच्छी-मेंढक खाता है, लेकिन यहाँ उसे छीछड़े दिये जाते थे, और उन्ही के पीछे वह पानी मे भागता था । लोग पैसे फेंकते तो खाद्य समझ कर वह उनपर भी झपटता, लेकिन निराश होकर उन्हें किनारे पर ला रखता, तब लोग अपने पैसे उठा लेते । इसी तरह वह सध भी गया । पिछले साल गर्मियो मे कुछ लोग देखने आये । तब भी यह ऐसे ही गर्मी स घबराया हुआ पड़ा था, जैसा अब है—तब ठण्डे पानी का इन्तजाम नया नया बन्द हुआ था । देखने वालो मे एक लड़के ने चवन्नी फेंकी, वह काँपती हुई डूब गयी । ऊदबिलाव ने उधर देखा नही, न अपनी जगह से हिला । लड़का रोने लगा । बाप ने पूछा, क्या है ? चवन्नी की बात सुन कर उसे भी फिक्र हुई, और वह अपनी छड़ी से ऊदबिलाव को उठाने लगा । थोड़ी देर तो ऊदबिलाव ने इस की उपेक्षा की, लेकिन जब उस ने देखा कि उपेक्षा से छुटकारा नही मिलता है, तब क्रुद्ध हो कर फुफकारने और दाँत दिखाने लगा । लड़के के पिता तो हताश हो रहे थे, पर चचा भी साथ थे, वे बम्बई की एक मिल के मैनेजर थे और काम निकालना जानते थे । बोले, 'मैं देखता हूँ, कैसे नहीं लाता ।' उन्होने जेब से चाकू निकाल कर छड़ी के आगे बाँधा और उसे ऊदबिलाव के चुभाने लगे । ऊदबिलाव झपटा, तो चाकू उस के पैर मे लगा, उस ने और भी क्रोधान्ध हो कर वार किया, तब एक आँख

मे भी चाकू लगा। तब उस ने पराजित होकर डुबकी लगायी और चवन्नी बाहर ला रखी। तभी से पैर का ज़ख्म ठीक नहीं होता है--जब कभी वह पानी मे जाता है, तो खून की एक लकीर खिंच जाती है। और आँख का ज़ख्म तो गन्दा हो गया था उस से आँख ही नष्ट हो गयी। आप जानते है कि गर्म देशो म ज़ख्म कितनी जल्दी खराब होता है--"

मैंने कहा, "आँख गयी बेचारे की ? किसी ने--"

"जी हाँ, आप उसे जगायें तो दीख जायेगी, अभी दीखती है न।"

रमा ने इकन्नी निकाली थी, वह वापस पर्स मे डाल ली, और चुपकी-सी खडी रही। गाइड बोला, 'नही, आप इकन्नी की फिक्र न करें, वह नहीं आयेगा। उजडड से-उजडड आदमी भी सबक सीख कर सीधा हो जाता है, यह तो बेचारा बेबस जानवर है। यही वे मिल मैनेजर कहते थे।"

मैं जानता था कि रमा ने इकन्नी क्यों वापस रख ली, लेकिन गाइड के गलत समझने म मुझे क्रोध नही हुआ। रमा मुझे चिडियाघर घसीट कर लायी है, चखे मज़ा! अब कभी आने का नाम नही लेगी।

बाघ के बच्चे

हम ने बोर्ड की ओर देख कर पढा--'पुत्र के जन्म की खुशी म नवाब-- की ओर से दान।"

रमा ने कहा, कैसे सुन्दर बच्चे है! खेलन को जी चाहता है।"

गाइड ने कहा, 'बच्चे कैसे इतने सुन्दर होते है, यही एक ताज्जुब की बात है। शायद पीडा से जो चीज़ पैदा होती है वह सुन्दर ही होती है नही तो--" एकाएक मेरी ओर देख कर वह रुक गया और बोला--'अच्छा लीजिए, नही कहता। आप, मालूम होता है दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर है, तभी दर्शन से चिढते है। खैर, मैं अपना काम करूँ, कहानी ही कहूँ। सुनिए। जिस रात नवाबज़ादे का जन्म हुआ, उस रात नवाब साहब ने भारी उत्सव किया। शराब मे मस्त हो कर जब वे बैठने के नाकाबिल हो गये, तब भीतर महलो की ओर चले। शयनागार के बाहर एक बाँदी खडी थी, उस से उन्होने कुछ भद्दा मज़ाक किया। वह बोली कुछ नही, बोलना, ज़रूरी नही था, लेकिन उस ने वह मुस-कान भी अदा नही की, जो पाने का हक नवाब के मज़ाक को है। नवाब साहब

बिगड उठे और बाँदी को भीतर खींच ले गये, वहाँ उस से छेड़छाड करने लगे। उस ने बहुत अनुनय विनय की, लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। वह गर्भवती थी, और अन्त में उस ने अपने अजात बच्चे के नाम पर नवाब से दया माँगी। लेकिन नवाब आपे मे नही थे, उन्होंने उस के पेट म लात मारी। बाँदी लडखडा कर बैठ गयी, पीडा और एक असह्य आशका से उस का चेहरा स्याह पड गया, तब उसने फुफकार मारकर कहा, 'नवाब साहब, याद रखिए, मा बाघिन होती है!' नवाब साहब ने अट्टहास कर के कहा, 'नवाब क्या बाघिन से डरता है?' पर बाँदी को बाहर निकलवा दिया। अगले दिन जब बाँदी क्षमा न माँगने पर जेल भेजी गयी तब नवाब साहब को सूझा कि गाभिन बाघिन का शिकार करना चाहिए। शिकार का प्रबन्ध हुआ, और एक बाघिन मारी गयी। गोली लगने पर जब वह छटपटाने लगी तब इन तीन बच्चो का प्रसव हुआ। असमय पैदा होने से, देखिए, इनकी खाल कितनी मुलायम और सुन्दर है! तभी मै कहता हूँ कि पीडा सौन्दर्य की माँ है—"

रमा ने टोक कर पूछा, "और बाँदी का क्या हुआ? उस का बच्चा—"

गाइड हँस दिया। बोला, "मुझे मालूम नही। मालूम हो भी क्यो? मैने आप से पहले ही कहा न, 'मैं इस चिडियाघर की आत्मा हूँ, दुनिया की आत्मा नहीं हूँ'। मेरी कहानी इसी की कहानी है। अगर दुनिया भी एक चिडियाघर है, तो उस की कहानी के लिए आप—"

लेकिन मेरी सहनशीलता की इति हो चुकी थी। मैं रमा को खींचता हुआ एक ओर निकल चला। मुझे बाहर की राह मालूम नही थी, लेकिन एक ओर फाटक देख कर उधर ही मैं लपका।

चिडियाघर का साहब

फाटक के पास मैं ठिठक गया। उस पर बडे-बडे अक्षरो म लिखा था, "सावधान! बिना लिखित इजाजत के भीतर मत आओ!"

मैं कहने को था, अब क्या करें? कि मैंने देखा, गाइड पास खडा मुस्करा रहा है।

मैंने अपना क्रोध दबा कर पूछा, "यहाँ कौन-सा जानवर रहता है?"

"वह चिडियाघर के साहब का बँगला है।"

"ऐं ?"

"इन की भी कहानी कह दूँ ?" कह कर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये चिड़ियाघर की आत्मा बोली, "साहब हमारे राजा के चचेरे भाई की सन्तान है—एक वेश्या से। यह कहानी बहुत कम लोग जानते हैं, क्योंकि वह वेश्या बहुत देर तक कुँवर साहब की चहेती रही और वे उस के लड़के को कुमार की तरह पालते रहे। उसे भी अपनी माँ का पता नहीं लगा। एक बार राजकुमार कालेज में उस की किसी दूसरे कुमार से लड़ाई हो गयी, और उस ने उसे वेश्या-पुत्र कह दिया। जब पूछने पर सचाई का पता चला, तब वह दुःख और ग्लानि से पागल हो गया। जब पागलपन कुछ ठीक हुआ, तब उस ने कालेज जाने से इनकार किया और यहीं रहने लगा। अब भी उस का पागलपन मिटा नहीं, लेकिन अब यह हालत हुई कि जब कोई उस का नाम ले कर या कुँवर साहब कह कर बुलाता, तब उसे दौरा हो जाता और वह हत्या करने को तैयार हो जाता। अजनबी भी यदि उस का नाम पूछ बैठते या कोई और बात करते, जिस से उस का ध्यान अपने माँ-बाप की ओर जाये, तब भी यही हालत होती, अन्यथा वह बहुत ठीक रहता। जानवरों में उसे विशेष दिलचस्पी थी। इस लिए राजा साहब ने उसे यहाँ नियुक्त कर के इस बँगले में रख दिया और बाहर यह बोर्ड लगवा दिया कि कोई भूल कर भी उधर न चला जाय।"

थोड़ी देर मौन रहा। फिर गाइड ही ने कहा—"मालूम होता है, आप और नहीं देखना चाहते।" मेरे उत्तर देने से पहले ही वह रमा की ओर देख कर बोला, "मैंने पहले ही कहा था, आप को दुबारा देखने की जरूरत नहीं पड़ेगी।"

और मैंने फिर देखा, उस की मुसकराहट में एक तीखा व्यंग्य है। मैंने रमा से कहा, "देख लिया ? अब चलो बाहर !"

हम चले। रमा कुछ बोली नहीं, तब मेरा सारा क्रोध उसी पर फूटना चाहने लगा। मैंने व्यंग्य से पूछा, "कैसी रही सैर चिड़ियाघर की ?"

उस ने मेरा गुस्सा पढ़ कर, मानो ज्वाला में घी छोड़ने के लिए शान्त भाव से कहा, "अजीब थी—"

"अजीब कहती हो तुम—अजीब ? ऐसा सड़ा, गन्दा, बीभत्स, डिसगस्टिंग दिन मैंने कभी नहीं बिताया। अब कभी चिड़ियाघर आऊँ तो मेरा नाम—"

"कैसे नही आओगे तुम चिडियाघर मे ?"

अपने बिलकुल पास क्रोध से जलता हुआ यह गर्जन सुन कर मैं सहम गया। चिडियाघर की आत्मा वह गाइड मेरे बिलकुल पास खडा मेरी ओर देख रहा था। उस के विस्फारित नेत्रो से आग बरस रही थी, वदन गुस्से से काँप रहा था। "कैसे नही आओगे तुम चिडियाघर मे ? जाओगे कहाँ तुम ? वहाँ बाहर ! वहाँ एक बहुत बडा चिडियाघर है जिस मे तुम बन्द हो, तुम !"

वह एकाएक इतना पास आ गया कि उस की गर्म साँस मेरे गले पर पडने लगी और लम्बी दाढी के बाल मुझे चुभ गये। मैंने एकाएक घबडा कर रमा को खीचते हुए कहा, "रमा, चलो, बाहर चलो · "

मैं काँपता हुआ जागा, तो पाया कि मेरा झबरा कुत्ता टिम मेरे कन्धे पर अपनी थूथनी रगड कर मुझे जगाना चाहता है और उस के पीछे रमा वही पीली साडी पहने हुए प्यार-भरे स्वर मे कह रही है, "पोस्ती जी, चलना नही बाहर ?" मैं अपने को सँभालने की कोशिश करते-करते बोला, 'चलो। लेकिन कहाँ ?"

उस ने और भी आकर्षक मुसकान अपने चेहरे पर जाल की तरह बिखेर कर कहा, "क्यो, चिडियाघर नही ले चलोगे ?"

मैं डूबते हुए स्वर मे किसी तरह कह पाया, "चलो · '

आदम की डायरी

•

मैं क्यों और कैसे बना ?

'बनना' क्या होता है, मैं जानता हूँ। क्योंकि यवा न और मैंने मिलकर इस सुन्दर उद्यान की मिट्टी में कई बार टीले बना कर ढहा दिये हैं, कई बार अपने पैरों में ऊपर गीली मिट्टी जमा कर पैर खींच कर वैसी ही खोह बनायी है जैसी म हम रहते हैं ··यह भी मैं जानता हूँ कि जैसे पैर ढँक लेने स और हाथ छिपा लेने से भी उन की बतायी हुई खोह बनी ही रहती है, उसी तरह जिन चीजों को बनाने वाला नहीं दीखता, उस का भी कोई बनाने वाला होता अवश्य है। खोह के भीतर पैर के आकार का खोखल देख कर हम उस पैर की कल्पना कर सकते है जिस पर वह कन्दरा टिकी थी, बाहर से कन्दरा की दीवार पर उँगलियों की छाप देख कर हाथ का अनुमान कर लेते हैं · इसी तरह यदि हम इस उद्यान के रग-बिरंगे, सूखे गीले, चल-अचल विस्तार में परे देख सकते, तो शायद इस के भीतर भी हमें किसी के पैर क आकार की प्रतिकृति दीख पडती, इस पर भी किसी के हाथों की छाप पहचानी जा सकती···हम छोटे है, बनानेवाला बडा होगा, हो सकता है कि जैसे इस उद्यान की मिट्टी पर बडी लम्बी लकीर बना सकता हूँ उसी तरह बनानेवाला वैसे तो छोटा हो, पर बडाई को भी घेर सकने की, मिटा और फिर बना और आडा-तिरछा बना सकने की भी सामर्थ्य रखता हो ·

तो मुझे कैसे, किस ने, क्या बनाया ? समझ म नहीं आता। वह कोने के पेड म पडा हुआ साँप अपनी गुजलक खोल कर और जीभ लपलपा कर कहता था—पर साँप की बात मुझे बुरी लगती है · वह जब इधर-उधर पलोटता हुआ सरकता है और मिट्टी पर सूक्ष नाले-सी लकीर डालता चलता है, तब मेरे रोएँ न जाने क्यों खडे हो जाते है। साँप को देखता हूँ, तो दिन-

भर अनमना-सा रहता हूँ, यवा पूछ पूछ कर तग कर देती है कि क्यो ? पर मेरा दिन अच्छा नही बीतता···साँप अनिष्ट है ··

क्यो उस ने मेरे मन को ठीक वैसे ही घेर कर बाँध लिया है जैसे वह उस फल देने वाले पेड को अपनी गुजलक से कसे रहता है ? क्यो मेरा मन या तो सोच ही नही सकता, या साँप के दबाव के अनुसार ही सोच सकता है ?

वह मुझे देख कर हँसता है । उस की हँसी मे कुछ ऐसा होता है, जो काँटे की तरह सालता है । वह बताना चाहता है कि वह मुझ से अधिक जानता है, मुझ से अधिक समर्थ है, मुझ से अधिक पराक्रमी है किन्तु मैं तो यवा को देख कर यवा को दर्द पहुँचाने के लिए कभी नही हसा हूँ ? यवा भी तो बहुत सी बातें नही जानती जो मैं जानता हूँ । यवा स भी बहुत-से काम नही होते, जो मैं कर सकता हूँ ।

यवा मेरे साथ रहती है । यवा मेरी है । मैं उस के लिए फल लाता हूँ, मैं उस के लिए फूल तोड कर बिछाता हूँ । मैं अपने मुँह मे पानी ले कर एक-एक घूंट उस के मुँह मे छोडता हूँ । मुझे इस मे सुख मिलता है कि जो काम मैं करता हूँ वे सब-के सब यवा न कर सकती हो । मुझे इस मे भी सुख मिलता है कि जो काम वह कर भी सकती है, वे भी मेरी मदद के बिना न करे । यवा मेरी है ।

साँप तो मेरा कोई नही है ? उस का दिया हुआ तो मैं कुछ लेता नही । एक फल दिखा कर कभी वह बुलाया करता है, कभी डराया करता है, कभी तिरस्कार से हँसता है, पर मैंने तो वह फल कभी चाहा नही है, मैंने तो उस की ओर देखा भी नही है, मैंने साँप की बुलाहट की अनसुनी ही सदा की है, तब वह क्यो हँसता है ?

मैं साँप का नही हूँ, क्या इसी लिए वह हँसता है ? यदि मैं भी उस का होता, जैसे यवा मेरी है, तब क्या वह भी मेरी कमजोरी मे सुख पाता, क्या वह भी अपनी लपलपाती हुई जीभ से चाटा हुआ पानी मुझे···पर उँह ! मैं नही चाहता वह !

लेकिन साँप हँसता था और कहता था, मैं उस का हूँ । कहता था, जब तुम बने भी नही थे, तब से तुम मेरे ही थे, जब तुम नहीं रहोगे, तब भी तुम मेरे ही रहोगे । मेरी गुजलक तुम को घेरने वाली लकीर है । उसके बाहर कही भी नही जाओगे, कही भी नही रह पाओगे ।

मैं उस का हूँगा जिस ने मुझे बनाया है और यह सब कुछ बनाया है। पर यह कौन है मैं कैसे जानू

वह सांप तो कुछ भी नही मानता। उस की हँसी एक भीषण अवमानना की हसी है। उस म विश्वास नही है वह कहता है मैं सब कुछ जानता हूँ क्या जानना ही विश्वास छोडना है और क्या विश्वास छोडने से ही बडा और समथ बन जाता है ?

उस की किसी बात मे विश्वास नही है। पर वह बात कहता है तो लगने लगता है इस बात मे विश्वास किया जा सकता है

जब से मैंने साप का इशारा मान कर उस की बतायी हुई दिशा म देखा है तब स मेरा तन अभी तक थर थर काँपता ही जा रहा है

उस ने कहा था तुम कहते हो यवा मरी है इस लिए हम दोनो एक है। पर जो चीजें एक जैसी हैं एक तरह नही बनी हैं वह एक कैसे हैं ? तुम धोखे म हो धोखे मे।

मैंने उस की बात नही सुनी थी। मैंने जवाब भी नही दिया था। मन ही म सोचा था यह झूठ है। हम दोनो एक हैं क्योकि इतने बडे उद्यान मे एक यवा ही थी जिस को देख कर मैंने जाना था कि यह मेरे जैसी है और जो सहसा ही मेरे पास आ कर आयी ही रह गई थी भोजन खोजने भी नही गयी थी जिस के लिए मुझ स्वय ही भोजन लाने की और बैठने की जगह बनाने की इच्छा हुई थी हम दोनो म कुछ भी भेद नही है हम दोनो एक ही हैं उद्यान से हम दोनो हैं जो एक दूसरे को जानते है साप झूठा है।

पर वह ठठा कर हँस पडा था और बोला था तुम यवा को नही जानते, नही जानते। तुम अपने को भी नही जानते। तुम नग हो नगे !

वह शायद मेरा मौन तुडवाना चाहता था तभी तो जब मैंने उस की बात न समझ कर पूछा था नगा क्या होता है ? तब वह ठठा कर हँस पडा था और बोला था — नगे हो तुम ! नगी है यवा ! तुम दोनो नगे हो तुम अलग हो तुम दो हो !

मैं तब भी नही समझा था किन्तु तभी से न जाने क्यो मेरे शरीर मे कँप कँपी शुरू हो गयी थी। और यवा को अपने पाश्व मे आया देख कर मैं आश्वस्त नही हुआ था और उस की तरफ देख कर जैसे सहसा मुझे लगा था क्या यवा

सचमुच और है ? अपनी देह देख कर तो मुझे ऐसा कौतूहल नहीं होता जैसा यवा की देह को देख कर होता है, तब क्या सचमुच वह देह मेरी देह से और है !

यवा ने कुछ समझ कर मेरा कन्धा पकड लिया था, और जैसे मेरे रोगटे और भी काँप कर खड़े हो गये थे · और साँप ने फिर हँस कर कहा था, "यवा कहती थी, सब कुछ एक ही किसी ने बनाया है । तब तो सब-कुछ एक है, है न ? तब हमे सर्वत्र एकता दीखनी चाहिए । पर देखो तुम्हारे शरीर और-और हैं— वे तुम्हारे बनाने वाले की एकता को झूठा बताते है ! जाओ, उसे छिपाओ—और उसे, और उसे, और उसे !"

और उस की पलकहीन आँखें और लपलपाती दुहरी जीभ जैसे हमारी देहो को जगह-जगह छेदने लगी ··

मैंने अपने ही कम्पन पर क्रुद्ध हो कर कहा, "यवा ने तुम से कहा, यवा ने ! तुम झूठे हो, यवा तुम्हारी ओर देखती भी नही !"

साँप कुछ शात हो कर बोला, "क्या कहा ?" और जैसे हमें भूल कर चक्कर-पर-चक्कर देता हुआ उस पेड पर लिपटने लगा । पेड का तना छिप गया, फिर एक-एक कर के शाखें भी छिपती चली···

पता नही क्यो पेड का छिपते जाना मुझे अच्छा नही लगा । लगने लगा कि यह अनिष्ट है, पर जैसे मेरी आँख उस पर से हटी नही, और मेरी देह और भी काँपने लगी ।

यवा ने मुझे खीचते हुए कहा, 'चलो, यहाँ से चलो · "

एकाएक मुझे कुछ याद आया, मैंने यवा से पूछा, "यवा, क्या तूने सचमुच साँप से बात की थी ?"

यवा ने डर कर मुझे और भी ज़ोर से खीचते हुए कहा, "चलो, आदम, चलो यहाँ से !"

हम लोग हट गये । दूर चले गये, जहाँ वह पेड और साँप की खड़े पानी-सी आँखें हमे न दीखें । पर मेरे शरीर का कम्पन बन्द नही हुआ, और मुझे लगता रहा कि शून्य हवा मे से वही से साँप की आँख निरतर मुझे भेद रही है

जब झील मे से नहा कर तपती रेत पर लेटे-लेटे हमे फिर भोजन की इच्छा हुई, और हमने देखा कि आकाश का वह पीला फल फिर लाल हो चला है,

तब एकाएक मुझे बहुत अच्छा लगने लगा। मन मे हुआ, आज साँप की हरएक बात का मैं सामना कर सकता हूँ। मैं यवा का हाथ पकड कर उसे उसी पेड की ओर खीच ले चला जिस पर साँप लिपटा था।

मुझे डर नही लगा, मैं काँपा भी नही। राह मे एकाएक मैंने पूछा, "यवा, तुमने सचमुच साँप से वह बात कही थी ?"

यवा ने जवाब नही दिया। फिर एकाएक चौक कर बोली, "वह देखो, वह !"

मैंने देखा।

पेड सारा साँप की गुजलक मे छिप गया था। जैसे कीडा पत्ते को समूचा खा जाता है, वैसे ही साँप की गुजलक ने भूतल मे ले कर ऊपर तक समूचे पेड को लील लिया था—तना, शाखा-प्रशाखाएँ, टहनी-फुनगी सब छिप गयी थीं—और स्वय साँप भी गुजलक के भीतर कही सिर छिपाकर सोया था—जैसे वहाँ न साँप था, न पेड, केवल एक गूँथी हुई विराट् गुजलक—

और हाँ, उस गुजलक के ऊपर, जैसे उसी से निर्भर, एक अकेला पका हुआ लाल फल···

यवा ने जोर से मुझे पकड लिया। मैंने एक हाथ से उसे सँभालते हुए जाना, वह काँप रही है, और उस के भीतर कुछ बडे जोर से धक्-धक् कर रहा है।

मैंने हौसला दिलाने को कहा, "क्यो यवा, क्या है ?"

उत्तर म वह और भी जोर से मेरे साथ चिपट गयी। मैंने फिर पूछा, "यवा, यवा, डरती हो ?"

उस ने और भी चिपट कर कान के पास मुँह रख कर धीरे से कहा, "साँप सोया है।"

मैं बोला, "तो फिर ?"

यवा फिर चुप हो गयी, मैंने देखा, वह मेरे साथ अधिकाधिक चिपटती जा रही है, और उस के भीतर धक्-धक् द्रुततर होती जा कर जैसे मुझे भी भर रही है ·मेरे रोएँ फिर खडे होने लगे, पर डर से नही, डर से कदापि नही—किसमे, यह मैं नही जानता !

मैंने कहा, "कहो यवा, क्या है ?"

वह फिर चुप रही। मैंने फिर उस की काँपती देह-लता, सकुची हुई मुद्रा और लाल होते चेहरे को देखते हुए, दूसरा हाथ उसके माथे पर रखते हुए पूछा, "मेरी वीरबहूटी, बता, क्या चाहती है?"

उस ने एक बार बड़े ज़ोर से धक्-से हो कर कहा, "वह फल मुझे ला दोगे?" और मुँह छिपा लिया।

मुझे नहीं समझ आया कि क्या कहूँ। न जाने कैसे मैंने एक हाथ में यवा को पकड़े ही पकड़े दूसरा हाथ बढ़ा कर वह फल तोड़ लिया—शायद यवा के भीतर की वह धक्-धक् मुझे धकेल गयी।

एकाएक साँप हिला। यवा ने लपक कर फल में एक चाक दे मारा और शेष मेरे मुँह में ठूँस दिया—साँप ने ज़रा इधर-उधर सरक कर सिर बाहर को निकाला—और साँप का कुण्ठित कर देने वाला उन्मत्त अट्टहास सारे उद्यान में गूँज गया···

"जो मैं स्वयं तुम्हें दे रहा था, वह तुम ने मुझ से छिपा कर तोड़ खाया। छिपा कर, छिप कर, अलग हो कर, तुम जो सब कुछ एक बताते हो, तुम मेरी झूठ-मूठ की नींद से धोखा खा गये! अब तुम्हारी देह के भीतर मेरा लाल फल है, और तुम्हारी देह को मेरी यह गुंजलक बाँधेगी—बाँधेगी तुम्हारी नंगी देह को जो—तुम नंगे हो, नंगे! नंगे!"

क्या जिस समर्थ भाव से भर कर मैं वहाँ गया था, वह भुलावा था? साँप ने हमें धोखा भी दिया तो भी मैं समर्थ हूँ। मैं अपनी यवा को ले कर उस उद्यान से बाहर चला आया हूँ। यहाँ केवल वीरान है, पेड़-फल-फूल नहीं हैं; लेकिन यहाँ साँप भी नहीं है। यहाँ केवल मैं हूँ और मेरी यवा है।

वहाँ की खुली हवा में बैठ कर यवा ने पूछा, "कैसा था फल?"

मैंने कहा, "यवा, सारी बात ऐसे हो गयी कि कुछ समझ में नहीं आया। तुम्हारी छाती के भीतर की धक् धक् ने न जाने मुझे कैसा कर दिया था।"

एकाएक मैंने देखा कि यद्यपि यवा ने मेरी बात से सहसा सकुचित हो कर दोनों हाथों से अपनी छाती ढाँक ली है, तथापि वह मेरी बात नहीं सुन रही है। उस की आँखें मुझ पर नहीं जमी हैं, आकाश की तरफ देख रही हैं जिस का रंग कुछ गहरा हो गया है, नीचे की ओर आते हुए और लाल होते हुए आकाश के मुँह को शायद पहचानने की कोशिश कर रही है···

मैंने फिर कहा, "यवा, उस समय तुमने मुझे क्या कर दिया था ? कैसे कँपा दिया था—"

यवा ने जैसे नही सुना। उस की आँखें खुली थी, पर वैसी ही दूर की कुछ बात देख रही थी, जैसी कभी-कभी काली रात के अँधेरे मे सोते-सोते दीखा करती है ··

मैंने फिर पूछा, "यवा, क्या देख रही हो ?" वह धीरे-धीरे बोली, मैं सोच रही थी, साँप की गुजलक मे बँधे हुए पेड को कैसा लगता होगा ··अगर वैसी गुजलक मुझ पर लिपट जाय, मैं सारी जकडी जाऊ, तो कैसा लगे ?" वह तनिक-सा काँप गयी, फिर बोली, "अच्छा बताओ तो, अगर तुम उसी तरह बाँहों मे मुझे बाँध कर छा लो और मेरे बाल पकड कर उन मे मुंह छिपा लो, तो कैसा लगे, बताओ तो !" और वह काँपती-सी झूठ-मूठ की-सी हँसी हँस दी, मैंने सहम कर कहा, "दुर !"

और वह हाथ और बाँहो से मुँह और छाती ढँक कर, सिमट कर मेरी ही आड मे हो ली और मेरी जांघ पर अपने लम्बे बाल फैलाकर सो गयी।

और वह सोयी है। दिन लाल हो रहा है। शीघ्र ही वह काला पड जायगा, रात आ जायगी, सब कुछ छिप जायगा, हम भी छिप जायेंगे। दो नही रहेंगे, अलग नही रहेंगे, बिना आड के भी अलग नही रहेंगे—मैं यवा के पास आऊँगा, बहुत पास, बहुत पास, बहुत पास, उस से एक · और वहाँ कुछ नही होगा, साँप भी नही होगा, बनाने वाला भी नही होगा, हम भी इस मरुभूमि मे होंगे और हम एक होंगे···

2

यह क्या हो गया है ?

उस समय साँप नही देख रहा था, वह साँप जो सब-कुछ जानता था, तब जो साँप का और हमारा बनाने वाला है वह भी नही देख रहा होगा, और अँधेरे में हम भी एक-दूसरे को नही देख सकते थे, यवा और मेरे बीच के भेद को नही देख सकते थे; तब छिपना हम किस से चाहते थे ?

यवा मेरी जाँघ पर सिर रखे लेटी थी, मैं कोहनी टेके अध लेटी मुद्रा मे था। हम दोनो सोना चाहते थे, पर शरीर नही मानता था। न जाने हम दोना

के भीतर क्या खूब जागरूक हो कर धक्-धक् कर रहा था। और उस के दवाव से शरीर भी जैसे टूटते-से थे, थकित-चकित-क्लान्त-से होते थे, पर फिर भी ढीलना नही चाहते थे, तने-ही-तने रहना चाहते थे, अशान्त, अश्लथ, खण्डित, असकुचित, अपरावृत···और इसे न समझे हुए, न चाहे हुए दवाव के नीचे मैं बहुत अकेला, बहुत ही छोटा और दयनीय-सा अपने को जान रहा था···

बहुत ही दयनीय, बहुत ही छोटा, बहुत ही अकेला · यवा मेरी जाँघ पर चुपचाप पडी थी, पर न जाने कैसे मैं अनुभव कर रहा था, उस रात की निविड, निरालोक स्तब्धता मे मेरे साथ घनिष्ठ हो कर भी वह जैसे अकेली अनुभव कर रही है, हम दोनो बिना बताये अलग-अलग अपने को तुच्छ और अकेले समझते हुए कही छिप जाना चाहते हैं, समा जाना चाहते है—एक-दूसरे की आँखो से नही, एक-दूसरे से तो सट कर किन्तु अन्य न जाने किस की आँखों से···

जैसे किसी अनदीखते साँप की अनदीखती, अस्पृश्य गुजलक मे हम दोनो बद्ध हो, और—

और मेरे मन मे रह-रह कर यवा की काँपती हुई हँसी से कही हुई बात गूँज जाती थी, "अगर वैसी गुजलक मुझ पर लिपट जाय, मै सारी जकडी जाऊँ, तो कैसा लगे ? अच्छा बताओ तो, अगर तुम उसी तरह बाँहो से मुझे बाँध कर छा लो और मेरे बाल पकड कर उन म मुँह छिपा लो, तो कैसा लगे बताओ तो !···"

कैसा लगे, बताओ तो···न जाने कैसा लगे, यवा, न जाने कैसा लगे···पर मैं तो बडा दयनीय, बहुत छोटा, बहुत अकेला हूँ और मैं छिप जाना चाहता हूँ न जाने किस की आँखो स—मुझे अच्छा नही लगता ··

मेरा शरीर सिहर कर तनिक-सा काँप गया। यवा ने चौक कर आधी उठ कर भर्राये-से स्वर मे कहा, "कैसा लगता है, आदम, बताओ तो ?"

मेरे मन मे हुआ, यवा, इस मरुभूमि मे न वनस्पति है, न साँप है, न फल, शायद इन सब का बनाने वाला इस मरुभूमि मे नहीं है, यहाँ हैं केवल तुम और मैं और हमारा अकेलापन—और मैंने विवश-भाव से यवा को पास खीच कर घेरते हुए कहा, "तुम्ही जानो, यवा, कैसा लगेगा, मैं तुम्हे बाँधे लेता हूँ इस गुजलक में—" और यवा ने जैसे बिजली की तरह काँप कर सिमटते-

सिमटते कहा, "हाँ, बाँध लो मुझे, छा लो, पेड़ की एक फुनगी तक न दीखे, केवल फल, केवल फल···"

और तब मेरे भीतर धक्-धक् करनेवाला वह 'कुछ' चीत्कार कर उठा, क्या मैं दयनीय हूँ, क्यों मैं छोटा हूँ, क्यों मैं अकेला हूँ 'इस मरुभूमि में और कोई नहीं है, मैं ही गुजलक हूँ, मैं ही साँप हूँ, मैं ही फल हूँ ··और क्यों नहीं हूँ, मैं ही वह बनानेवाला हूँ जिसका नाम हम नहीं जानते—मैं !

और यवा के भीतर का धक् धक् ताल देता हुआ बोला—"और मैं !" और एक लहर-सी मेरे ऊपर आयी, डुबा देनेवाली, घाट देनेवाली, तहस-नहस करनेवाली, यह आकाश का जलता हुआ लाल फल और अनगिनत फल—जो कुछ मैं देखता और जानता हूँ सब-कुछ जैसे मुझे रौंदता हुआ और खींचता हुआ चला गया और यवा को बाँधे-छिपाये हुए मुझे लगा कि मैं ही बनानेवाला हूँ—

और तब—

नहीं यवा नहीं ! हम नंगे हैं ! नंगे हैं ! और मैंने सहसा परे हट कर अपना मुँह जमीन में छिपा लिया, जो होने लगा कि समूची देह उसी में धँस जाय। और यवा भी मुँह फेर कर धीरे-धीरे रोने लगी···

3

यह जो मेरे भीतर और यवा के भीतर निरन्तर धक्-धक् किया करता है, क्या यही उस बनानेवाले के पैर की प्रतिकृति वह खोखल नहीं है जिस से कन्दरा का बनानेवाला पहचाना जाता है ? साँप के आगे मेरी हार हुई है, लेकिन मैं जानता हूँ कि साँप ने झूठ कहा था, मैं जानता हूँ कि बनानेवाला एक है और निश्चय है उस की छाया भी मेरे भीतर है और यवा के भीतर, और निस्सन्देह उस अनिष्ट साँप के भीतर

लेकिन यह यवा में क्या नयी बात प्रकट हुई है ? मेरे और यवा के बनानेवाले के और उस के प्रतिस्पर्धी साँप के बीच यह एक नया डर और नया आग्रह कैसा देखता हूँ, जो यवा की आँखों में काँपा करता है ?

यवा सच बताओ, मेरे और तुम्हारे, साँप के और सब के नियन्ता के बीच यह चीज क्या है जिसे तुम जानती हो और हम नहीं ? बताओ, तुम्हारा यह

डर और चिन्तित उत्कण्ठा कैसी है ? किस के लिए तुम कोमलता से भरा करती हो, किस के लिए तुम मुझे भूल-सी जाती हो, पहचानती नही हो, किस के लिए तुम्हारी आँखें सर्दी की बरसात के बाद की-सी धुन्ध से भर कर तैरने-सी लगती हैं ? बताओ मुझे, तुम्हें क्या हो गया है···

क्या मैंने तुम्हें क्लेश दिया है ? पीडा पहुँचायी है ? लेकिन क्या वैसा मैंने चाहा है ? इस अनिष्टकर साँप की देखादेखी मैंने तुम्हें गुजलक मे बाँधना चाहा था अवश्य, और उस से हम दोनो स्तम्भित हुए थे अवश्य, पर वह तो तुम्ही ने जानना चाहा था, और फिर तब तो तुम ऐसी बदली भी नही थी···

यवा, बताओ मुझे, वह अन्य कौन है···

मैं जैसे बदल रहा हूँ। कुछ और ही होता जा रहा हूँ। मैं नही जानता कि क्या बदल रहा है, पर कुछ फर्क हो गया है जरूर। पहले की तरह भागना-दौडना और यवा के साथ ऊधम करना अब उतना नही सुहाता, और यवा मे भी जैसे उसका उतना आग्रह नही है। अब मुझे यही अच्छा लगता है कि यवा के आस-पास कही निकट ही रहूँ, भूख होने के समय यवा को ले कर घूमने के बजाय वही पर खाने को फल-फूल ले आऊँ, यवा के लिए एक बडी-सी कन्दरा बना दूँ और उस के आस-पास फल के पौधे लगा दूँ, जिस से दूर जाना ही न पडे·· और यवा भी मानो यही चाहती है, जैसे कन्दरा के बनने मे उस का मुझसे भी अधिक आग्रह है—वह उस के भीतर बैठ कर दिन मे रात के सपने देखना चाहती है···

वही तो शायद सर्दी की धुन्ध की तरह उस की आँखो मे छाया और जाया करते हैं, जमा और घुला करते हैं·· पर क्या चीज है वह जिस की माँग उस धुन्ध के पीछे यवा की आँखों मे झलक जाया करती है, कौन है वह मेरे अतिरिक्त, जिस की चाह यवा करती जान पडती है···

अक्सर बादल छाये रहते हैं, कभी-कभी पानी भी बरसा करता है। यवा अनमनी-सी कदरा मे पडी रहती है, और मैं अनमना-सा आकाश की ओर देखा करता हूँ। कभी बादल घने हो कर काले पड जाते हैं, कभी छितरा कर उजले हो जाते हैं, और थोडी-सी धूप भी चमक जाती है। समझ नही आता कि मेरे इस अपने दो जनो के उद्यान पर क्या बदली छा गयी है जो हम ऐसे

हो गए हैं। यवा मुझे अब भी उतनी ही अच्छी और अपनी लगती है; वह भी शान्त विश्वास से आ कर मेरे द्वारा सहलाये जाने के लिए अपनी ग्रीवा झुका कर बैठ जाया करती है, फिर भी जैसे उस की आँखों की उस धुन्ध में अस्पष्ट-सा दीख पड़ने वाला आकार हर समय हमारे बीच में बना रहता है···

और कभी यवा एकाएक थकी और खिन्न हो जाती है, कभी उस का जी कैसा होने लगता है, कभी उस के पीड़ा होने लगती है · मुझे समझ नहीं आता कि मैं क्या करूँ कि वह फिर पहले-जैसी हो जाय···मुझे कुछ भी समझ नहीं आता कि मैं क्या करूँ कि वह फिर पहले-जैसी हो जाय · मुझे कुछ भी समझ नहीं आता, कुछ भी अच्छा नहीं लगता···

ओ तू—मेरे और यवा के बनाने वाले, मुझे बता कि क्या करूँ, यवा को कैसे सान्त्वना दूँ, कैसे शान्ति पहुँचाऊँ · 'मुझे बता, कैसे उस का दर्द दूर हो, कैसे वह उठे, कैसे वह मुझे जाने ··

यवा भीतर बैठी है और रो रही है। मैं उसे बाहर लाना चाहता हूँ, धूप में बिठाना चाहता हूँ, कोई बूटी खिलाना चाहता हूँ जिस से उसे कुछ चैन हो, पर वह निकलती नहीं, उसे कन्दरा का अँधेरा और एकान्त ही पसन्द है, वहीं की गीली मिट्टी कुरेद कर कभी-कभी वह खा लेती है, यही उसे अच्छा लगता है मुझ से सहा नहीं जाता यह, मेरा जी न जाने कैसा होता है, पर वह मेरा पास रहना भी नहीं सह सकती, वह मुझे अपने से दूर रखना चाहती है, वह कन्दरा के अंधकार में मेरी भी दृष्टि से छिपना चाहती है—बल्कि मेरी ही दृष्टि से · उफ—कुछ समझ नहीं आता···

ओ तू मेरे और यवा के बनाने वाले, मुझे बता कि मैं क्या करूँ यहाँ बाहर बेबस और अकेला बैठ कर बादल के टुकड़े गिनने से तो कुछ नहीं होगा, बता कि उसके अकेलेपन में और उस वेदना में मैं कैसे काम आऊँ

अँधेरे में शायद मैं सो गया था।

एकाएक एक बड़ी भेदक चीख सुन कर मैं उठ कर भीतर कन्दरा में दौड़ने को हुआ, किन्तु क्या यह चीख यवा की थी ? वैसी चीख तो मैंने यवा के मुँह से कभी नहीं सुनी थी · क्षण ही भर बाद वह फिर आयी—नहीं, यह यवा की नहीं हो सकती एक बार और—हाँ, यह यवा की पुकार है शायद—

यवा ने सहसा धीमे, दर्द भरे स्वर में पुकारा, "आदम !" मैं दौड़ कर

भीतर गया और स्तम्भित खड़ा रह गया। यवा ने सिमट कर मुँह फेरते हुए सकुचाये-से स्वर मे कहा, "आदम, यह क्या हो गया है''"

मैं समझा नहीं, लेकिन एकाएक मैं जान गया, साँप झूठा है, झूठा है, झूठा है, मेरे भीतर धक्-धक् करने वाली शक्ति ही सच है, बनाने वाली है, और एकाएक मैं इस सब कुछ के बनाने वाले का नाम भी जान गया जो साँप कहता था कोई जान ही नही सकता क्योंकि वह है नही—स्रष्टा! मैंने जान लिया है कि मैं ही स्रष्टा हूँ ''और मैंने पुकार कर कहा, "यवा, ठहरो, मैं जान गया हूँ कि स्रष्टा को छिपा कर ही जिया जा सकता है, सब से छिप कर ही उस से मिलना सम्भव है…"

मैं एकाएक बाहर दौड गया, अँधेरे मे ही मैंने सेमल का पेड खोज कर उसके ढेर से फूल तोड कर एक लता की छाल म गूँथ कर बाँध लिये, लौट कर वह आवरण यवा के और उस की छाती पर चिपट कर पड़े हुए मेरे प्रतिरूप एक अत्यन्त छोटे-से आदम के ऊपर ओढा दिया।

यवा ने सिहर कर कहा, "हाँ, मेरे आदम, इसी तरह गुजलक से मुझे बाँध दो, छा लो समूचे पेड को, कि कुछ भी न दीखे—एक फुनगी तक नहीं। केवल फल—केवल फल…"

और छाती से मेरी सृष्टि को चिपटाये हुए और सब तरफ से आवृत यवा की हँसी से चमक गये दाँत देख कर मैंने सदा के लिए जान लिया कि साँप झूठा है, कि स्रष्टा है, कि एकता है…

कविता और जीवन : एक कहानी

•

मैं आप को सिर्फ कहानी नही, कहानी से कही अधिक कुछ सुनाने लगा हूँ। ज़रा कान लगा कर—नही कान से अधिक मन लगाकर—सुन लीजिये। जो गाली आप देना चाहते हैं—पढ कर आप गाली देंगे, यह तो निश्चित है—उसे ज़रा अन्त तक रोक रखिये। 'सब्र का फल मीठा होता है'—क्या पता, आप के सब्र का मुझे मिलनेवाला फल वह गाली भी मीठी हो जाय! इस 'कहानी' पर कलम घिसने का पारिश्रमिक मुझे नही मिलेगा, यह तो आप जानते होंगे, इस लिए गाली के बारे मे फिक्रमन्द होने के लिए आप मुझे क्षमा कर देंगे, यह उम्मीद है।

और जब 'कहानी से अधिक कुछ' कहने लगा हूँ तब प्लॉट-कथानक के झगडे मे क्या पडना? ये छोटी बातें कहानी के लिए ठीक होती हैं। यहाँ तो जो सामने आ जाय, वही उपयुक्त है। तो लीजिये, याद आती है हरद्वार की एक बात—

शिवसुन्दर को सूझा था कि वह कलकत्ते मे रह कर गली गली की खाक छान कर कविता करना चाहता है, तभी कविता नही बनती। बगाली क्लर्क, सिख ड्राइवर, एग्लो-इडियन लोफर लफगे, बिहारी कास्टेबल और सभी जगहो के भिखमगे—सब आदमी, आदमी, आदमी—भला यह भी कोई कविता का विषय है! इनसान और कविता—हुँह! कविता के लिए चाहिए प्रकृति—नदी-नाले, पलाश के उपवन, लता-फूल, मलय पवन और दूर कही कुछ अस्पष्ट, अदृष्ट—नही, दूर कही किसी नूपुर-वलयित रहस्यमयी की पग ध्वनि! और इस सूझ के उठते ही वह बोरिया बिस्तर—बिस्तर कम बोरिया अधिक—लेकर हरद्वार चला आया था। गुरुकुल की तरफ नहर के किनारे एकान्त मे एक मकान मे सिरे का कमरा उसे मिल

या था, वही रह कर वह कविता के प्रादुर्भाव की प्रतीक्षा कर रहा था।

वह अभी तक प्रकटी नहीं थी। दिन भर अरहर के खेतों म भटकना से अच्छा लगा था, दूर एक पहाडी की चोटी पर बने हुए देवी के मन्दिर की गाड मे सूर्य का मुँह छिपा लेना और भी अच्छा लगा था, और शाम को गगा की ओर से जो तेज़ और शीत हवा आ कर बारीक पिसी हुई रेत का परिमल उस के सारे चेहरे पर चिपका गयी थी, वह भी उसे बुरी नही लगी थी · लेकिन अच्छे लग कर ही ये सब रह गये थे, जिस दैवी घटना की, उन्मेप की आशा उस ने की थी, वह नही हुआ था। रात को चारपाई पर लेटा-लेटा वह सोच रहा था कि क्यो नही हुआ वह उन्मेप, और कुछ उत्तर नही पा रहा था। केवल एक अतृप्ति-सी उसे घेर रही थी। वह कभी ऊँघ लेता, फिर जाग जाता, और जागने पर न जाने क्यो उसे सूना-सूना लगता और झल्लाहट होती। उसे लगता कि जीवन बहुत अधिक नीरस है, उसे जीने के लिए कविता की जरूरत है, मुखर सौन्दर्य की ज़रूरत है···

वह फिर ऊँघ गया और जब चौंक कर जागा तब आधी रात थी। उस सन्नाटे म अकस्मात् जाग जाने का कारण उसे नही समझ आया, वह कान लगा कर सुनने लगा कि किस स्वर ने उसे जगाया था।

कुछ नही। यो ही जाग गया था वह।

लेकिन···

उसे जान पडा कि कमरे की खिडकी के बाहर कही नूपुरो की ध्वनि हो रही है, रह-रह कर और बदल-बदल कर मानो कोई स्त्री सभ्रान्त गति से चल रही है, कभी रुक कर और कभी तेज़ी स।

इतनी घनी रात मे कौन बाहर? और क्यो?

शिवसुन्दर पूरी तरह जाग गया। उस की अशान्ति केन्द्रित हो कर एक तनी हुई-सी प्रतीक्षा बन गयी।

नूपुरो की ध्वनि फिर आयी। उस ने कोशिश की, कान लगा कर पहचान सके कि कहाँ से आती है, लेकिन उसे लगा कि कभी वह एक तरफ से आती है, कभी दूसरी।

क्या हवा ही उस धोखा दे रही है? रह-रह कर एक मीठा-सा झोका आ जाता है, कभी एक तरफ से, कभी दूसरी तरफ से। क्या इसी लिए तो नहीं वह

स्वर भी भागता हुआ जान पड़ता ? क्योंकि किसी अभिसारिका का—यदि वह स्त्री अभिसारिका है तो, लेकिन और हो क्या सकती है ?—ऐसे समय इधर-उधर भागना, वह भी जब उस के पायल इतने ज़ोर स बज रहे हों, कुछ जंचता नहीं। कवि भी कह गये हैं—'मुखरमधीर त्यज मञ्जीर'···

तभी पायल बड़े ज़ोर स बज उठे—सनन्-सनन् !

शिवसुन्दर उठ बैठा। यह स्वर मानो उस के सिरहाने के पास से ही आ रहा था उस का हृदय धक्-धक् करने लगा—इस एकान्त निर्जन स्थल में किसी अपरिचिता का इतना साहस ··

पायल फिर बजे, और शिवसुन्दर जान गया कि वे यहाँ हैं। उस के सिर-हाने के पास की खिड़की के बाहर ही वह स्वर है।

लेकिन कौन है यह स्त्री, और इतनी रात यहाँ क्यों है ? और इतना हौसला उस का कैसे है ? शायद कोई पुंश्चली स्त्री होगी। लेकिन पुंश्चली होती तो क्या इस स अधिक चतुर न होती, चुपचाप न आती ?

शिवसुन्दर को प्रतीत हुआ कि बहुत तेज गति से बहुत-सा सोच जाने की ज़रूरत है। वह जल्दी-जल्दी दिन-भर में देखते हुए प्रत्येक स्त्री-मुख की याद करने लगा—कौन हो सकती है जो उस के पास आयी है ?

···तमोलिन से जब पान लिया था, तब वह पैसा लेते हुए सिर मटका कर मुस्करा दी थी। लेकिन उस मुस्कराहट में तो खास कोई बात नहीं थी। लगी तो वह ऐसी ही थी मानो गाहक का दस्तूर हो। जैसे पान के साथ तम्बाकू मुफ्त मिलता है, वैसे ही मुफ्त यह मुस्कान दी गयी जान पड़ती थी। लेकिन कौन जाने, ये आधी रात म बजते हुए पायल भी उसके 'दस्तूर' में ही शामिल हों

शाम को उस ने हलवाई से दूध लिया था, तब हलवाई की लड़की भी बैठी थी। शिवसुन्दर एकटक उस की ओर देख रहा है, सहसा यह जान कर वह शर्म से लाल हो आयी थी और भीतर चली गयी थी। शर्म क्या है ? पुरुष को आकर्षित करने का एक साधन—तभी तो मारवाड़िनें पति के सामने घूंघट निकालती हैं। लेकिन मेलों में अधनंगी नहा आती हैं—पति को आकर्षित करना होता है और ग़ैर आदमी, आदमी थोड़े ही हैं, सिर्फ़ ग़ैर हैं।

और वह माँगनेवाली औरत—ऐसी उस ने कभी नहीं देखी थी। जब वह

साधारण अपील से आकृष्ट नहीं हुआ, तब बोली, "तेरा योवन पी लूँ बाबू, एक पैसा दे, तेरा थूक चाट लूँ बाबू ..." जब इस से भी उसे ग्लानि ही हुई, तब, "तेरे गुलाबी गालों पै मरूँ बाबू, एक पैसा दे। तेरी दाढ़ी को हाथ लगाऊँ बाबू ..." और बढ़ कर उस की ठोडी ही तो पकड़ ली थी उस ने ...

शिवसुन्दर उठ कर खिड़की पर जा पहुँचा। आँखें फाड़-फाड़कर उस ने बाहर देखा, कोई नहीं दीखा। वह फिर आ कर चारपाई पर लेट गया।

और तभी पायल फिर बजे। वह फिर उठ बैठा।

अपने हृदय का स्पन्दन उस में लिए असह्य होने लगा। उस ने फिर खिड़की पर जा कर देखा—कुछ नहीं। तब उस ने एकदम किवाड़ खोल दिया और बाहर निकल आया। घर का चक्कर काटा, लेकिन कोई नहीं दीखा। वह फिर किवाड़ पर आ कर रुका—कि दूर कहीं पायल फिर बजे। शायद वह स्त्री हताश हो कर लौटी जा रही है, अरहर के खेतों में से वह स्वर आया था। शिवसुन्दर के भीतर उत्कण्ठा इतनी उमड़ आयी थी कि अब उस रहस्य को खोल डालना बहुत जरूरी हो गया था—उस स्त्री को खोज लेना · और रात भी तीव्र गति से बीतती जा रही है, यह भी फिक्र उसे हो आयी थी। नींद उस की आँखों में नहीं थी, कुछ और था जो उस के लिए अभ्यस्त नहीं था और जिस का वह नाम नहीं जानता था ·

वह लपक कर अरहर के खेत में घुसा। उस के मन में आया, अगर मैं शब्दवेधी बाण चलाने की क्रिया जानता तो उसे बाणों से ऐसा घेर लेता कि एक जगह टिक कर खड़ी रहती, लेकिन लेकिन ...

उस का हृदय धक् से हो गया—बहुत पास ही कहीं बहुत ही मधुर कोमल स्वर में पायल बजे—खनन्।

शिवसुन्दर की आतुर आँखों ने अन्धकार को भेद डालना चाहा, पर कुछ दीखा नहीं। उसे शीघ्र ही आने वाले सवेरे की याद आयी, पर सवेरा हो जाने से सब चौपट हो जायेगा। उस ने धीरे से पुकारा, "कौन हो तुम ?"

जवाब नहीं आया। उस ने फिर कहा, "कौन हो ? इधर निकल आओ।"

फिर भी उत्तर नहीं मिला। उसे बिहारी का एक दोहा याद आया, 'अरहर कपास, ईख, सब कट जायेंगे...' अभी अरहर कटने के दिन नहीं आये, पर य,

सो रात भी नहीं बीतने देना चाहता···उस ने फिर पुकारा, "कहाँ हो तुम ?"

उत्तर में कुछ दूर पर पायल बजे। दायीं ओर कहीं पर—लेकिन नहीं, वे फिर बजे तो उसे प्रतीत हुआ कि बायीं ओर हैं। वह खेत से बाहर निकल कर मेड़ पर आया, हताश सा बैठ गया।

हवा का झोंका कभी-कभी आता था, तब उस में बसे हुए शीत से शिवसुन्दर का कुण्ठित मन और भी सिकुड़ जाता था···और तब दूर कहीं, कभी इधर, कभी उधर, पायल बज उठते थे···

रात या यों कहें कि भोर—क्योंकि पौ फटने ही वाली थी—अत्यन्त सुन्दर था। लेकिन शिवसुन्दर का ध्यान उधर नहीं था। वह मर्माहत-सा मेड़ पर बैठा था···

ऊषा की एक लाल किरण आकाश में फिर गई। मानो देवी के आने के लिए मार्ग को बुहार गयी, किसी मंगल-सूचक लाल चूर्ण से चौक पूर गयी। शिवसुन्दर की थकी आँखों ने देखा, चारों ओर प्रकृति का राग है—नदी है, नहर है, पलाश के फूले हुए उपवन हैं, समीरण धीरे-धीरे बहने लगा है और फिर न जाने किस के पायलों की ध्वनि उस के पास लिये आ रहा है · लेकिन इस सब की जैसे उस पर छाप नहीं पड़ी। उस में सिर्फ एक ही जिज्ञासा थी—जिस के पायल हैं, वह कहाँ है ?

पायल उस के हाथ के पास ही बजे। उस ने चौंक कर देखा, वहाँ एक छोटा-सा, सूखा-सा पौधा था, और कुछ नहीं।

और पौधा हवा के झोंके में फिर काँप कर बोला—खनन् !

क्षण-भर शिवसुन्दर स्तब्ध रह गया, फिर मानो आकाश से गिरा ··फिर उस में एकाएक निराशा का क्रोध उमड़ आया, उस ने एक ही झटके में उस पौधे को जड़ समेत नोच लिया।

और उस के क्रोध-कम्पित हाथों में भी उस पौधे में लगी हुई पकी फलियों ने कहा—खनन् !

शिवसुन्दर ने उस हताशा में मानो सत्य को देख लिया, लेकिन समझने से पहले ही वह सत्य बुझ भी गया। उस ने जाना कि वह सिर्फ कविता ही नहीं चाहता है, सिर्फ सौन्दर्य ही नहीं चाहता है, इस से अधिक कुछ चाहता है··· लेकिन क्या चाहता है ? वह नहीं जानता। इतना जानता है कि वह अतृप्त रह

गया है, भूखा रह गया है, चौंक कर ऐसे जाग गया है कि उन्निद्र हो गया है, उसे…

शिवसुन्दर धीरे-धीरे घर लौटा। रात-भर की घटनाएँ मानो एक पहले कभी सुने हुए ग्राम्यगीत की एक पंक्ति में सिमट कर उसके मन में गूँजने लगीं, 'तेरी पैंजणिया न्यूँ बाजे ज्यूँ बाजे बीज सणी दा।' बेवकूफ कहीं का —उल्टी बात कहता है। आखिर गँवार रहा होगा। 'बीज सणी दा न्यूँ बाजे ज्यूँ बाजे तेरी पैंजणिया' होना चाहिए था।

पर घर पहुँचते-पहुँचते वे घटनाएँ इस से भी छोटे एक सूत्र में सिमट आयीं—वह जीवन माँगता है।

कविता माँगना, सौन्दर्य माँगना बेवकूफी है।

जहाँ जीवन नहीं है, वहाँ कविता क्या और सौन्दर्य क्या? वे होंगे वैसे ही खोखले, जैसा यह बजता हुआ सनी का बीज।

—तब फिर कलकत्ता? लेकिन कलकत्ता जीवन कहाँ है, वह तो निरा सत्य ही सत्य है, कड़वाहट ही कड़वाहट है। 'वाक्य रसात्मक काव्यम्'—और कड़वा अधिक से अधिक छः रसों में से एक है, तब सत्य भी जीवन का अधिक से अधिक एक छठा हिस्सा है… बाकी पाँच? और कहा है, 'मधुरेण समापयेत्।' मधुर नहीं तो कुछ नहीं—वही रसों में रस है…

शिवसुन्दर को समझ आ गया कि उसने गुरुकुल की तरफ आ कर गलती की। वह सामान ले कर हर की पौड़ी पहुँचा, वहाँ मेले की भीड़ को चीरता हुआ भीतर घुसा और अन्त में ठीक-ठाक कर के उस ने एक कमरा ले लिया जिस से गंगा और उस के पार की पहाड़ियाँ भी दीखती थीं, और इस पार घाट की सीढ़ियाँ, उन पर आने-जानेवाली भक्त भक्तिनियों की भीड़ें और ऊपर का रास्ता भी दीखता था।

सामान एक ओर रख कर वह झरोखे पर बैठ गया और नीचे झाँकने लगा।

जीवन पाने का यही एक ढंग है। कलकत्ता में तो आदमी पिस जाता है—और वह भी किन में? गन्दे, मैले-कुचैले लोगों में, जिन से छू जाने पर दिन-भर अपने शरीर में बू आती है। यहाँ और बात है—सौन्दर्य भी है, योग भी है, गति भी है, और फिर भी यह अलग है इस भीड़-भड़क्के के अधीन नहीं, उस से ऊपर है, दर्शक है। दर्शक हो कर ही जीवन से काव्य-रस सीखा

जा सकता है—जो स्वय उस मे पड गया वह तो तिल हो गया जिसे पेर कर तेल खीचा जायेगा।

शिवसुन्दर की दृष्टि नीचे घाट की सीढियाँ चढती हुई दो स्त्रियो पर टिक गई। तभी न जाने क्यो उन्होने भी आपस मे बात करते-करते ही ऊपर देखा, शिवसुन्दर से आँख मिलने पर वे मुस्करा दी और आगे बढ गयी।

हाँ, ठीक तो है, जिस चीज की ओर यह इशारा है, वह प्रेम ही तो है। जीवन ही तो है, क्योंकि जीवन का मधुरतम रस है।

लेकिन मन शिवसुन्दर का चाहे जितना भागे, दृष्टि उसकी नीचे ही लगी हुई थी। दो और स्त्रियाँ उस के दृष्टि-पथ पर गुजर रही थी। शिवसुन्दर एकटक उन की ओर देख रहा था। एक ने तिरछी चितवन स उसे देखा। वह दृष्टि मानो क्रोध कर कुछ कह गई, पर दूसरी ने एक तीखी, सशक और कुछ कुछ भीत दृष्टि अपनी सगिनी पर और शिवसुन्दर पर डाली, और अधिक तीव्र गति से आगे चल पडी।

शिवसुन्दर थोडा सा मुस्करा दिया। फूल के साथ काँटे तो होने ही चाहिए, नही तो जीवन का मजा क्या। एक ओर आकर्षण, दूसरी ओर विघ्न, यही तो है जीवन!

न जाने क्यो, स्त्रियाँ जोडो मे ही जा रही थी, अकेली नही। एक और जोडा सामने से गुजरा। इन्होने भी न जाने क्यो झरोखे के पास आ कर ऊपर देखा। उन की दृष्टि मे सन्देह पहले से था, जब उन्होने शिवसुन्दर को एकटक देखते हुए पाया तब उसमे क्रोध भी आ मिला। अवज्ञा से सिर हिला कर वे आगे निकल गयी।

शिवसुन्दर ने सोचा, विरोध म एक आकर्षण होता है, एक ललकार होती है। वह आह्वान करता है कि आओ, मुझ से दो-दो हाथ खेल लो। आचार्य भी कह गये हैं कि बिना सघर्ष के, बिना कानफ्लिक्ट के कला का विकास नही होता। हो कैसे सकता है?

ज्यो-ज्यो दिन चढता आता था, स्नानार्थी अधिकाधिक सख्या मे आते-जाते थे। अब औरतें भी झुड बाँध-बाँधकर आ रही थीं, और झुड ही लौटने लगे थे।

एक टोली शिवसुन्दर के झरोखे के नीचे से निकली। उन कई-एक औरतो

मे से एक ने भी आँख उठा कर नही देखा, उन के लिए मानो शिवसुन्दर था ही नही।

शिवसुन्दर ने तडप कर कहा, "नही, नही, यह नही है जीवन! यह झूठ है, यह असत् है, अशिव है, असुन्दर है, यह हो ही नही सकता, यह जीवन नही है।"

लेकिन वह समूह निकल गया। उस के बाद और भी कई टोलियाँ स्त्रियो की आयी और निकल गयी, पर किसी ने नही देखा कि जीवन का भिक्षु शिवसुन्दर झरोखे मे खडा है, वह प्रवाह उस की आँखो के आगे से वैसे ही निकल गया जैसे नदी के बीच मे अथाह पानी बहता हुआ चला जाता है पर किनारे से सटे हुए और सडते हुए तृण को वही पडा रहने देता है, हिलाता भी नही ·· उसे लगा, वह समुद्र की लहरो द्वारा उच्छिष्ट रेत पर पडे एक घोंघे के भीतर सडते हुए जीव की तरह, कि वह इस प्रभाव के आगे जूठन की तरह अत्यन्त नगण्य, क्षुद्र हो गया है ··

और उस ने फिर तडप कर कहा, "नही यह झूठ है, यह नही है जीवन। मैं नही माँगता यह!"

लेकिन वह क्या माँगता है आखिर? वह जानता है कि यह नही है जो उस ने माँगा था, लेकिन क्या माँगा था उस ने, यह तो वह नही जानता है। वह इतना ही जानता है कि वह क्षुद्र हो गया है, अपनी आँखो मे गिर गया है, जब कि आशा थी उसे बडे हो जाने की, स्वामित्व की ·

वह झरोखे से हट गया और सोचने लगा, क्या मैं कलकत्ता लौट जाऊँ? लेकिन इस विचार से वह सहम गया। कलकत्ता मे तो कविता नही बनेगी, यहाँ शायद—इस अतृप्त और अपदस्थता म शायद ··

विधि हँसती है। विधि है या नही, कौन जाने, पर वह हँसती जरूर है। मुहावरे ने उसे हँसने का हक दिया है···

लेकिन शिवसुन्दर की माँगें? उस की तृप्ति? उस की वासनाएँ?

विज्ञान की कुछ पुस्तकें उस की समस्याओ का उत्तर देने की कोशिश करती हैं। लेकिन वे विदेशी हैं। विदेशी ज्ञान शिवसुन्दर क्यो चाहे? वह हिन्दी लेखक है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। वह राष्ट्रभाषा का लेखक है। क्या इतना ही इस लिए पर्याप्त नही है कि वह आँखें बन्द कर के गाया करे, गाया

करे अपनी माँग के गान, अपनी अनुभूति के गीत, नहीं, अनुभूति के अपने अनुभव का आलाप ! चाहे वह गाना उस सिखाए हुए मँगते की पुकार की तरह क्यो न हो जो एक दमडी की उपलब्धि के लिए पहले स्वर मे दीनता लाना है, फिर उस दीन स्वर को सुन कर स्वय मान लेता है कि वह आर्त है ! शिवसुन्दर भी तो आकाश के तारे तोडने का दम नही भरता, सामर्थ्य की डीग नही हाँकता, अभिमान के तिक्त और कर्म के कषाय रसो से उसे क्या, वह तो 'मधुरेणसमापन' चाहता है; वह तो माँगता है, सिर्फ माँगता है एक छदाम !

अब आपको मौका है कि आप गाली दे लें। मेरी कहानी खत्म हो गई है। लेकिन जो कुछ आपको कहना है, जल्दी कह डालिए, क्योकि मुझे अभी कुछ और निवेदन करना है। मैंने कहा था न, 'कहानी से अधिक कुछ' कहूँगा।

शायद आपको लगे कि मैंने कहानी भी नही कही, अधिक की क्या बात ! लेकिन अगर आप को यह लगा है तो आप अब तक दिल के गुबार निकाल चुके होगे। अन्त मे 'अधिक कुछ' मुझे यह कहना है कि अगर मेरी रचना मे आप को 'छोटे मुँह बडी बात' जान पडी हो, तो यह सोच कर क्षमा कर दीजिये कि आखिर मैं भी दुर्भाग्य का मारा एक हिन्दी-लेखक हूँ, उस हैसियत से मैं भी आकाश के तारे तोडने या सामर्थ्य की डीग मारनेवाला, अभिमान का तिक्त और कर्म का कषाय रस पीनेवाला, कौन होता हूँ, मैं भी तो 'मधुरेण समापयेत्' के लिए माँगता हूँ सिखाये हुए आर्त स्वर मे आपकी दया का एक छदाम !

परम्परा : एक कहानी

•

खेलावन गली के मोड की ओर बेतहाशा भागा जा रहा था। उस के भागने का कोई कारण नही था, बात यह थी कि पहली सन्तान के होने की खुशी से वह फूला नही समा रहा था और उसे जान पडता था कि वह गली मे घुटा जा रहा है। भाग कर बडी सडक पर निकलेगा, तभी बचेगा। मोड के आगे वाली बडी सडक पर, जो किसी दानव की शय्या की तरह उस बडे शहर के आर-पार बिछी हुई है, चिकनी तपी हुई चमाचम, खचाखच···

खुशी से जैसे उस की आँखें चढी हुई थी। वह बिना देखे-सुने सडक की ओर बढा जा रहा था

उस सडक के इस किनारे चलना है, या उस किनारे, अथवा सडक पार करनी है, इस का कोई ज्ञान उस नही था। मुख्य बात यह थी कि गली से सडक पर जाना है, और बेतहाशा जाना है, और चलना नही, दौडना है।

किन्तु मोड के कुछ आगे ही बीच सडक पर से गुजरती हुई एक लारी उस के ऊपर स निकल गई। वह दानव की शय्या की चादर मानो लाल रग के कलफ से ऐंठ गई।

सिपाही ने ड्राइवर को पकड लिया। ड्राइवर बहुत गिड-गिडाया, पर उस की एक न चली। चलती भी कैसे ? इतनी भीड तो वहाँ देख रही थी कि सिपाही क्या करता है। उस के पास और कोई चारा नही था सिवाय इस के कि उसे थानेदार के आगे पेश करे।

पर थानेदार को कोई देखता नही था। ड्राइवर ने साहस बटोर कर थानेदार से एक सीधी सी युक्तिपूर्वक बात कही, जो थानेदार को जँच गई। उस ने ड्राइवर से और मोटर के मालिक से ग्यारह सौ रुपये रिश्वत ले कर उसे छुट्टी दे दी, इस लिए कि

वह जा कर और लोगो को मारे और इस प्रकार थानेदारो को और आमदनी कराये। ड्राइवर छूट गया।

ग्यारह सौ रुपये बडी चीज होते हैं। थानेदार हिसाब लगाने बैठे तो उन्हे मालूम हुआ कि ग्यारह सौ मे वे अपनी पिछले महीने मे पी हुई शराब की कीमत देकर आगे के छ महीने के लिए भी बेहिसाब शराब पी सकते है। वे शराब की दूकान मे गये, पुराना हिसाब चुका कर उन्होने ठेकेदार से तय किया कि वे अब वही दुकान मे रहेगे और शराब पियेंगे—बचा हुआ साढे नौ सौ रुपया उन्होने उसी के पास जमा करा दिया।

और उन्होने अपनी बात भी सच्ची कर दिखाई। वे उसी दूकान म रहते रहे—तब तक, जब तक कि दो महीने के बाद वे वही आर्थ्राइटिस से बीमार हो कर मर नही गए। *साढे पाँच सौ की शराब तब तक वे और पी चुके थे।*

ठेकेदार को शराब के मुनाफे के अलावा चार सौ रुपये घाते मे मिले तो उसे याद आया उस की कई इच्छाएँ हैं जो हाथ की तगी के कारण उस ने अपने आगे नही आने दी। उस ने जो कुछ सुन रखा था, उस स उस ने अपने ठेकेदाराना दिमाग से हिसाब लगाया कि वह चार सौ रुपये म अधिक नही तो *कम से कम अस्सी भली वेश्याओ के यहाँ जा सकता है—या एक ही वेश्या* के यहाँ कम स कम सौ बार जा सकता है। क्योकि धन है तो सामर्थ्य है। और सामर्थ्य बेकार नही बैठ सकती, उसे कारगर होना ही होगा।

किस वेश्या पर यह पूँजी लगाई जाय यह निश्चय करते कुछ समय लगा। जब आखिर निश्चय हुआ तब वह अपने रुपये के अतिरिक्त एक और चीज भी अपनी चहेती को दे आया।

अभी ठेकेदार क रुपये चुक नही थे कि वेश्या उस से पाये हुए रोग से बीमार हो कर मर गई। ठेकेदार के बचे हुए रुपये वेश्या की लडकी माया ने मा की दवादारू के लिए माँगे थे। जब मा मर गई और ठेकेदार अपने रुपये नकद या सवा द्वारा माँगने लगा, तब लडकी के मन की दुविधा मिट गयी और वह रुपया उपया लेकर एक गुण्डे के साथ भाग गयी।

गुण्डे के लिए माया 'पहली प्राप्ति' नही थी, आखिरी भी वह नही हुई। ऊब कर वह एक दिन उसे अकेली छोड गया। जब माया को अपनी दशा पर समझ आ गयी, तब वह समाज के कबाडखाने—एक अनाथाश्रम—मे

दाखिल हो गई। क्वाड में उठने की कोशिश उस के लिए व्यर्थ है—यह सोचकर कुछ शान्ति से दिन बिताने की उम्मीद में उस ने अपना भाग्य चुपचाप स्वीकार कर लिया।

गुण्डे के मन से उतरकर भी माया के पास अभी पर्याप्त रूप है, यह बात उसे समझाने की अनावश्यक ही मैनेजर ने पूरी कोशिश की। इस का सबूत देने के लिए उस ने उस रूप की कीमत भी लगाई, पर जब माया के निरीह उपेक्षाभाव पर कोई असर नहीं हुआ, और इस बीच एक ऐसा व्यक्ति भी आ गया, जो माया के रूप की ओर अधिक मन लगा रहा था, तब मैनेजर ने माया को एक नये बने हुए सेठ के पास बेच दिया।

सेठ साहब को अपने बहुत जल्दी कमाये हुए अर्थ और बहुत दर से चेते हुए काम के लिए एक साझीदार की जरूरत थी। जब माया की मारफत दोनों उद्देश्य पूरे होने लगे, तब उनको सब चिन्ता भूल गई और वे दिलेर हो कर सट्टा करने लगे। एक दिन उन का दीवाला निकल गया।

जब उन्होंने देखा कि अर्थ समाप्त हो जाने से माया—जिस का घना उपेक्षाभाव अभी मिटा नहीं था—अब काम की उपेक्षा करती है, तब एक दिन उन्होंने मार-पीट कर उसे निकाल दिया। लेकिन इस से कोई भी समस्या हल नहीं होती थी, इस लिए फेर लाये। फिर एक दिन निकाल दिया और फिर लौटा लाये। फिर आखिर एक दिन जब माया बीमार हुई, तब उन्होंने समझ लिया कि जब उद्देश्य ही पूरे न हो सके तब अर्थ का ही खयाल कर लेना चाहिए; क्योंकि अर्थ हो तो काम भी पूरा हो सकता है, और माया-जैसी 'रंडी की बेटियां' गुलाम बनाई जा सकती हैं। नतीजा यह हुआ कि बीमारी की हालत में माया फिर एक बार बिक गई।

उसे एक मारवाड़ी सेठ की कोठी के दरबान ने खरीद लिया था, जिस के सगे कोई नहीं थे और जिसकी भंग पीने की आदत के कारण उस की शादी नहीं होती थी।

दरबान ने माया को अच्छी तरह रखा। अपने घर में वेश्या की लड़की और दूसरे घरों में वेश्या की तरह रहकर माया ने इस घर में कुछ नया वातावरण पाया और दरबान की ममता के आगे वह पिघल गई। यहाँ तक कि जब झाक में आ कर दरबान उसे प्यार की बातें कहता, तब यह जान कर भी

निकल कर फाटक तक आया, कई साँकलों और कुंडों की खडखड झनझन के साथ फाटक खुला, तब सुपरिण्टेण्डेण्ट को पहुँचाने आये हुए छोटे अफसरों के साथ वह भी आगे बढता आया। उस समय कोई विशेष आह्लाद उस के मन मे नहीं था, केवल वह कुछ कुछ चेतता हुआ अभिमान—बढ कर साहब के बराबर को हो लिया, किसी ने उसे रोका नही (क्या इस लिए नही कि वह बच्चा है ? नहीं, उस के नये अभिमान ने कहा, नही इस लिए कि वह पुरुष है !), वह और आगे बढ़ा—

चौदह सीढियाँ और फिर रास्ता और उस के ऊपर आकाश—आकाश को चीरता हुआ एक आरक्त कठ तोता—आह, यहाँ नही हैं सीखचे, नही हैं फाटक—है एक आकुल निमन्त्रण—

स्वातन्त्र्य—पुरुष का भाग्य ··

उस का पैर फिसल गया। जैसे अनन्त का फाटक खुला और बन्द हो गया। दृश्य को घेरनेवाली आँखें फिर अपनी ज्योति म घिर गईं।

5

चक्कर काटती हुई प्रतिमा क्षण भर रुक गई, न जाने क्यो। फिर वह घेरा छोड कर पहले की तरह चलने लगी क्या आगे और पीछे ही जीवन-क्रम है ? वह विद्रोह करना चाहती है। पुरुष को पाना और पुरुष को खोना, आगे और पीछे, पीछे और आगे—काले सीखचो म अधी दीवार तक, अधी दीवार से काले सीखचा तक, जिस के आगे दूसरी दीवार के सीखचे, जिस के आगे—

क्या है, क्या है, मेरे पुत्र का भवितव्य, मेरे वरे हुए नही, जने हुए पुरुष का भाग्य !

क्रमश वह जान जायगी।

× × ×

कालो के मन्दिर के पास की पटरी पर वह औरत लडखडा कर फिर सँभल गई है और आगे चल पडी है। कोई फाटक खुला नही है, आगे सीखचे हैं।

वंदो का खुदा, खुदा के वंदे

•

घूल, घूल, घूल । प्रात काल के नाम पर मेहतर के सीढियाँ उतरने की खटपट, पलश के पानी के बह जाने के बाद का घूम··· एक-आध बच्चे का रोना, दो-एक बूढे गलो का खँखारना और उबासियाँ लेना, और इन सब को एक सूत्र म गूँथनेवाली दर्जन-एक झाड़ुओ की रगड की आवाज़ और सायकाल के नाम पर ··

आनन्द ने आँखें मूँद ली और जैसे किसी विभीषिका की कल्पना से काँप-सा गया। उफ, सम्य मानव ने क्या बना दिया है उस चिर रहस्यमय विभूति को, जिसे हम जीवन कहते आये हैं। नगरो की सुरक्षितता और कथित व्यवस्था म बँद हो कर उसने उस ईश्वर-प्रदत्त जोखम और अव्यवस्था से बचना चाहा है, जो कि वास्तव मे जीवन की परिवर्तनशील और निरन्तर आगे ही आगे बढती रहनेवाली प्रवहमान विविधता है सम्यताएँ आयी हैं, ईश्वर के नाम पर उन्होंने नगर बसाये हैं, मनुष्यो के भारी भारी सघट्ट जुटाये हैं, और अन्त मे इतनी भीड कर दी है कि वह बिचारा ईश्वर ही बहिष्कृत हो गया है।

आनन्द ने क्षण-भर ठिठक कर आयासपूर्वक इस विचार-शृखला को भी झटक कर तोड दिया, और जैसे सौन्दर्य को पा ही लेने के निश्चय से चारो ओर देखा।

चकरौते के ऊपर की यह सडक घूमती और बल खाती, चीड और देवदार और जगली गुलाब की बडी-बडी झाडियो की आड लेती हुई बहुत दूर चली गयी थी और एक मोड के पास घनी छाया मे अदृश्य हो गयी थी। आनन्द कल ही चकरौते पहुँचा था, पहुँचने के बाद ही उसने गाइड-पुस्तको मे उलट-पलट कर पता लगाया था कि इसी सडक पर डेढ-दो मील जा कर एक ऐसा स्थल आता है जहाँ से सुदूर बदरीधाम की हिमाच्छादित पर्वतशृग-मालाएँ दीखती हैं। सान्ध्य सूर्य के लाल

आलोक मे यह दृश्य एक नई भव्यता प्राप्त कर लेगा, यह सोच कर आनन्द तीसरे पहर की लम्बी छायाओं को पैरों-तले रौंदता हुआ उपर बढ़ा जा रहा था। चढ़ाई बहुत नही थी—उस से दम नही फूलता था और जितना आगे झुकना पडता था, उतना तो विचार की मुद्रा म आदमी अपने-आप ही झुक जाता है। अतएव आनन्द के विचार प्रवाह मे बाहरी कोई बाधा नही थी। किन्तु इस का यह मतलब तो नही है न कि आदमी जो कुछ भी जी म आये अनाप-शनाप सोचता ही जाय ? न वह शहर के तग घरो और तग दिलो के जीवन के बारे मे झूठ मूठ का दर्शन बघारना चाहता था। उस से परिणाम कुछ नही होता, केवल मूड बिगडता है। और आनन्द सिद्धान्तत. जानता था कि सौंदर्य-लाभ के लिए ग्रहणशीलता, एक खुलापन आवश्यक है •

अपने विचारो को उस ने यत्नपूर्वक ऐसी दिशा मे मोडना शुरू किया जो कि उस की समझ म सौन्दर्य-बोध के अनुकूल होती। उस ने अपने को याद दिलाया कि वह शहर को पीछे छोड आया है, जहाँ कि मकान-मालिक समूचा घर किराये पर दे कर खुद गैराज म रहते हैं ताकि पैसा बचे, जहाँ मकान-मालकिन नित्य किरायेदारो से लडती है कि पम्प का हैंडल इतने जोर से न *चलाया जाय क्योंकि उस की ढिबरियाँ घिस जायेंगी, जहाँ कि म किराये*-दारो के बच्चे और रात म स्वय किरायेदार अपने पडोसियो की दहरियो पर बैठ कर पेशाब करते हैं, और जहाँ • लेकिन अब उस शहर की खबियाँ क्यो *गिनायी जायें* ! शहर *तो पीछे रह गया था— अब तो* चकरौता है और हिमालय का वह अनिन्द्य अनवद्य सौन्दर्य, जिस का आश्वासन गाइड-पुस्तको ने दिलाया है

पक्की सडक का पाट पहले से कुछ तग हो गया था। सौन्दर्य का पथ राज-पथ नही है—जितना ही सँकरा होगा उतना ही अधिक भवितव्य की आशा से भरा हुआ। चौडी सडक—'बिछी सडक, चौडी चौरगी, खडी सेठ-सी तेरह *मजिल की बेशर्म इमारत • गद्दे गुल गुल बैठे होगे राजा थुल थुल* 'अथवा कि बहुत लडने के बाद खुत्थे हुए और नुचे पखो को फुलाकर फिर एक-दूसरे को ललकारनेवाले मुर्गों की तरह आमने सामने अधफटे और नये विज्ञापन *उघाडते सिनेमाघर, और दर्शको की भीडें—एक तरफ शानदार चौथे सप्ताह* मे 'मेरे साजन' तो दूसरी तरफ गलपोलिया का अमर शाहकार 'मर्दमार

औरत'—चौडी सडको से खुदा बचाये ! आनन्द को याद आया कि चकरौते तक म सडक के उस एकमात्र हिस्से पर, जिसे वास्तव मे चौडा कहा जा सकता है, यानी चकरौता और कैलाना की सडको के मन्धिस्थल पर, उस ने जो कुछ देखा वह सब अप्रीतिकर ही था। एक तरफ वहाँ का एकमात्र आमोद-गृह, जिस पर बडे-बडे अक्षरो मे लिखा था 'केवल सैनिको के लिए,' और उस के नीचे इतराते हुए सैनिक अपनी-अपनी बाँह पर एक एक मेम को सहारे हुए 'केवल सैनिको के लिए', यो कि ये मेम तो व्यक्ति नही है ये तो कैवल सैनिको की साज सामग्री का एक अनिवार्य अश है और दूसरी तरफ एक छोटा-सा चाय-घर, जो गुलाबी रग की लेस के पर्दो मे ऐसे सजाया गया था मानो किसी अच्छे यूरोपीय बँगले का बाथरूम, और जो बाहर के बोर्ड से सूचित कर रहा था, 'केवल यूरोपियनो के लिए'। अजीव प्राणी है मानव। कौए तक को जब रोटी का टुकडा पडा हुआ दीखता है तो वह उसे उठाने से पहले काँव-काँव कर के अपनी बिरादरी को जुटा लेता है। और एक मानव है कि अच्छी चीज़ देख कर सब से पहले यह सोचता है कि कि मैं किस किस को किससे वचित रख सकता हूँ या बहिष्कृत कर सकता हूँ

फिर दार्शनिकता ? आनन्द, याद करो कि तुम चकरौते म ही, जहाँ की हवा भारत-भर की सबस अधिक स्वास्थ्यकर हवा है, जहाँ के रास्ते भारत-भर के सर्वोत्तम सैर के रास्ते हैं ··ये उद्धरण गाइड-बुक मे हैं तो क्या ? उस सडक के सौन्दर्य ने तुम्हें अभी ही अभिभूत नही कर लिया तो क्या ? तुम बढ तो रहे हो उधर को, चढ तो रहे हो ऊपर, ऊपर ऊपर, उस छत की तरफ जहाँ से हिमालय का हृदय दीखता है।

सामने आहट सुन कर आनन्द ने आँख उठा कर देखा। दो गोरे उसी ओर को चले जा रहे थे। उस ने अनुभव किया कि अनजाने ही उस की गति काफी तेज हो गई थी। अब उस ने गति कुछ और बढा दी ताकि इन सैनिको स आगे निकल जाय। गोरो से उसे घृणा है। इन कमबख्तो ने भारत के तमाम सुन्दर स्थलो को कुरूप कर रखा है जिस पहाडी स्थल पर जाओ, इन ललमुँहो की छावनियाँ उसे भद्दा कर रही है। अच्छा बहाना है कि ठड इन के स्वास्थ्य के लिए ज़रूरी है। सहारा के रेगिस्तान म कहाँ की ठड है ? वहाँ क्या ये मर जाते हैं ? बियर चढा कर सण्डे-से पडे रहते हैं। और हमने क्या ठेका लिया

होगा, जहाँ रेंगते गिरगिट भी सौंदर्य के रहस्यमय आवरण में चमक उठते होंगे…

मुक्ति के द्वार पर, जहाँ मानव ईश्वर को प्रतिबिम्बित करता है, जहाँ ईश्वर मानव की शक्ति का प्रक्षेपण हो जाता है, जहाँ ईश्वर और मानव का साक्षात्कार होता है, जीवन के अन्तिम चरम एकान्त में—निभृत, अवाक् रहस्यमय साक्षात् संगम—किसी चीनी दार्शनिक ने कहा है, "जब मैं आनन्दित होता हूँ तब मैं मौन होता हूँ—" मौन ही आनन्द की चरमावस्था है, मौन ही परम सत्य है। मौन ही परम चिन्मयता है।

आनन्द ने वह खुली जगह भी पार कर ली थी—सामने हरे रंग से रँगी होने के कारण नीचे की घास से एकप्राण छत्री थी, जिस के अन्दर प्रविष्ट होने पर सामने की ओर खुल जायेगा सौन्दर्य का अन्तिम रहस्य—फट जायेगा उस का झीना आवरण—

तब आनंद की उद्दीप्त चेतना की अवस्था में तीव्र गति से घटनाएं घटने लगीं।

छत्री के पिछवाड़े के किवाड़ पर खड़िया से बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ था, "यहाँ बैठनेवाले की माँ की—"

आनन्द किवाड़ खोल चुका था, लेकिन उस का हाथ अवश हो चला—भग्नकती-सी, अनिश्चय भरी आँखें छत्री के अन्दर पड़ी हुई बेंच की पीठ की पट्टी पर टिक गईं—बेंच का रुख परली तरफ को था, सौन्दर्य के रहस्यागार की तरफ को—

आनन्द की अनिश्चित दृष्टि के आगे बेंच की पट्टी पर की अधपढ़े हाथ की लिखावट—आनन्द के हत-निश्चय मन में एक प्रश्न, कि क्यों मैंने यात्रा के अन्त में उस बात की अपेक्षा नहीं की जो यात्रा के साधन रेलगाड़ी के प्रत्येक डिब्बे में मैंने देखी थी, क्यों मुक्ति की कल्पना की उस में जो कि मैं अपने साथ ले कर आया हूँ—

'इस बेंच पर बैठनेवाले की—"

शेष बुझ गया था या मन्द पड़ गया था—या लड़खड़ा कर गिरने के से हृत्कंप से दर्शक की आँखें ही मन्द पड़ गई थीं।

'जब मैं आनन्दित होता हूँ तब मैं मौन होता हूँ—हाँ, मैं अवाक् होता हूँ, अवाक्—निभृत, अवाक्, रहस्यमय साक्षात्कार—मानव का प्रतिबिम्ब ईश्वर, ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानव—बन्दों का ख़ुदा, ख़ुदा के बन्दे—

लेटर-बक्स

•

शरणार्थी कैंप मे मेरा अपना कोई नही था, पर जिन-जिन अपनों का पता लेना चाहता था, प्राय. सभी का कोई-न-कोई साथी वहाँ मिल गया और सब की खबर मुझे मिल गयी थी। कितनी बडी से बडी दुर्घटना को मनुष्य 'न-कुछ' करके निकाल देता है यदि वह कह सके कि 'मेरे अपनों की कोई क्षति नही हुई !' मैंने कैंप से बाहर निकल कर कई एक चिट्ठियाँ लिखी—कुछ जिन के पते मिल गए थे उन को, कुछ अपने और परिचितों को जो उन के बारे म जानने को उत्सुक होंगे—सब पर पते लिखे और जेबी डायरी मे से टिकट निकाल कर लगाये, और डाक मे छोडने चला। छुट्टी का दिन था, पर मुझे डाकघर से कुछ लेना नही था, कैंप जाते हुए मैंने देख लिया था कि रास्ते मे वहाँ डाकघर पडता है ताकि डाक जल्दी से निकल जाय। छोटी जगहों म लेटर-बक्स से डाक निकलने मे एक दिन की देरी तो होती है, अधिक न हो—छोटी जगहो मे कोई त्वरा का बोध ही नही होता, बडी जगह मे ही यह घुन होती है कि सब-कुछ जल्दी हो, तेजी के साथ हो, क्योकि हर किसी को काम है, और हर काम जरूरी है, और हर जरूरत तात्कालिक।

डाकघर पहुँच कर देखा, बक्स के मुँह पर टीन का ढक्कन लगा रहता है, वह टेढा हो कर मुँह मे ऐसा फँसा है कि चिट्ठी भीतर डालना मुश्किल है, चिट्ठी फँस कर रुक जाती है। कोशिश कर के देखा, एक-एक चिट्ठी को मोड कर भीतर घुसा कर और हाथ डाल कर अन्दर कुछ दूर तक ठेल देने से फिर वह भीतर जा गिरती है—भीतर फर्श पर गिरने की आवाज 'खिश्' सुनाई देती थी। मैं चिट्ठियो को एक-एक कर के डालने लगा।

देखा, मुझ से कुछ दूर पर एक छोटा सा लडका मेरी ओर देख रहा है। मन उस पर केन्द्रित नही हुआ, यो ही मैंने उस की

ओर मुस्करा दिया । वच्चो के लिए लेटर-बक्स ताजमहल और पिरामिडो से कम पात्रता नही रखता । ससार के सात अचरजो मे स्थान पाने की, यह मुझे अपने बचपन से याद था ! भीतर चिट्ठी छोड दें और जहाँ चाहो पहुँच जाय, और लेटरबक्स ज्यो का त्यो—क्या यह जादू से कुछ कम है ? और लेटर-बक्सो मे यह अनोखा है जिस के मुँह मे चिट्ठी डालने के लिए मुँह ढूँढना पडता है और फिर चिट्ठी भीतर तक ठेलनी पडती है—लेटर-बक्सो मे क्वध है यह ! लडका मेरे चिट्ठी डालने के व्यायामो को देख रहा होगा । अस्पष्ट ढग से यही सब सोचते हुए मैं उस की ओर मुस्करा दिया ।

अतिम चिट्ठी छोडता हुआ मैं फिर चेहरे पर मुस्कान फैला कर उस की ओर मुडा । वह अब की मेरी ओर देख रहा था, पर अब की बार मैंने लक्ष्य किया, उस के चेहरे पर कौतूहल नही, धैर्य का भाव है—अपार धैर्य का और प्रतीक्षा का—

मैंने लेटर-बक्स से हाथ निकाला और जाने को हुआ कि लडके ने जैसे साहस बटोर कर पूछा, "जी, इस मे कहाँ की चिट्ठी जाती है ?"

मैंने कहा, "सब जगह की । तुझे कहाँ भेजनी है चिट्ठी ?"

"बाबूजी को ।"

"हाँ, मगर कहाँ—कोई जगह भी तो हो ?" कहते हुए मैंने देखा उस के हाथ मे एक कुचला-मुचला पोस्टकार्ड भी है। मैंने उस के लिए हाथ बढा कर कहा, "देखूँ—"

उस ने कुछ अनाश्वस्त भाव से पोस्टकार्ड मेरी ओर बढाया । मैंने उसे हथेली पर बिलकुल सीधा किया, देखा कि पोस्टकार्ड पर तो मोटे-मोटे अक्षरो मे कुछ लिखा है पर पते की जगह खाली है । मैंने हँस कर कहा, "पता भी तो लिखना होगा, पगले ! क्या पता है ?"

'सो तो बाबूजी बतायेंगे—मुझे क्या मालूम—" आवाज़ रुआँसी हो गयी और मैंने देखा, होठो की कोर काँप रही है । मैंने तनिक नरम हो कर पूछा, "तुम्हारा घर कहाँ है ?"

"शेखूपुरे—"

अब स्थिति बिजली की कौंध की तरह मेरी समझ मे आ गई । मैंने उसे ध्यान से देखा । उम्र कोई पाँच वर्ष; उजला गोरा रग, यद्यपि इस समय मैल

की धारियों ने उसे छिपा लिया है; तन पर एक फटी कमीज और एक और भी फटा कोट, कमर के नीचे नगा, टांगों पर जहां-तहां चोटों के सूखे खुरट और पैर सूजे हुए। सिर नगा, बाल रूखे और कुछ भूरे-से, आंखों में एक गहराई जो निरी बचपन की गहराई नहीं, एक छिपाव, एक काठिन्य और दूरी लिये हुए है। मैंने और भी नरम स्वर में पूछा "शेखूपुरे में कहां ?"

"बीरांवाली।"

"बाबूजी तेरे वहीं हैं ?"

"नहीं, वहां से तो चले थे—"

"तू यहां किस के साथ आया ?"

"एक आदमी के साथ।"

"कौन आदमी ? नाम नहीं पता ?"

"नहीं। रास्ते में था।"

मैं डाकघर के बरामदे की रेलिंग के सहारे बैठ गया और उस से पूरी बात पूछने लगा। लड़के का नाम था रोशन, घर से वह माँ और चाचा के साथ चला था लाहौर जाने के लिए। पिता भी गाँव से शेखूपुरे तक साथ आये थे वहाँ से अलग हो गये थे, एक दूसरे गाँव में जाने के लिए जहाँ से रोशन की बुआ और फूफा को लाना था। दोनों बूढ़े थे और बाल-बच्चा उनका कोई नहीं था—दो बेटे जंग में मारे गये थे जापान की तरफ। लाहौर में आ मिलने को कह गये थे। लाहौर की तरफ जाते जाते और भी कई लोग उन के साथ हो गये थे, लेकिन रास्ते में कुछ लोगों ने बंदूकों से बहुत-सी गोलियाँ चलाईं और कुछ साथ के मारे गये—चाचा भी मर गये। पर साथियों ने रुकने नहीं दिया, बहुत जल्दी-जल्दी बढ़ते गये। लाहौर में बाबूजी के मिलने की बात थी, पर लाहौर वे लोग गये ही नहीं। रास्ते में और बहुत-से लोग मिले थे, उन्होंने कहा कि लाहौर जाना ठीक नहीं इसलिए रास्ते में से मुड़ गये। दूसरे दिन फिर दो-चार लोग गोलियों से मर गये, फिर एक जगह बहुत से लोगों ने लाठी और कुल्हाड़ी ले कर वार किया। जम कर लड़ाई हुई, पर हमला करनेवाले बहुत थे, इधर के आदमी बहुत से मारे गये या गिर गये। वे लोग औरतों को पकड़कर ले जाने लगे। माँ को भी उन्होंने पकड़ लिया। माँ चिल्लाईं, पर जिस ने पकड़ा था उस ने ज़ोर से उन का मुँह अपने कंधे के साथ दाब दिया, तब माँ ने कंधे

शरणदाता

•

"यह कभी हो ही नहीं सकता, देविन्दरलालजी !"

रफ़ीकुद्दीन वकील की वाणी में आग्रह था, चेहरे पर आग्रह के साथ चिन्ता और कुछ व्यथा का भाव। उन्होंने फिर दुहराया, "यह कभी नहीं हो सकता देविन्दरलालजी !"

देविन्दरलालजी ने उन के इस आग्रह को जैसे कबूलते हुए, पर अपनी लाचारी जताते हुए कहा, "सब लोग चले गये। आप से मुझे कोई डर नहीं, बल्कि आप का तो सहारा है, लेकिन आप जानते हैं, जब एक बार लोगों को डर जकड़ लेता है, और भगदड़ पड़ जाती है, तब फ़िज़ा ही कुछ और हो जाती है, हर कोई हर किसी को शुबहे की नज़र से देखता है, और खाहमखाह दुश्मन हो जाता है। आप तो मुहल्ले के सरवरा हैं, पर बाहर से आने-जाने वालों का क्या ठिकाना है ? आप तो देख ही रहे है, कैसी-कैसी वरदातें हो रही हैं—"

रफ़ीकुद्दीन ने बात काटते हुए कहा, "नहीं साहब, हमारी नाक कट जायेगी ! कोई बात है भला कि आप घर-बार छोड़ कर अपने ही शहर में पनाहगज़ी हो जायें ? हम तो आप को जाने न देंगे—बल्कि ज़बरदस्ती रोक लेंगे। मैं तो इसे मेजारिटी का फ़र्ज़ मानता हूँ कि वह माइनारिटी की हिफ़ाज़त करे और उन्हें घर छोड़-छाड़ कर भागने न दे। हम पड़ोसी की हिफ़ाज़त न कर सके तो मुल्क की हिफ़ाज़त क्या खाक करेंगे ! और मुझे पूरा यकीन है कि बाहर की तो खैर बात ही क्या, पंजाब में ही कई हिन्दू भी, जहाँ उन की बहुतायत है, ऐसा ही सोच और कर रहे होंगे। आप न जाइये, न जाइये। आप की हिफ़ाज़त की ज़िम्मेदारी मेरे सिर, बस !"

देविन्दरलाल के पड़ोस के हिन्दू परिवार धीरे-धीरे एक-एक कर के खिसक गये थे। होता यह कि दोपहर-शाम जब कभी

साक्षात् होता, देविन्दरलाल पूछते, "कहो लालाजी (या बाऊजी या पडज्जी), क्या सलाह बणायी है आपने ?" और वे उत्तर देते, "जी, सलाह क्या वणाणी है, यही रह रहे हैं, देखी जायेगी · " पर शाम को या अगले दिन सवेरे देविन्दर-लाल देखते कि वे चुपचाप जरूरी सामान ले कर कहीं खिसक गये है, कोई लाहौर से बाहर, कोई लाहौर मे ही हिन्दुओ के मुहल्ले म। और अन्त म यह परिस्थिति आ गयी थी कि अब उनके दाहिनी ओर चार मकान खाली छोड-कर एक मुसलमान गूजर का अहाता पडता था जिस म एक ओर गूजर की भैसें और दूसरी ओर कई छोटे-मोटे मुसलमान कारीगर रहते थे, बायी ओर भी देविन्दर और रफीकुद्दीन के मकानो के बीच के मकान खाली थे और रफीकुद्दीन के मकान के बाद मोजग का अड्डा पडता था, जिस के बाद तो विशुद्ध मुसलमान बस्ती थी। देविन्दरलाल और रफीकुद्दीन मे पुरानी दोस्ती थी, और एक एक आदमी के जाने पर उन मे चर्चा होती थी। अन्त मे जब एक दिन देविन्दरलाल ने जताया कि वे भी चले जाने की बात पर विचार कर रहे हैं तब रफीकुद्दीन को धक्का लगा और उन्होने व्यथित स्वर मे कहा, 'देविन्दरलालजी, आप भी !"

रफीकुद्दीन का आश्वासन पाकर देविन्दरलाल रह गये। तब यह तय हुआ कि अगर खुदा न करे, कोई खतरे की बात हुई ही, तो रफीकुद्दीन उन्हें पहले ही खबर कर देंगे और हिफाजत का इन्तजाम भी कर देंगे—चाहे जैसे हो। देविन्दरलाल की स्त्री तो कुछ दिन पहले ही जालन्धर मायके गयी हुई थी, उसे लिख दिया गया कि अभी न आय, वहीं रहे। रह गये देविन्दर और उन का पहाडिया नौकर सन्तू।

किन्तु यह व्यवस्था बहुत दिन नहीं चली। चौथे ही दिन सवेरे उठ कर उन्होने देखा, सन्तू भाग गया है। अपने हाथों चाय बना कर उन्होने पी, धोने को बर्तन उठा रहे थे कि रफीकुद्दीन ने आ कर खबर दी, सारे शहर म मारकाट हो रही है और थोडी देर म मोजग मे भी हत्यारो के गिरोह बध-बध कर निकलेंगे। यहाँ जाने का समय नहीं है, देविन्दरलाल अपना जरूरी और कीमती सामान ले लें और उन के साथ उन के घर चले चलें। यह बला टल जाय तो फिर लौट आवेंगे—

पड़ा। लेकिन आखिर तक उन्होंने निबाहा, इस की दाद देनी चाहिए। उन्हें पहुँचा आए—"

देविन्दरलाल ने हामी भरी। लेकिन सहसा पहला वाक्य उन के स्मृति-पटल पर उभर आया—'आखिर तो लाचारी होनी है—अकेले इन्सान को झुकना ही पड़ता है।'

उन्होंने एक तीखी नजर से रफ़ीकुद्दीन की ओर देखा, पर वे कुछ बोले नहीं।

अपराह्न में छ-सात आदमी रफ़ीकुद्दीन से मिलने आये। रफ़ीकुद्दीन ने उन्हें अपनी बैठक में ले जा कर दरवाज़े बन्द कर लिये। डेढ़-दो घंटे तक बातें हुई। सारी बात प्रायः धीरे-धीरे ही हुई, बीच-बीच में कोई स्वर ऊँचा उठ जाता और एक-आध शब्द देविन्दरलाल के कान में पड़ जाता—'बेवकूफ़ी', 'गद्दारी', 'इस्लाम'—वाक्यों को पूरा करने की कोशिश उन्होंने आयासपूर्वक नहीं की। दो घंटे बाद जब उन को विदा करके रफ़ीकुद्दीन बैठक से निकल कर आये, तब भी उन से लपककर पूछने की स्वाभाविक प्रेरणा को उन्होंने दबाया। पर जब रफ़ीकुद्दीन उन की ओर न देख कर खिंचा हुआ चेहरा झुकाये उन की बगल से निकल कर बिना एक शब्द कहे भीतर जाने लगे तब उन से न रहा गया और उन्होंने आग्रह के स्वर में पूछा, "क्या बात है, रफ़ीक साहब, ख़ैर तो है?"

रफ़ीकुद्दीन ने मुँह उठा कर एक बार उन की ओर देखा, बोले नहीं। फिर आँख झुका ली।

अब देविन्दरलाल ने कहा, "मैं समझता हूँ कि मेरी वजह से आप को ज़लील होना पड़ रहा है। और खतरा उठाना पड़ रहा है सो अलग। लेकिन आप मुझे जाने दीजिये। मेरे लिए आप जोखिम में न पड़ें। आप ने जो कुछ किया है उस के लिए मैं बहुत शुक्रगुज़ार हूँ। आप का एहसान—"

रफ़ीकुद्दीन ने दोनों हाथ देविन्दरलाल के कंधों पर रख दिये। कहा, "देविन्दरलालजी!" उन की साँस तेज़ चलने लगी। फिर वह सहसा भीतर चले गये।

लेकिन खाने के वक्त देविन्दरलाल ने फिर सवाल उठाया। बोले, "आप

खुशी से न जाने देंगे तो मैं चुपचाप खिसक जाऊँगा। आप सच-सच बतलाइए, आप से उन्होंने कहा क्या ?"

"धमकियाँ देते रहे और क्या ?"

"फिर भी, क्या धमकी आखिर..."

"धमकी को भी 'क्या' होती है क्या ? उन्हें शिकार चाहिए—हल्ला कर के न मिलेगा तो आग लगा कर लेंगे।"

'ऐसा ! तभी तो मैं कहता हूँ, मैं चला। मैं इस वक्त अकेला आदमी हूँ, कहीं निकल ही जाऊँगा। आप घर-बार वाले आदमी—ये लोग तो सब तबाह कर डालने पर तुले हैं।"

"गुंडे हैं बिलकुल।"

"मैं आज ही चला जाऊँगा..."

"यह कैसे हो सकता है ? आखिर, आप को चले जाने से हमी ने रोका था, हमारी भी तो कुछ जिम्मेदारी है..."

"आप ने भला चाह कर ही रोका था—उस के आगे कोई जिम्मेदारी नहीं है..."

"आप जावेंगे कहाँ..."

"देखा जायेगा..."

"नहीं, यह नामुमकिन बात है।"

किन्तु बहस के बाद तय हुआ यही कि देविन्दरलाल वहाँ से टल जायेंगे। रफीकुद्दीन और वहीं पड़ोस में उन के एक और मुसलमान दोस्त के यहाँ छिप कर रहने का प्रबन्ध कर देंगे—वहाँ तकलीफ तो होगी पर खतरा नहीं होगा, क्योंकि देविन्दरलाल घर में ही रहेंगे। वहाँ पर रह कर जान की हिफाजत तो रहेगी, तब तक कुछ और उपाय सोचा जायेगा निकलने का...

देविन्दरलाल शेख अताउल्लाह के अहाते के अन्दर पिछली तरफ पेड़ों के झुरमुट की आड़ में बनी हुई एक गैराज में पहुच गए। ठीक गैराज में तो नहीं, गैराज की बगल में एक कोठरी थी जिस के सामने दीवारों से घिरा हुआ एक छोटा-सा आँगन था। पहले शायद यह ड्राइवर के रहने के काम आती हो। कोठरी में ठीक सामने और गैराज की तरफ़ के किवाड़ों को छोड़कर खिड़की

वगैरह नहीं थी। एक तरफ एक खाट पडी थी, आले मे एक लोटा। फर्श कच्चा, मगर लिपा हुआ। गैराज के बाहर लोहे की चादर का मजबूत फाटक था, जिस मे ताला पडा था। फाटक के अन्दर ही कच्चे फर्श म एक गढा-सा खुदा हुआ था जिस की एक ओर चूना-मिली मिट्टी का ढेर और एक मिट्टी का लोटा देख कर गढे का उपयोग समझते देर न लगी।

देविन्दरलाल का ट्रक और बिस्तर जब कोठरी के कोने मे रख दिया गया और बाहर आँगन का फाटक बन्द कर के उस मे भी ताला लगा दिया गया, तब थोडी देर वे हतबुद्धि खडे रहे। यह है आजादी! पहले विदेशी सरकार लोगो को कैद करती थी, वे आजादी के लिए लडना चाहते थे, अब अपने ही भाई अपनो को तनहाई कैद दे रहे हैं क्योकि वे आजादी के लिए ही लडाई रोकना चाहते है! फिर मानव प्राणी का स्वाभाविक वस्तुवाद जागा, और उन्होंने गैराज-कोठरी-आँगन का निरीक्षण इस दृष्टि से आरम्भ किया कि क्या-क्या सुविधाएँ वे अपने लिए कर सकते हैं।

गैराज—ठीक है, थोडी-सी दुर्गंध होगी, ज्यादा नही, बीच का किवाड बन्द रखने से कोठरी मे नही आयेगी। नहाने का कोई सवाल ही नही—पानी शायद मुँह-हाथ धोने को काफी हो जाया करेगा।

कोठरी—ठीक है। रोशनी नही है, पढ़ने लिखने का सवाल नहीं उठता। पर कामचलाऊ रोशनी आँगन से प्रतिबिम्बित हो कर आ जाती है क्योकि आँगन की एक ओर सामने के मकान की कोने वाली बत्ती से रोशनी पडती है। बल्कि आँगन मे इस जगह खडे हो कर शायद कुछ पढ़ा भी जा सके। लेकिन पढने को है ही कुछ नहीं, यह तो ध्यान ही न रहा था!

देविन्दरलाल फिर ठिठक गये। सरकारी कैद म तो गा-चिल्ला भी सकते हैं, यहा तो चुप रहना होगा!

उन्हें याद आया, उन्होने पढ़ा है, जेल मे लोग चिडिया, कबूतर, गिलहरी बिल्ली आदि से दोस्ती कर के अकेलापन दूर करते है, यह भी न हो तो कोठरी मे मकडी-चीटी आदि का अध्ययन करके उन्होने एक बार चारो ओर नजर दौडाई। मच्छरो से भी बन्धु-भाव हो सकता है, यह उन का मन किसी तरह नही स्वीकार कर पाया।

वे आँगन मे खडे हो कर आकाश देखने लगे। आजाद देश का आकाश!

और नीचे से, अभ्यर्थना मे—जलते हुए घरो का धुआँ ! धूपेन धापयामः।
लाल चन्दन—रक्त चन्दन'

अचानक उन्होने आँगन की दीवार पर एक छाया देखी—एक बिलार !
उन्होने बुलाया, "आओ, आओ !" पर वह वही बैठा स्थिर दृष्टि से ताकता रहा।

जहाँ बिलार आता है, वहाँ अकेलापन नही है। देविंदरलाल ने कोठरी मे जा कर बिस्तरा बिछाया और थोडी देर मे निर्द्वन्द्व भाव से सो गए।

दिन छिपे के वक्त केवल एक बार खाना आता था। यो वह दो वक्त के लिए काफी होता था। उसी समय कोठरी और गैराज के लोटे भर दिए जाते थे। लाता था एक जवान लडका, जो स्पष्ट ही नौकर नही था, देविंदरलाल ने अनुमान किया कि शेख साहब का लडका होगा। वह बोलता बिलकुल नही था। देविन्दरलाल ने पहले दिन पूछा था कि शहर का क्या हाल है तो उस ने एक अजनबी दृष्टि से इन्हे देख लिया था। फिर पूछा कि अभी अमन हुआ है या नही ? तो उस ने नकारात्मक सिर हिला दिया था। और सब खैरियत ? तो फिर सिर हिलाया था—हाँ।

देविंदरलाल चाहते तो खाना दूसरे वक्त के लिए रख सकते थे; पर एक बार आता तो एक बार ही खा लेना चाहिए, यह सोच कर वे डर कर खा लेते थे और बाकी बिलार को दे देते थे। बिलार खूब हिल गया था, आ कर गोद मे बैठ जाता और खाता रहता, फिर हड्डी-वड्डी लेकर आँगन के कोने मे बैठ कर चबाता रहता या ऊब जाता तो देविन्दरलाल के पास आ कर घुरघुराने लगता।

इस तरह शाम कट जाती थी, रात घनी हो आती थी। तब वे सो जाते थे। सुबह उठ कर आँगन मे कुछ वरजिश कर लेते थे कि शरीर ठीक रहे; बाकी दिन कोठरी मे बैठे कभी कंकडो से खेलते, कभी आँगन की दीवार पर बैठनेवाली गौरैया देखते, कभी दूर से कबूतर की गुटर-गूँ सुनते—और कभी सामने के कोने से शेखजी के घर के लोगो की बातचीत भी सुन पडती। अलग-अलग आवाजें वे पहचानने लगे थे, और तीन-चार दिन मे ही वे घर के भीतर के जीवन और व्यक्तियो से परिचित हो गए थे। एक भारी-सी जनानी आवाज थी—शेख साहब की बीवी की; एक और तीखी जनानी आवाज थी जिस के

स्वर मे वय का खुरदरापन था—घर की कोई और बुजुर्ग स्त्री, एक विनीत युवा स्वर था जो प्राय पहली आवाज़ की 'जेबू ! जेबूनी !" पुकार मे उत्तर मे बोलता था और इसलिए शेख साहब की लडकी जेबुन्निसा का स्वर था। दो मर्दानी आवाज़ें भी सुन पडती थी—एक तो आबिद मियाँ की, जो शेख साहब का लडका हुआ और जो इस लिए वही लडका है जो खाना ले कर आता है, और एक बडी भारी और चरबी से चिकनी आवाज़ तो शेख साहब की आवाज है। इस आवाज को देविन्दरलाल सुन तो सकते लेकिन इस की बात के शब्दाकार कभी पहचान म न आते—दूर से तीखी आवाज़ा के बोल ही स्पष्ट समझ आते है।

जैबू की आवाज स देविंदरलाल का लगाव था। घर की युवती लडकी की आवाज थी, इस स्वाभाविक आकर्षण से ही नही, वह विनीत भी थी, इस लिए। मन ही मन वे ज़ेबुन्निसा के बारे मे अपने ऊहापोह को रोमानी खेल-वाड कहकर अपने को थोडा झिडक भी लेते थे, पर अवसर वे यह भी सोचते थे कि क्या यह आवाज भी लोगो म फिरकापरस्ती का जहर भरती होगी ? भर सकती होगी ? शेख साहब पुलिस के किसी दफ्तर मे शायद हेड क्लर्क हैं। देविंदरलाल को यहाँ लाते समय रफीकुद्दीन ने यही कहा था कि पुलिसियो का घर तो सुरक्षित होता है, वह बात ठीक भी है, लेकिन सुरक्षित होता है इस लिए शायद बहुत-से उपद्रवो की जड भी होता है।—ऐसे घर मे सभी लोग जहर फैलानेवाले हो तो अचम्भा क्या

लेकिन खाते वक्त भी वे सोचते, खाने मे कौन-सी चीज किस हाथ की बनी होगी, परोसा किस ने होगा। सुनी बातो से वे जानते थे कि पकाने मे बडा हिस्सा तो उस तीखी खुरदरी आवाज़वाली स्त्री का रहता था, पर परोसना शायद ज़ेबुन्निसा के ही जिम्मे था। और यही सब सोचते-सोचते देविंदरलाल खाना खाते और कुछ ज्यादा ही खा लेते थे।

खाने मे बडी-बडी मुसलमानी रोटी के बजाय छोटे-छोटे हिन्दू फुलके देख कर देविंदरलाल के जीवन की एकरसता मे थोडा-सा परिवर्तन आया। मास तो था, लेकिन आज रबडी भी थी जब कि पीछे मीठे के नाम पर एक-आध बार शाह टुकडा और एक बार फिरनी आई थी। आबिद जब खाना रख कर चला

गया, तब देविंदरलाल क्षण-भर उसे रखते रहे। उन की उँगलियाँ फुलकों से खेलने-सी लगी—उन्होंने एकाध को उठा कर फिर रख दिया, पल-भर में लिए अपने घर का दृश्य उन की आँखों में आगे दौड़ गया। उन्होंने फिर दो-एक फुलके उठाये और फिर रख दिये।

हठात् वे चौंके।

तीन एक फुलकों की तह के बीच म कागज की एक पुडिया सी पडी थी।

देविंदरलाल ने पुडिया खोली।

पुडिया मे कुछ नही था।

देविंदरलाल उसे फिर गोल करके फेंक देनेवाले ही थे कि हाथ ठिठक गया। उन्होंने कोठरी से आँगन मे जा कर कोने मे पजों पर खडे हो कर बाहर की रोशनी मे पुर्जा देखा, उस पर कुछ लिखा था। केवल एक सतर—

'खाना कुत्ते को खिला कर खाइएगा।"

देविंदरलाल ने कागज की चिंदियाँ की। चिंदियों को मसला। कोठरी से गैराज म जा कर उसे गड्ढे मे डाल दिया। फिर आँगन म लौट आये और टहलने लगे।

मस्तिष्क ने कुछ नही कहा। सन्न रहा। केवल एक नाम उसके भीतर खोया-सा चक्कर काटता रहा, ज़ैबू ज़ैबू ''ज़ैबू'''

थोडी देर बाद वह फिर खाने के पास जा कर खडे हो गये।

यह उन का खाना है—देविंदरलाल का। मित्र के नही, तो मित्र के मित्र के यहाँ से आया है। और उन के मेजबान के, उन के आश्रयदाता के।

ज़ैबू के।

ज़ैबू के पिता के।

कुत्ता यहाँ कहाँ है ?

देविंदरलाल टहलने लगे।

आँगन की दीवार पर छाया सरकी। बिलार बैठा था।

देविंदरलाल न बुलाया। वह लपक कर कधे पर आ रहा। देविंदरलाल ने उसे गोद मे लिया और पीठ सहलाने लगे। वह घुरघुराने लगा। देविंदरलाल कोठरी मे गये। थोडी देर बिलार को पुचकारते रहे, फिर धीरे-धीरे बोले, 'देखो बेटा, तुम मेरे मेहमान, मैं शेख साहब का, है न ? वे मेरे साथ जो करना

चाहते है, वही मैं तुम्हारे साथ करना चाहता हूँ। चाहता नही हूँ, पर करने जा रहा हूँ। वे भी चाहते है कि नही, पता नही, यही तो जानना है। इसी लिए तो मैं तुम्हारे साथ वह करना चाहता हूँ जो मेरे साथ वे पता नही चाहते है कि नही नही, सब बात गडबड हो गई। अच्छा, रोज़ मेरी जूठन तुम खाते हो, आज तुम्हारी मैं खाऊँगा। हाँ, यह ठीक है। लो, खाओ···"

बिलार ने मास खाया। हड्डी झपटना चाहता था, पर देविंदरलाल ने उसे गोदी मे लिये-लिये ही रबडी खिलाई—वह सब चाट गया। देविंदरलाल उसे गोदी मे लिये सहलाते रहे।

जानवरो मे तो सहज ज्ञान होता है खाद्य-अखाद्य का, नही तो वे बचते कैसे ? सब जानवरो मे होता है, और बिल्ली तो जानवरो मे शायद सबसे अधिक ज्ञान के सहारे जीनेवाली है, तभी तो कुत्ते की तरह पलती नही··· बिल्ली जो खा ले वह सर्वथा खाद्य है—यो बिल्ली बडी मछली खा ले जिसे इन्सान न खाए वह और बात है··

सहसा बिलार ज़ोर से गुस्से से चीखा और उछल कर गोद से बाहर जा कूदा, चीखता-गुर्राता सा कूद कर दीवार पर चढा और गैराज की छत पर जा पहुँचा। वहाँ स थोडी देर तक उस के कानो मे अपने-आप मे ही लडने की आवाज़ आती रही। फिर धीरे-धीरे गुस्से का स्वर दर्द के स्वर म परिणत हुआ, फिर एक करुण रिरियाहट मे, एक दुर्बल चीख मे, एक बुझती हुई-सी कराह म, फिर एक सहसा चुप हो जानेवाली लबी साँस मे—

मर गया ·

देविंदरलाल फिर खाने को देखने लगे। वह कुछ साफ-साफ दीखता हो सो नहीं; पर देविंदरलाल जी की आँखें नि स्पन्द उस देखती रही।

आजादी। भाईचारा। देश—राष्ट्र

एक ने कहा कि हम जोर कर के रखेंगे और रक्षा करेंगे, पर घर से निकाल दिया। दूसरे ने आश्रय दिया, और विष दिया।

और साथ मे चेतावनी कि विष दिया जा रहा है।

देविंदरलाल का मन ग्लानि से उमड आया। इस धक्के को राजनीति की भुरभुरी रेत की दीवार के सहारे नहीं, दर्शन के सहारे ही झेला जा सकता था।

देविंदरलाल ने जाना कि दुनिया में खतरा बुरे की ताकत के कारण नहीं, अच्छे की दुर्बलता के कारण है। भलाई की साहसहीनता ही बड़ी बुराई है। घने बादल से रात नहीं होती, सूरज के निस्तेज हो जाने से होती है।

उन्होंने खाना उठा कर बाहर आँगन में रख दिया। दो घूँट पानी पिया। फिर टहलने लगे।

तनिक देर बाद उन्होंने आ कर ट्रंक खोला। एक बार सरसरी दृष्टि से *सब चीज़ों को देखा, फिर ऊपर के खाने* में से दो-एक कागज़, दो-एक फोटो, एक सेविंग बैंक की पास-बुक और एक बड़ा-सा लिफाफा निकाल कर, एक काले शेरवानी-नुमा कोट की जेब में रख कर कोट पहन लिया। आँगन में आ कर एक क्षण-भर कान लगा कर सुना।

फिर वे आँगन की दीवार पर चढ़ कर बाहर फाँद गए और बाहर सड़क पर निकल आए—वे स्वयं नहीं जान सके कि कैसे!

इस के बाद की घटना, घटना नहीं है। घटनाएँ सब अधूरी होती हैं। पूरी तो कहानी होती है। कहानी की सगति मानवीय तर्क या विवेक या कला या सौंदर्य-बोध की बनाई हुई सगति है, इस लिए मानव को दीख जाती है और वह पूर्णता का आनन्द पा लेता है। घटना की सगति मानवापर किसी शक्ति की—वह लीजिए काल या प्रकृति या सयोग या दैव या भगवान की—बनाई हुई सगति है। इस लिए मानव को सहसा नहीं भी दीखती। इस लिए इस के बाद जो कुछ हुआ और जैसे हुआ, वह बताना जरूरी नहीं। इतना बताने से काम चल जायेगा कि डेढ़ महीने बाद अपने घर का पता लेने के लिए देविंदरलाल अपना पता दे कर दिल्ली-रेडियो से अपील करवा रहे थे तब एक दिन उन्हें *लाहौर की मुहरवाली एक छोटी-सी चिट्ठी मिली थी।*

"आप बच कर चले गये, इसके लिए खुदा का लाख लाख शुक्र है। मैं मनाती हूँ कि रेडियो पर जिन के नाम आपने अपील की है, वे सब सलामती से आप के पास पहुँच जायें। अब्बा ने जो किया या करना चाहा, उस के लिए मैं माफी माँगती हूँ और यह भी याद दिलाती हूँ कि उस की काट मैं ने ही कर दी थी। अहसान नहीं जताती—मेरा कोई अहसान आप पर नहीं है—सिर्फ यह इल्तजा करती हूँ कि आप के मुल्क में अकलियत का कोई मज़लूम हो तो

याद कर लीजियेगा। इस लिए नही कि वह मुसलमान है, इस लिए कि आप इन्सान हैं। खुदा हाफिज !"

देविंदरलाल की स्मृति मे शेख अताउल्लाह की चरबी से चिक्नी भारी आवाज़ गूँज गई, 'जैबू ! जैबू !' और फिर गैराज की छत पर छटपटा कर धीरे-धीरे शांत होनेवाले बिलार की वह दर्द-भरी कराह, जो केवल एक लम्बी साँस बन कर चुप हो गई थी।

उन्होने चिट्ठी की छोटी-सी गोली बना कर चुटकी मे उडा दी।

मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई

•

छूत की बीमारियाँ यों कई हैं, पर डर-जैसी कोई नहीं। इस लिए और भी अधिक, कि यह स्वयं कोई ऐसी बीमारी है भी नहीं—डर किस ने नहीं जाना ?—और मारती है तो स्वयं नहीं, दूसरी बीमारियों के जरिये। कह लीजिये कि वह बला नहीं, बलाओं की माँ है···

नहीं तो यह कैसे होता है कि जहाँ डर आता है, वहाँ तुरत घृणा और द्वेष, और कमीनापन आ घुसते है, और उन के पीछे-पीछे न जाने मानवात्मा की कौन-कौन-सी दबी हुई व्याधियाँ !

वबा का पूरा थप्पड़ सरदारपुरे पर पड़ा। छूत को कोई-न कोई वाहक लाता है; सरदारपुरे में इस छूत को लाया सर्वथा निर्दोष दीखनेवाला एक वाहक—रोज़ाना अखबार !

यों अखबार में मार-काट, दंगे-फसाद और भगदड़ की खबरें कई दिन से आ रही थी, और कुछ शरणार्थी सरदारपुरे में आ भी चुके थे—दूसरे स्थानों से इधर और उधर जानेवाले काफिले कूच कर चुके थे। पर सरदारपुरा उस दिन तक बचा रहा था।

उस दिन अखबार में विशेष कुछ नहीं था। जाटों और मेवों के उपद्रवों की खबरें भी उस दिन कुछ विशेष न थी—पहले से चल रहे हत्या-व्यापारों का ही ताजा ब्यौरा था। केवल एक नई लाइन थी, 'अफवाह है कि जाटों के कुछ गिरोह इधर-उधर छापे मारने की तैयारियाँ कर रहे हैं।'

इस तनिक-सी आधार को लेकर न जाने कहा से खबर उड़ी कि जाटों का एक बड़ा गिरोह हथियारों से लैस, बन्दूक के गाजे-बाजे के साथ खुले हाथों मौत के नये खेल की पचिया लुटाता हुआ सरदारपुरे पर चढ़ा आ रहा है।

सवेरे की गाड़ी तब निकल चुकी थी। दूसरी गाड़ी रात को

जाती थी उस मे या ही इतनी भीड रहती थी और आजकल तो कहने क्या फिर भी तीसरे पहर तक स्टेशन खचाखच भर गया। लोगा के चेहरो के भावा की अनदेखी की जा सकती तो यही लगता कि किसी उस पर जानेवाले मुरीद इकट्ठ हैं

गाडी आई और लोग उस पर टूट पडे। दरवाजो स खिडकियो स जो जैस घस सका भीतर घुसा। जो न घुस सके वे किवाडो पर लटक गए छतो पर चढ गए या डिब्बो के बीच म धक्का सँभालनेवाली कमानियो पर काठी कमकर जम गए। जाना ही तो है जैस भी हुआ और फिर कौन टिकट खरीदा है जो आराम मे जाने का आग्रह हो

गाडी चली गई। कैस चली और कैस गई यह न जाने पर जड धातु होने के भी लाभ हैं ही आखिर!

और उस के चले जाने पर मेल की जूठन से जहाँ तहाँ पडे रह गये कुछ एक छोटे छोटे दल जो किसी न किसी कारण उस ठलमठेल म भाग न ले सके थे—कुछ बूढ कुछ रोगी कुछ स्त्रियाँ और तीन अधड उम्र की स्त्रियो की वह टोली जिस पर हम अपना ध्यान कन्द्रित कर लेते हैं।

सकीना ने कहा या अल्लाह क्या जाने क्या होगा।

आमिना बोली सुना है एक ट्रन आनेवाली है—स्पेशल। दिल्ली से सीधी पाकिस्तान जाएगी—उस म सरकारी मुलाजिम जा रहे हैं न? उसी म क्यो न बठ?

कब जाएगी?

अभी घटे डढ घटे बाद जाएगी शायद

जमीला न कहा उस म हम बैठने दगे? अफसर होग सब

आखिर तो मुसलमान हागे—बैठने क्या न दगे?

हा आखिर तो अपन भाई है

धीरे धीरे एक तन्द्रा छा गई स्टेशन पर। आमिना जमीला और सकीना चुपचाप बैठी हुई अपनी अपनी बात सोच रही थीं। उन म एक बुनियादी समानता भी थी और सतह पर गहरे और हल्के रगो की अलग अलग छटा भी तीना के स्वामी बाहर थ—दो के फौज मे थे और वहा फ्रटियर म नौकरी पर थ—उन्होने कुछ समय बाद आ कर पत्नियो को लिवा ले जाने की बात

लिखी थी, सकीना का पति कराची में बंदरगाह में काम करता था और पत्र वैसे ही कम लिखता था, फिर इधर की गड़बड़ी में तो लिखना भी तो मिलने का क्या भरोसा! सकीना कुछ दिन के लिए मायके आई थी सो उसे इतनी देर हो गई थी, उस की लड़की कराची में ननद के पास ही थी। आमिना के दो बच्चे हो कर मर गए थे, जमीला का खाविंद शादी के बाद से ही विदेशों में पल्टन के साथ साथ घूम रहा था और उसे घर पर आए ही चार बरस हो गए थे। अब'' तीनों के जीवन उन के पतियों में केन्द्रित थे, सन्तान में नहीं, और इस गड़बड़ के जमाने में तो और भी अधिक'''न जाने कब क्या हो—और अभी तो उन्हें दुनिया देखनी बाकी ही है, अभी उन्होंने देखा ही क्या है? सरदारपुरे में देखने को है भी क्या—यहाँ की खूबी यही थी कि हमेशा अमन रहता और चैन से कट जाती थी, सो अब वह भी नहीं, न जाने कब क्या हो''' अब तो खुदा यहाँ से सही-सलामत निकाल ले बस'''

स्टेशन पर कुछ चहल-पहल हुई, और थोड़ी देर बाद गड़गड़ाती हुई ट्रेन आ कर रुक गई।

आमिना, सकीना और जमीला के पास सामान विशेष नहीं था, एक-एक छोटा ट्रंक, एक-एक पोटली। जो कुछ गहना-छल्ला था, वह ट्रंक में बंद हो सकता था, और कपड़े लत्तर का क्या है—फिर हो जायेंगे। और जमाने में ऐसा बचा ही क्या है जिस की माया हो।

जमीला ने कहा, 'वह उधर जनाना है!"—और तीनों उसी ओर लपकीं।

जनाना तो था, पर मेकड़ क्लास का। चार बर्थों पर बिस्तर बिछे थे, नीचे की सीटों पर चार स्त्रियां थीं, दो की गोद में बच्चे थे। एक ने डपट कर कहा, "हटो, यहाँ जगह नहीं है।"

आमिना आगे थी, झिड़की से कुछ सहम गयी। फिर कुछ साहस बटोर कर चढ़ने लगी और बोली 'बहिन, हम नीचे ही बैठ जायेंगे—मुसीबत के हैं'''"

'मुसीबत का हमने ठेका लिया है? जाओ, आगे देखो'''"

जमीला ने कहा, 'इतनी तेज क्यों होती हो बहिन? आखिर हमें भी तो जाना है।"

रमंते तत्र देवताः

•

अक्तूबर सन् 1946 का कलकत्ता । तब हम लोग दंगे के आदी हो गये थे, अखबार में इक्के-दुक्के खून और लूट-पाट की घटनाएँ पढ़ कर तन नहीं सिहरता था; इतने से यह भी नहीं लगता था कि शहर की शान्ति भंग हो गई । शहर बहुत-से छोटे-छोटे हिन्दुस्तान-पाकिस्तानों में बँट गया था, जिन की सीमाओं की रक्षा पहरेदार नहीं करते थे, लेकिन जो फिर भी परस्पर अनुल्लघ्य हो गये थे । लोग इसी बँटी हुई जीवन-प्रणाली को ले कर भी अपने दिन काट रहे थे, मान बैठे थे कि जैसे जुकाम होने पर एक नासिका बन्द हो जाती है तो दूसरी से श्वास लिया जाता है—तनिक कष्ट होता है तो क्या हुआ, कोई मर थोड़े ही जाता है ?—वैसे ही श्वास की तरह नागरिक जीवन भी बँट गया तो क्या हुआ···एक नासिका ही नहीं, एक फेफड़ा भी बन्द हो जा सकता है और उस की सड़न का विष सारे शरीर में फैलता है और दूसरे फेफड़े को भी आक्रान्त कर लेता है, इतनी दूर तक रूपक को घसीट ले जाने की क्या जरूरत ?

बीच-बीच में इस या उस मुहल्ले में विस्फोट हो जाता था । तब थोड़ी देर के लिए उस या आसपास के मुहल्लों में जीवन स्थगित हो जाता था, व्यवस्था पटकी खा जाती थी और आतंक उस की छाती पर चढ़ बैठता था । कभी दो-एक दिन के लिए भी गड़बड़ रहती थी, तब बात कानोंकान फैल जाती थी कि 'ओ पाड़ा भालो ना' और दूसरे मुहल्लों के लोग दो-चार दिन के लिए उधर आना-जाना छोड़ देते थे । उस के बाद ढर्रा फिर उभर आता था और गाड़ी चल पड़ती थी···

हठात् एक दिन कई मुहल्लों पर आतंक छा गया । ये वैसे मुहल्ले थे जिन में हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की सीमाएँ नहीं बाँधी जा सकती थीं क्योंकि प्याज़ की परतों की तरह एक के अन्दर

एक जमा हुआ था। इन मे यह होता था कि जब कही आसपास कोई गडबड हो, या गडबड की अफवाह हो, तो उस का उद्‌भव या कारण चाहे हिन्दू सुना जाय चाहे मुसलमान, सब लोग अपने-अपने किवाड बन्द कर के जहाँ-के-तहाँ रह जाते, बाहर गये हुए शाम को घर न लौट कर बाहर ही कही रात काट देते, और दूसरे-तीसरे दिन तक घर के लोग यह न जान पाते कि गया हुआ व्यक्ति इच्छापूर्वक कही रह गया है या कही रास्ते मे मारा गया है ··

मैं तब बालीगज की तरफ रहता था। यहाँ शाति थी और शायद ही कभी भग होती थी। यो खबरें सब यहाँ मिल जाती थी, और कभी-कभी आगामी 'प्रोग्रामो' का कुछ पूर्वाभास भी। मत्रणाएँ यहाँ होती थी, शरणार्थी यहाँ आते थे, सहानुभूति के इच्छुक आ कर अपनी गाथाएँ सुना कर चले जाते थे ··

आतक का दूसरा दिन था। तीसरे पहर घर के सामने बरामदे मे आराम-कुर्सी पर पडे-पडे मैं आने-जानेवालो को देख रहा था। 'आने-जानेवाले' यो भी अध्ययन की श्रेष्ठ सामग्री होते हैं, ऐसे आतक के समय मे तो और भी अधिक। तभी देखा, मेरे पडोसी एक ही सिख सरदार साहब, अपने साथ तीन चार और सिखो को लिये हुए घर की तरफ जा रहे हैं। ये अन्य सिख मैंने पहले उधर नही देखे थे—कौतूहल स्वाभाविक था, और फिर आज अपने पडोसी को लम्बी किरपान लगाए देख कर तो और भी अचम्भा हुआ। सरदार बिशनसिंह सिख तो थे, पर बडे सकोची, शातिप्रिय और उदार विचारो के, प्रतीक-रूप से किरपान रखते रहे हो तो रहे हो, मैंने देखी नही थी और ऐसे उद्धत ढग से कोट के ऊपर कमरबन्द के साथ लटकाई हुई तो कभी नही।

मैंने कुछ पजाबी लहजा बनाकर कहा, "सरदार जी, अज्ज किद्धर फौजाँ चल्लियाँ ने ?"

बिशनसिंह ने व्यस्त आँखो से मेरी ओर देखा। मानो कह रहे हो, 'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे लहजे पर मुस्करा कर तुम्हारा विनोद स्वीकार करना चाहिए, पर देखते तो हो, मैं फँसा हूँ ··' स्वय उन्होंने कहा, "फेर हाजिर होवागा···"

टोली आगे बढ गई।

जो लोग आरामकुर्सियो पर बैठ कर आने-जानेवालो को देखा करते हैं,

उन्हे एक तो देखने को बहुत-कुछ नही मिलता है, दूसरे जो कुछ वे देखते हैं उस के साथ उन का रागात्मक लगाव तो जरा भी होता नही कि वह मन मे जम जाए। मैं भी सरदार विशनसिंह को भूल-सा गया था जब रात को वे मेरे यहाँ आए। लेकिन अचम्भे को दवा कर मैंने कुर्सी दी और कहा, "आओ बैठो, वडी किरपा कीत्ती ?"

वे बैठ गए। थोडी देर चुप रहे। फिर बोले, "अज जी बडा दुखी हो गया ए ?"

मैंने पजाबी छोडकर गभीर हो कर कहा, "क्या बात है सरदारजी ? खैर तो है ?"

"सब खैर ही खैर है इस अभागे मुल्क मे, भाई साहब, और क्या कहूँ ! मैं तो कहता हूँ, दगा और खून-खराबा न हो तो कैसे न हो जब कि हम रोज नई जगह उस की जडें रोप आते हैं, फिर उन्हे सीचते हैं···मुझे तो अचभा होता है, हमारी कौम बची कैसे रही अब तक !"

उन की वाणी मे दर्द था। मैंने समझा कि वे भूमिका मे उसे बहा न लेंगे तो बात न कह पायेंगे, इसलिए चुप सुनता रहा। वे कहते गये, "सारे मुसलमान अरब और फारस या तातार से नही आये थे। सौ के एक होगा जिस को हम आज अरब या फारस या तातार की नस्ल कह सकें। और मेरा तो खयाल है—खयाल नही तजरुबा है कि अरब या ईरानी बडा नेक, मिलनसार और अमनपसद होता है। तातारियो से साबिका नही पडा। बाकी सारे मुसलमान कौन है ? हमारे भाई, हमारे मजलूम जिन का मुँह हम हजारो बरसो से मिट्टी म रगडते आये है ! वही, आज वही मुँह उठा कर हम पर थूकते हैं, तो हमें बुरा लगता है। पर वे मुसलमान हैं, इस लिए हम खिसिया कर अपने और भाइयो को पकड कर उन का मुँह मिट्टी मे रगडते है ! और भाइयो को ही क्यों, बहिनो को पैरों के नीचे रौंदते हैं, और चूँ नही करने देते क्योकि चूँ करने से धरम नही रहता—"

आवेश मे सरदार की जबान लडखडाने लगी थी। वे क्षण-भर चुप हो गये। फिर बोले, "बाबू साहब, आप सोचते होगे, यह सिख हो कर मुसलमान का पच्छ करता है। ठीक है, उन से किसी का वैर हो सकता है तो हमारा ही। पर आप सोचिये तो, मुसलमान हैं कौन ? मजलूम हिन्दू ही तो मुसलमान

है। हम ने जिस से हिकारत की, वह हम से नफरत करे तो क्या बुरा करता है—हमारा कर्ज ही तो अदा करता है न ! मैं तो यह भी कहता हूँ कि यह ठीक न भी हो, तो भी हम नुक्स निकालने वाले कौन होते है ? इन्सान को पहले अपना ऐब देखना चाहिए, तभी वह दूसरे को कुछ कहने लायक बनता है। आप नही मानते ?"

मैने कहा, "ठीक कहते हैं आप। लेकिन इन्सान आखिर इन्सान है, देवता नही।"

उन्होंने उत्तेजित स्वर मे कहा, "देवता ! आप कहते है देवता। काश कि वह इन्सान भी हो सकता ! बल्कि वह खरा हैवान ही होता तो कुछ भी बात थी—हैवान भी अपने नियम-कायदे से चलता है ! लेकिन बहस करने नही आया, आप आज की बात ही सुन लीजिए।"

मैंने कहा, "आप कहिए। मैं सुन रहा हूँ।"

"आप जानते हैं कि मेरे घर के पास गुरुद्वारा है। जहाँ जब-तब कुछ लोगो ने पनाह पायी है, और जब-तब मैंने भी वहाँ पहरा दिया है। यह कोई तारीफ की बात नही, गुरुद्वारे की सेवा का भी एक ढर्रा है, पनाह देने की भी रीत चली आयी है, इसलिए यह हो गया है। हम लोगो ने इन्सानियत की कोई नयी ईजाद नही की। खैर, कल शाम मैं बाजार स वापस आ रहा था तो देखा, रास्ते मे अचानक मिनटो मे सन्नाटा छाता जा रहा है। दो-एक ने मुझे भी पुकार कर कहा, 'घर जाओ, दगा हो गया है,' पर यह न बता पाये कि कहाँ। ट्राम तो बद थी ही।

"धरमतल्ले के पास मैंने देखा, एक औरत अकेली घबराई हुई आगे दौडती चली जा रही है, एक हाथ मे एक छोटा बडल है, दूसरे मे जोर से एक छोटा मनीबेग दाबे है। रो रही है। देखने से भद्रलोक की थी। मैंने सोचा, भटक गयी है और डरी हुई है, यो भी ऐसे वक्त मे अकेली जाना—और फिर बगालिन का—ठीक नहीं, पूछकर पहुँचा दूँ। मैंने पूछा, 'माँ, तुम कहाँ जाओगी ?' पहले तो वह और सहमी, फिर देख कर कि मुसलमान नही सिख हूँ, जरा सँभली। मालूम हुआ कि उत्तरी कलकत्ता मे उस का खाविंद और वह दोनो धरमतल्ले आये थे, तय हुआ था कि दोनो अलग-अलग सामान खरीद कर के० सी० दास की दुकान पर नियत समय पर मिल जायेंगे और

फिर घर जायेंगे; इसी बीच गडबड हो गयी, वह मन्नाटे से डर कर घर भागी जा रही है—दास की दुकान पर नहीं गयी, रास्ते में चाँदनी पडती है जो उस ने सदा सुना है कि मुसलमानों का गढ है।

"मैंने उस से कहा कि डरे नहीं, मेरे साथ धरमतल्ला पार कर ले। अगर के० सी० दास की दुकान पर उस का आदमी मिल गया तो ठीक, नहीं तो वहाँ से बालीगंज की ट्राम तो चलती होगी, उस में जा कर गुरद्वारे में रात रह जायेगी और सवेरे मैं उसे घर पहुँचा आऊँगा। दिन छिप चला था, बिजली सडकों पर वैसे ही नहीं है ऐसे में पाँच-छः मील पैदल दंगे का इलाका पार करना ठीक नहीं है।" इतना कह कर सरदार बिशनसिंह क्षण-भर रुके, और मेरी ओर देख कर बोले, 'बताइये, मैंने ठीक कहा कि गलत ? और मैं क्या कर सकता था ?"

"ठीक ही तो कहा, और रास्ता ही क्या था ?"

"मगर ठीक नहीं कहा। बाद में पता लगा कि मुझे उसे अकेली भटकने देना चाहिए था।"

"क्यों ?" मैंने अचकचा कर पूछा।

"सुनिये !" सरदार ने एक लम्बी साँस ली, "के० सी० दास की दुकान बन्द थी। पति देवता का कोई निशान नहीं था। मैं उस औरत को ट्राम में बिठा कर यहाँ ले आया। रात वह गुरद्वारे के ऊपरवाले कमरे में रही। मैं तो अकेला हूँ आप जानते हैं मेरी बहिन ने उस वहीं ले जा कर खाना खिलाया और बिस्तरा वगैरा दे आई। सवेरे मैंने एक सिख ड्राइवर से बात कर के टैक्सी की, और ढूँढता हुआ उस के घर ले गया। श्यामपुकुर लेन में था—एकदम उत्तर में। दरवाजा बन्द था, हम ने खटखटाया तो एक सुस्त-से महाशय बाहर निकले—पति देवता।"

आप लोगों को देखते ही उछले पडे होंगे ?"

सरदार क्षण-भर चुप रहे।

"हाँ, उछल तो पडे। लेकिन वहू को देख कर तो नहीं मुझे देखकर। उन्होंने फिर एक लम्बी साँस ली। "महाशय के० सी० दास घर पर नहीं ठहरे थे, दंगे की खबर हुई तो कहीं एक दोस्त के यहाँ चले गये थे। रात वहीं रहे थे, हम से कुछ पहले ही लौटकर आये थे। आँखें भारी थीं। दरवाजा खोल कर

मुझे देख कर चौंके, फिर मेरे पीछे स्त्री को देख कर तनिक ठिठके और खडे-खडे बोले, "आप कौन ?" मैं ने कहा, 'पहले इन्हे भीतर ले जाइये, फिर मैं सब बतलाता हूँ।' स्त्री पहले ही सकुची झुकी खडी थी, इस बात पर उस ने घूँघट जरा आगे सरका कर अपने को और भी समेट-सा लिया।'

बिशनसिंह फिर ज़रा चुप रहे, मैं भी चुप रहा।

"पति ने फिर पूछा, 'ये रात आप के यहाँ रहीं ?' मैंने कहा, 'हाँ, हमारे गुरुद्वारे मे रही। शाम को यहाँ आना मुमकिन नहीं था।' उन्होंने फिर कहा, 'आप के बीवी-बच्चे हैं ?' मैंने कहा, 'नही, मेरी विधवा बहिन साथ रहती है, पर इससे आप को क्या ?'

"उन्होंने मुझे जवाब नही दिया। वहीं से स्त्री की ओर उन्मुख हो कर बगाली मे पूछा, 'तुम रात को क्या जाने कहाँ रही हो, सवेरे तुम्हे यहाँ आते शरम न आई ?'" सरदार बिशनसिंह ने रुक कर मेरी ओर देखा।

"मैंने कहा, 'नीच !'"

बिशनसिंह के चेहरे पर दर्द-भरी मुस्कान झलक कर खो गई। बोले, 'मैं न जाने क्या करता उस आदमी को—और सोचता हूँ कि स्त्री भी न जाने क्या जवाब देती। लेकिन औरत जात का जवाब न देना भी कितना बडा जवाब होता है, इस को आजकल का कीडा इन्सान क्या समझता है ? मैंने पीछे धमाका सुन कर मुड कर देखा, वह औरत गिर गयी थी—बेहोश हो कर। मैं फौरन उठाने को झुका, पर उस आदमी ने ऐसा तमाचा मारा था कि मेरे हाथ ठिठक गये। मैंने उसी से कहा, 'उठाओ, पानी का छींटा दो ' पर वह सरका नही, फिर उस की ढबर-ढबर आँखें छोटी होकर लकीरें-सी बन गईं, और एकाएक उस ने दरवाजा बन्द कर लिया।"

मैं स्तब्ध सुनता रहा। कुछ कहने को न मिला।

"लोग इकट्ठे होने लगे थे। मैं उस स्त्री की बात सोच कर ज्यादा भीड करना भी नही चाहता था। ड्राइवर की मदद से मैंने उसे टैक्सी मे रखा और घर ले आया। बहिन को उस की देखभाल करने को कह के बाबा बचित्तरसिंह के पास गया—वे हमारे बुजुर्ग हैं और गुरुद्वारे के ट्रस्टी। वहीं हम लोगों ने मीटिंग कर के सलाह की कि क्या किया जाय। कुछ की तो राय थी कि उस आदमी को कत्ल कर देना चाहिए, पर उस मे उस की विधवा का मसला तो

हल न होता। फिर यही सोचा गया कि पाँच सरदारों का जत्था गुरुद्वारे की तरफ म उस औरत को उस के घर ले कर जाय, और उसके आदमी स कहे कि या तो इस को अपना कर घर म रखो या हम समझेंगे कि तुम न गुरुद्वारे की बेइज्जती की है और तुम्हे काट डालेंगे।

आप शायद कल तीसरे पहर वही स लौट रहे होगे

हाँ। नहीं तो आप जानते हैं कि मैं वैसे किरपान नहीं बांधता। एक जमाने म जिन बजूहात स गुरुओ ने किरपान बांधना धर्म बताया था, आज उनके लिए राइफल स कम कोई क्या बाँधेगा? निरी निशानी का मोह अपनी बुजदिली को छिपाने का तरीका बन जाता है और क्या! खैर, हम लोग औरत को ले कर गये। हम देखते ही पहले तो और भी कई लोग जुट गये, पर जत्थे को देख कर शायद पति देवता को अकल आ गई उन्होने हम से कहा अच्छा ठीक है आप लोगो की मेहरबानी', और औरत से कहा, 'चल भीतर चल और बस। हमे आने या बैठने को नहीं कहा हम बैठते तो क्या उस कमीने के घर म

औरत भीतर चली गई? कुछ बोली नही?

बोलती क्या? जब से होश आया तब से बोली नही थी। उस की आँखें न जाने कैसी हो गई थी, उन म झाँक कर भी कोई जैसे कुछ नही देखता था, सिर्फ एक दीवार। मुझ से तो उस के पास नही ठहरा जाता था। वह चुपचाप खड़ी रही। जब हम लोगो ने कहा, जाओ माँ, घर मे जाओ अब तब जैसे मशीन सी दो तीन कदम आगे बढ़ी। पति के फैलते सिकुडते नथनो की ओर उस न नही देखा एक एक कदम पर जैसे और झुकती और छोटी होती जाती थी। देहरी तक ही गयी फिर वहीं लडखड़ा कर बैठ गयी। मै तो समझा था फिर गिरी, पर बैठते बैठते उस का सिर चौखटे स टकराया तो चोट स वह सँभल गई। बैठ गई। उस वैसे ही छोड कर हम चले आये।'

हम दोनो देर तक चुप रहे।

थोडी देर बाद सरदार बिशनसिंह ने कहा, 'बोलिये कुछ, भाई साहब!"

मैंने कहा, "चलिए, बात खत्म हो गई जैसे-तैसे। उन्होने उसे घर म ले लिया "

बिशनसिंह ने सीखी दृष्टि से मेरी तरफ देखा। "आप सच-सच कह रहे हैं बाबू साहब ?"

मैंने चौंक कर कहा, "क्यों ? झूठ क्या है ?"

"आप सचमुच मानते हैं कि बात खत्म हो गई ?"

मैंने कुछ रुकते-रुकते कहा, "नहीं, वैसा तो नहीं मान पाता। यानी हमारे लिए भले ही खत्म हो गयी हो, उन के लिए तो नहीं हुई।"

"हमारे लिए भी क्या हुई है ? पर उसे अभी छोड़िये, बताइये कि उस औरत का क्या होगा ?"

मैंने अपने शब्द तौलते हुए कहा, 'बंगाल में आये-दिन अखबारों में पढ़ने को मिलता है कि स्त्री ने सास या ननद या पति के अत्याचार से दुखी होकर आत्महत्या कर ली, जहर खा लिया या कुएँ में कूद पड़ी। और कभी-कभी ऐसे एक्सीडेण्ट भी होते हैं कि स्त्री के कपड़ों में आग लग गयी, चाहे योंही, चाहे मिट्टी के तेल के साथ···"

"हाँ, हो सकता है। आप माफ करना, मैं कड़वी बात कहने वाला हूँ। इस से अगर आप को कुछ तसल्ली हो तो कहूँ कि अपने को हिन्दू मान कर ही यह कह रहा हूँ। आप हिन्दू हैं न, इस लिए यही सोचते हैं। वह मर जायेगी, छुटकारा हो जायेगा। हिन्दू धर्म उदार है न, मानता नहीं, मरने का सब तरह से सुभीता कर देता है। इस में दो फायदे हैं—एक तो कभी चूक नहीं होती, दूसरे यह तरीका दया का भी है। लेकिन यह बताइये, अगर आदमी पशु है तो औरत क्यों देवता हो ? देवता मैं जान-बूझ कर कहता हूँ, क्योंकि इन्सान का इन्साफ तो देवताओं से भी ऊँचा उठ सकता है। देवता सूद न लें, धेले-पाई की वसूली पूरी करते हैं।·· करते हैं कि नहीं ?"

मैंने कहा, "सरदार साहब, आप को सदमा पहुँचा है इस लिए आप इतनी कड़वी बात कह रहे हैं। मैं उस आदमी को अच्छा नहीं कहता, पर एक आदमी की बात को आप हिन्दू जाति पर क्यों थोपते हैं ?"

"क्या वह सचमुच एक आदमी की बात है ? सुनिये, मैं जब सोचता हूँ कि क्या हो तो उस आदमी के साथ इन्साफ हो, तब यही देखता हूँ कि वह औरत घर से दुत्कारी जा कर मुसलमान हो, मुसलमान जने, ऐसे मुसलमान जो एक-एक सौ-सौ हिन्दुओं को मारने की कसम खायें। और आप तो साइकॉलोजी

पढ़े है न, आप समझेंगे—हिन्दू औरतों के साथ सचमुच वही करे जिस की झूठी तहमत उस की माँ पर लगायी गयी! देवताओं का इन्साफ तो हमेशा से यही चला आया है—नफरत के एक-एक बीज से हमेशा सौ-सौ जहरीले पौधे उगे हैं। नहीं तो यह जंगल यहाँ उगा कैसे, जिस में आज हम-आप खो गये हैं और क्या जाने निकलेंगे कि नहीं? हम रोज दिन में कई बार नफरत का नया बीज बोते हैं और जब पौधा फलता है तो चीखते हैं कि धरती ने हमारे साथ धोखा किया!"

मैं काफी देर तक चुप रहा। सरदार बिशनसिंह की बात चमड़ी के नीचे कंकड़-सी रड़कने लगी। वातावरण बोझीला हो गया। मैंने उसे कुछ हलका करने के लिए कहा, "सिख कौम की शिवेलरी मशहूर है। देखता हूँ, उस बिचारी का दुःख आप की शिवेलरी को छू गया है!"

उन्होंने उठते हुए कहा, 'मेरी शिवेलरी!" और थोड़ी देर बाद फिर ऐसे स्वर में, जिसमें एक अजीब गूँज थी, "मेरी शिवेलरी, भाई साहब!"

उन्हों ने मुँह फेर लिया, लेकिन मैंने देखा, उन के होठों की कोर काँप रही है—हल्की-सी, लेकिन बड़ी बेबसी के साथ· ·

बदला

•

अँधेरे डिब्बे म जल्दी-जल्दी सामान ठेल, गोद के आबिद को खिडकी से भीतर सीट पर पटक, बडी लडकी जुबैदा को चढा कर सुरैया ने स्वय भीतर घुस कर गाडी के चलने के साथ साथ लबी साँस ले कर पाक परवर्दिगार को याद किया ही था कि उस ने देखा, डिब्बे के दूसरे कोने मे चादर ओढे जो दो आकार बैठे हुए थे, वे अपने मुसलमान भाई नही—सिख थे ! चलती गाडी मे स्टेशन की बत्तियो से रह-रह कर जो प्रकाश की झलक पडती थी, उस मे उसे लगा, उन सिखो की स्थिर अपलक आँखो मे अमानुषी कुछ है। उन की दृष्टि जैसे उसे देखती है पर उस की काया पर रुकती नही, सीधी भेदती हुई चली जाती है, और तेज धार सा एक अलगाव उन मे है, जिसे जैसे कोई छू नही सकता, छुएगा तो कट जायेगा ! रोशनी इस के लिए काफी नही थी, पर सुरैया ने मानो कल्पना की दृष्टि मे देखा कि उन आँखो मे लाल-लाल डोरे पडे हैं, और···और वह डर से सिहर गयी। पर गाडी तेज चल रही थी, अब दूसरे डिब्बे म जाना असभव था कूद पडना एक उपाय होता, किन्तु उतनी तेज गति मे बच्चे-बच्चे ले कर कूदने मे किसी दूसरे यात्री द्वारा उठा कर बाहर फेंक दिया जाना क्या बहुत बदतर होगा ? यह सोचती और ऊपर मे झूलती हुई खतरे की चेन के हैंडिल को देखती हुई वह अनिश्चित-सी बैठ गयी · आगे स्टेशन पर देखा जायेगा एक स्टेशन तक तो कोई खतरा नही है—कम से कम अभी तक तो कोई वारदात इस हिस्से मे हुई नही···

"आप कहाँ तक जायेंगी ?"

सुरैया चौंकी। बडा सिख पूछ रहा था। कितनी भारी उस की आवाज थी ! जो शायद दो स्टेशन बाद उसे मार कर ट्रेन मे बाहर फेंक देगा, वह यहाँ उसे 'आप' कह कर सबोधन करे,

इस की विडबना पर वह सोचती रह गयी और उत्तर मे देर हो गयी। सिख ने फिर पूछा, "आप कितनी दूर जायेंगी ?"

सुरैया ने बुरका मुह से उठा कर पीछे डाल रखा था, सहसा उसे मुँह पर खीचते हुए कहा, "इटावे जा रही हूँ।"

सिख ने क्षण भर सोच कर कहा, "साथ कोई नही है ?"

उस तनिक-सी देर को लक्ष्य कर के सुरैया ने सोचा, 'हिसाब लगा रहा है कि कितना वक्त मिलेगा मुझे मारने के लिए···या रब, अगले स्टेशन पर कोई और सवारियाँ आ जायें·· और साथ कोई जरूर बताना चाहिए—उस से शायद यह डरा रहे ! यद्यपि आज-कल के जमाने म वह सफर मे साथ क्या जो डिब्बे मे साथ न बैठे · कोई छुरा भोंक दे तो अगले स्टेशन तक बैठी रहना कि कोई आ कर खिडकी के सामने खडा हो कर पूछेगा, 'किसी चीज की जरूरत तो नही ···'

उस ने कहा, "मेरे भाई हैं···दूसरे डिब्बे मे···"

आबिद ने चमककर कहा, "कहाँ माँ ! मामू तो लाहौर गये हुए हैं। · "

सुरैया ने उसे बडी जोर से डपट कर कहा, "चुप रह !"

थोडी देर बाद सिख ने पूछा, "इटावे मे आप के अपने लोग है ?"

"हाँ।"

सिख फिर चुप रहा। थोडी देर बाद बोला, "आप के भाई को आप के साथ बैठना चाहिए था, आज-कल के हालात म कोई अपनो से अलग बैठता है ?"

सुरैया मन ही मन सोचने लगी कि कही कम्बख्त ताड तो नही गया कि मेरे साथ कोई नहीं है !

सिख ने मानो अपने-आप से ही कहा, "पर मुसीबत मे किसी का कोई नही है, सब अपने ही अपने हैं·· "

गाडी की चाल धीमी हो गयी। छोटा स्टेशन था। सुरैया असमजस मे थी कि उतरे या बैठी रहे ? दो आदमी डिब्बे मे और चढ आये—सुरैया के मन ने तुरन्त कहा, 'हिन्दू' और तब वह सचमुच और भी डर गयी, और थैली-पोटली समेटने लगी।

सिख ने कहा, "आप क्या उतरेंगी ?"

"सोचती हूँ, भाई के पास जा बैठूँ · " क्या जीव है इन्सान कि ऐसे मौके

पर भी झूठ की टट्टी की आड बनाये रखना है···और कितनी झीनी आड, क्योंकि डिब्बा बदलवाने भाई स्वय न आता ? आता कहाँ से, हो तब न ?—

सिख ने कहा, "आप बैठी रहिये। यहाँ आप को कोई डर नहीं है। मैं आप को अपनी बहिन समझता हूँ और इन्हे अपने बच्चे···आप को अलीगढ तक ठीक ठीक मैं पहुँचा दूँगा। उस से आगे खतरा भी नहीं है, और वहाँ से आप के भाई-बद भी गाडी मे आ ही जायेंगे।"

एक हिन्दू ने कहा, "सरदारजी, जाती है तो जाने दो न, आप को क्या ?"

सुरैया न सोच पायी कि सिख की बात को, और इस हिन्दू की टिप्पणी को किस अर्थ मे ले, पर गाडी ने चल कर फैसला कर दिया। वह बैठ गयी।

हिन्दू ने पूछा, "सरदारजी, आप पजाब से आये हो ?"

"जी।"

"कहाँ घर है आप का ?"

"शेखूपुरे मे था। अब यही समझ लीजिये···"

"यही ? क्या मतलब ?"

"जहाँ मैं हूँ, वही घर है ! रेल के डिब्बे का कोना।"

हिन्दू ने स्वर को कुछ सयत कर, जैसे गिलास मे थोडी सी हमदर्दी उँडेल कर सिख की ओर बढाते हुए कहा, "तब तो आप शरणार्थी हैं···"

सिख ने मानो गिलास को 'जी, मैं नही पीता' कह कर ठेलते हुए एक सूखी हँसी हँस कर कहा, जिस की अनुगूँज हिन्दू महाशय के कान नही पकड सके, 'जी!"

हिन्दू महाशय ने तनिक और दिलचस्पी के साथ कहा, "आप के घर के लोगों पर तो बहुत बुरी बीती होगी—"

सिख की आँखो मे एक पल के अश भर के लिए अगार चमक गया, पर वह इस दाने को भी चुगने न बढा। चुप रहा।

हिन्दू न सुरैया की ओर देखते हुए कहा, "दिल्ली म कुछ लोग बताते थे, वहाँ उन्होने क्या क्या जुल्म किये हैं हिन्दुओ और सिखों पर। कैसी कैसी बातें वे बताते थे, क्या बताऊँ, जबान पर लाते शर्म आती है। औरतो को नगा कर के·"

सिख ने अपने पास पोटली बन कर बैठे दूसरे व्यक्ति से कहा, "काका,

तुम ऊपर चढ कर सो रहो।" स्पष्ट ही वह सिख का लडका था, और जब उस ने आदेश पा कर उठ कर अपने सोलह-सत्रह बरस के छरहरे बदन को अँगडाई मे सीधा कर के ऊपरी बर्थ की ओर देखा, तब उस की आँखो मे भी पिता की आँखो का प्रतिबिंब झलक आया। वह ऊपरी बर्थ पर चढ कर लेट गया, नीचे सिख न अपनी टाँगें सीधी की और खिडकी से बाहर की ओर देखने लगा।

हिन्दू महाशय की बात बीच मे रुक गयी थी, उन्होने फिर आरभ किया, "बाप-भाइयो के सामने ही बेटियो-बहिनो को नगा कर के··।'

सिख ने कहा, "बाबू साहब, हम ने जो देखा है वह आप हमी को क्या बतायेंगे " इस बार वह अनुगूज पहले ही स्पष्ट थी, लेकिन हिन्दू महाशय ने अब भी नही सुनी। मानो शह पा कर बोले, "आप ठीक कहते है ' हम लोग भला आपका दु ख कैसे समझ सकते हैं ! हमदर्दी हम कर सकते हैं, पर हमदर्दी भी कैसी जब दर्द कितना बडा है यही न समझ पायें ! भला बताइये, हम कैसे पूरी तरह समझ सकते है कि उन सिखो के मन पर क्या बीती होगी जिन की आँखो के सामने उन की बहू-बेटियो को·· "

सिख ने सयम से काँपते हुए स्वर मे कहा, "बहू-बेटियाँ सब की होती हैं, बाबू साहब।"

हिन्दू महाशय तनिक-से अप्रतिभ हुए कि सरदार की बात का ठीक आशय उनकी समझ मे नही आ रहा। किन्तु अधिक देर तक नही। बोले, 'अब तो हिन्दू-सिख भी चेते है। बदला लेना बुरा है, लेकिन कहाँ तक कोई सहेगा ? इधर दिल्ली म तो उन्होने डट कर मोर्चे लिये है, और कही-कही तो ईंट का जवाब पत्थर से देनेवाली मसल सच्ची कर दिखायी है। सच पूछो तो इलाज ही यह है। सुना है करौल बाग मे किसी मुसलमान डाक्टर की लडकी को···"

अब की बार सिख की वाणी म कोई अनुगूँज नही थी, एक प्रकट और रडकनेवाली रुखाई थी। बोला, "बाबू साहब, औरत की बेइज्जती सब के लिए शर्म की बात है। और बहिन· " यहाँ सिख सुरैया की ओर मुखातिब हुआ, "आप से माफी माँगता हूँ कि आप को यह सुनना पड रहा है।"

हिन्दू महाशय ने अचकचा कर कहा, 'क्या-क्या, क्या-क्या ? मैने इन से कुछ थोडे ही कहा है ?" फिर मानो अपने को कुछ सँभालते हुए, और ढिठाई से कहा, 'ये—आप के साथ हैं ?"

सिख ने और भी रुखाई से कहा, "जी ! अलीगढ तक मैं पहुँचा रहा हूँ।"

सुरैया के मन मे किसी ने कहा, 'यह बिचारा शरीफ आदमी अलीगढ जा रहा है ! अलीगढ-अलीगढ'' ' उस ने साहस कर के पूछा, "आप अलीगढ उतरेंगे ?"

"हाँ।"

"वहाँ कोई है आप के ?"

"मेरा कहाँ कौन है ? लडका तो मेरे साथ है।"

"वहाँ कैसे जा रहे हैं ? रहेंगे ?"

"नही, कल लौट आऊँगा।"

"तो'''तफरीहन जा रहे हैं।"

"तफरीह !" सिख ने खोये-से स्वर मे कहा, "तफरीह !" फिर सँभल कर, "नही, हम कही नही जा रहे—अभी सोच रहे हैं कि कहाँ जायें—और जब टिकाऊ कुछ न रहे, तब चलती गाडी मे ही कुछ सोचा जा सकता है'''"

सुरैया के मन मे फिर किसी ने कोंच कर कहा, 'अलीगढ' 'अलीगढ''' बेचारा शरीफ है''''

उस ने कहा, "अलीगढ'''अच्छी जगह नहीं है। आप क्यो जाते है ?"

हिन्दू महाशय ने भी कहा, जैसे किसी पागल पर तरस खा रहे हो, "भला पूछिए' "

"मुझे क्या अच्छी और क्या बुरी !"

"फिर भी—आप को डर नही लगता ? कोई छुरा ही मार दे रात मे''''"

सिख ने मुसकरा कर कहा, "उसे कोई नजात समझ सकता है, यह आप ने कभी सोचा है ?"

"कैसी बातें करते हैं आप !"

"और क्या ! मारेगा भी कौन ? या मुसलमान, या हिन्दू। मुसलमान मारेगा, तो जहाँ घर के और सब लोग गये हैं वही मैं भी जा मिलूँगा, और अगर हिन्दू मारेगा, तो सोच लूँगा कि यही कसर बाकी थी—देश मे जो बीमारी फैली है वह अपने शिखर पर पहुँच गयी—और अब तन्दुरुस्ती का रास्ता शुरू होगा।"

"मगर भला हिन्दू क्यों मारेगा ? हिन्दू लाख बुरा हो, ऐसा काम नहीं करेगा···"

सरदार को एकाएक गुस्सा चढ आया · उस ने तिरस्कारपूर्वक कहा, "रहने दीजिए, बाबू साहब ! अभी आप ही जैसे रस ले-ले कर दिल्ली की बातें सुना रहे थे—अगर आप के पास छुरा होता और आपको अपने लिए कोई खतरा न होता, तो आप क्या—अपने साथ बैठी सवारियों को बख्श देते ? इन्हे—या मैं बीच म पडता तो मुझे ?" हिन्दू महाशय कुछ बोलने को हुए पर हाथ के अधिकारपूर्ण इशारे से उन्हें रोकते हुए सरदार कहता गया, "अब आप सुनना ही चाहते है तो सुन लीजिये कान खोल कर। मुझ से आप हमदर्दी दिखाते हैं कि मैं आप का शरणार्थी हूँ। हमदर्दी बडी चीज़ है, मैं अपने को निहाल समझता अगर आप हमदर्दी देने के काबिल होते। लेकिन आप मेरा दर्द कैसे जान सकते हैं, जब आप उसी साँस मे दिल्ली की बातें ऐसे बेदर्द ढग से करते है ? मुझ से आप हमदर्दी कर सकते होते—इतना दिल आप मे होता तो जो बातें आप सुनाना चाहते हैं उन से शर्म के मारे आप की ज़बान बद हो गयी होती—सिर नीचा हो गया होता ! औरत की बेइज्ज़ती औरत की बेइज्ज़ती है, वह हिन्दू या मुसलमान की नहीं, वह इन्सान की माँ की बेइज्ज़ती है। शेखूपुरे मे हमारे साथ जो हुआ सो हुआ—मगर मैं जानता हूँ कि उस का मैं बदला कभी नहीं ले सकता—क्योंकि उस का बदला हो ही नहीं सकता ! मैं बदला दे सकता हूँ—और वह यही, कि मेरे साथ जो हुआ है, वह और किसी के साथ न हो। इसी लिए दिल्ली और अलीगढ के बीच इधर और उधर लोगों को पहुँचाता हूँ मैं, मेरे दिन भी कटते हैं और कुछ बदला चुका भी पाता हूँ, और इसी तरह, अगर कोई किसी दिन मार देगा तो बदला पूरा हो जायेगा—चाहे मुसलमान मारे, चाहे हिन्दू ! मेरा मकसद तो इतना है कि चाहे हिन्दू हो, चाहे सिख हो, चाहे मुसलमान हो, जो मैंने देखा है वह किसी को न देखना पडे, और मरने से पहले मेरे घर के लोगों की जो गति हुई, वह परमात्मा न करे, किसी की बहू-बेटियों को देखनी पडे !"

इस के बाद बहुत देर तक गाडी मे बिलकुल सन्नाटा रहा। अलीगढ के पहले जब गाडी धीमी हुई तब सुरैया ने बहुत चाहा कि सरदार से शुक्रिया के दो शब्द कह दे, पर उस के मुँह से भी बोल नहीं निकला।

सरदार ने ही आधे उठ कर ऊपर के बर्थ की ओर पुकारा, "काका, उठ, अलीगढ आ गया है।" फिर हिन्दू महाशय की ओर देख कर बोला, "बाबू साहब, कुछ कड़ी बात कह गया हूँ तो माफ करना, हम लोग तो आप की सरन हैं।"

हिन्दू महाशय की मुद्रा से स्पष्ट दीखा कि वहाँ वह सिख न उतर रहा होता तो वे स्वय उतर कर दूसरे डिब्बे मे जा बैठते।

जय-दोल

•

लेफ्टिनेंट सागर ने अपना कीचड से सना चमड़े का दस्ताना उतार कर, ट्रक के दरवाज़े पर पटकते हुए कहा, "गुरुँग, तुम गाडी के साथ ठहरो, हम कुछ बन्दोबस्त करेगा।"

गुरुँग सडाक् से जूतों की एडियाँ चटका कर बोला, "ठीक ए सा'ब !"

साँझ हो रही थी। तीन दिन मूसलाधार बारिश के कारण नवगाँव मे रुके रहने के बाद, दोपहर को थोडी देर के लिए आकाश खुला तो लेफ्टिनेंट सागर ने और देर करना ठीक न समझा। ठीक क्या न समझा, आगे जाने के लिए वह इतना उतावला हो रहा था कि उस ने लोगो की चेतावनी को अनावश्यक सावधानी माना, और यह सोच कर कि वह कम से कम शिवसागर तो जा ही रहेगा रात तक, वह चल पडा था। जोरहाट पहुँचने तक शाम हो गयी थी, पर उसे शिवसागर क मन्दिर देखने का इतना चाव था कि वह रुका नही, जल्दी से चाय पी कर आगे चल पडा। रात जोरहाट मे रहे तो सवेरे चल कर सीधे डिबरूगढ जाना होगा, रात शिवसागर म रह कर सवेरे वह मन्दिर और ताल को देख सकेगा। शिवसागर, रुद्रसागर, जयसागर—कैसे सुन्दर नाम है। सागर कहलाते है तो बडे-बडे ताल होगे—और प्रत्येक के किनारे पर बना मन्दिर कितना सुन्दर दीखता होगा 'असमिया लोग है भी बडे साफ-सुथरे, उन के गाँव इतने स्वच्छ होते है तो मन्दिरो का क्या कहना' 'शिव-दोल, रुद्र दोल कहना कैसी सुन्दर कवि-कल्पना है। सचमुच जब ताल के जल मे, मन्द-मन्द हवा से सिहरती चाँदनी मे, मन्दिर की कुहासे-सी परछाई दोलती होगी, तब मन्दिर सचमुच सुन्दर हिंडोले-सा दीखता होगा'' इसी उत्साह को लिये लिए वह वढता जा रहा था—तीस-पैंतीस मील का क्या है—

घण्टे-भर की बात है···

लेकिन सात-एक मील बाकी थे कि गाडी कच्ची सडक के कीचड मे फँस गयी। पहले तो स्टीयरिंग ऐसा मक्खन-सा नरम चला, मानो गाडी नही नाव की पतवार हो, और नाव बडे-से भँवर मे हचकोले खाती झूम रही हो, फिर लेफ्टिनेंट के सँभालते-सँभालते गाडी धीमी हो कर रुक गयी, यद्यपि पहियो के घूमते रह कर कीचड उछालने की आवाज आती रही···

इस के लिए साधारणत. तैयार होकर ही ट्रक चलते थे। तुरन्त बेलचा निकाला गया, कीचड साफ करने की कोशिश हुई लेकिन कीचड गहरा और पतला था, बेलचे का नही, पम्प का काम था! फिर टायरो पर लोहे की जजीरें चढायी गयी। पहिये घूमने पर कही पकडने को कुछ मिले तो गाडी आगे ठिले—मगर चलने की कोशिश पर लीक गहरी कटती गयी और ट्रक धँसता गया, यहाँ तक कि नीचे का गीयर-बक्स भी कीचड मे डूबने को हो गया···मानो इतना काफी न हो, तभी इजन ने दो-चार बार फट्-फट्-फटर का शब्द किया और चुप हो गया—फिर स्टार्ट ही न हुआ···

अँधेरे मे गुरुँग का मुँह नही दीखता था और लेफ्टिनेंट ने मन-ही-मन सन्तोष किया कि गुरुँग को उस का मुँह नही दीखता होगा···गुरुँग गोरखा था और फौजी गोरखों की भाषा कम-से-कम भावना की दृष्टि से गूँगी होनी है मगर आँखें या चेहरे की झुर्रियाँ सब समय गूँगी नही होती···और इस समय अगर उन मे लेफ्टिनेंट सा'ब की भावुक उतावली पर विनोद का आभास भी दीख गया, तो दोनो मे मूक वैमनस्य की एक दीवार खडी हो जायेगी···

तभी सागर ने दस्ताने फेंक कर कहा, "हम कुछ बन्दोबस्त करेगा," और पिच्च-पिच्च कीचड मे जमा-जमा कर बूट रखता हुआ आगे चढ चला।

कहने को तो उस ने कह दिया, पर वह बन्दोबस्त करेगा क्या रात मे? बादल फिर घिरने लगे; शिवसागर सात मील है तो दूसरे सागर भी तीन-चार मील तो होंगे और क्या जाने कोई बस्ती भी होगी कि नही, और जयसागर तो बडे बीहड मैदान के बीच मे है···उस ने पढा था कि उस मैदान के बीच मे ही रानी जयमती को यन्त्रणा दी गयी थी कि वह अपने पति का पता बता दे। पाँच लाख आदमी उसे देखने इकट्ठे हुए थे, और कई दिनो तक रानी को सारी जनता के सामने सताया और अपमानित किया गया था।

ने अनुमान किया, तीस-पैंतीस सीढ़ियाँ होंगी···सीढ़ियाँ चढ़कर वह असली ड्योढ़ी तक पहुँचेगा।

ऊपर चढ़ते-चढ़ते हवा चीख उठी। कई मेहराबों से मानो उस ने गुर्रा कर कहा, "कौन हो तुम, इतनी रात गये मेरा एकान्त भग करने वाले ?" विरोध के फूत्कार का यह थपेडा इतना सच्चा था कि सागर मानो फुसफुसा ही उठा, 'मैं.. सागर, आसरा ढूँढता हूँ—रैनबसेरा—"

पोपले मुँह का बूढ़ा जैसे खिखिया कर हँसे, वैसे ही हवा हँस उठी। "ही—ही—ही—ही—खी—खी—खी। यह हवा महल है, हवा-महल—अहोम राजा का लीलागार—अहोम राजा का—व्यसनी, विलासी, छहों इन्द्रियों से जीवन की लिसडी बोटी से छहों रसों को चूस कर उसे झँझोड कर फेंक देने वाले नृशस लीलापिशाचों का—यहाँ आसरा—यहाँ बसेरा···ही—ही—ही—खी—खी—खी।"

सीढ़ियों की चोटी से मेहराबों के तले खडे सागर ने नीचे और बाहर की ओर देखा। शून्य, महाशून्य, बादलों से, बादलों मे बसी नमी और ज्वाला से प्लवन, वज्र और बिजली से भरा हुआ शून्य। क्या उसी की गुर्राहट हवा मे है, या कि नीचे फैले नगे पठार की, जिस के चूतडों पर दिन भर सड-सड पानी के कोडों की बौछार पडती रही है? उसी पठार का आक्रोश, सिसकन, रिरियाहट?

इसी जगह, इसी मेहराब के नीचे खडे कभी अधनगे अहोम राजा ने अपने गठीले शरीर को दर्प से अकडा कर, सितार की खूँटी की तरह उमेठ कर, बायें हाथ के अँगूठे को कमरबन्द मे अटका कर, सीढ़ियों पर खडे क्षत शरीर राजकुमारों को देखा होगा, जैसे कोई साँड खसिया बैलों के झुड को देखे, फिर दाहिने हाथ की तर्जनी को उठा कर दाहिने भ्रू को तनिक सा कुचित कर के सकेत से आदेश किया होगा कि यन्त्रणा को और कडी होने दो।

लेफ्टिनेंट सागर की टाँगें मानो शिथिल हो गयी। वह सीढ़ी पर बैठ गया, पैर उस ने नीचे को लटका दिये, पीठ मेहराब के निचले हिस्से से टेक दी। उस का शरीर थक गया था दिन भर स्टीयरिंग पर बैठे-बैठे, और पौने दो सौ मील तक कीचड की सडक मे बनी लीकों पर आँखें जमाये रहने से आँखें भी ऐसे चुन-चुना रही थी मानो उन मे बहुत बारीक पिसी हुई रेत डाल दी गयी हो—

आँखें बन्द भी वह करना चाहे और बन्द करने मे क्लेश भी हो—वह आँख खुली रख कर ही किसी तरह दीठ को समेट ले, या बन्द करके देखता रह सके तो···

अहोम राजा चूलिक-फा· राजा मे ईश्वर का अश होता है, ऐसे अन्ध-विश्वास पालनेवाली अहोम जाति के लिए यह मानना स्वाभाविक ही था कि राजकुल का अक्षत-शरीर व्यक्ति ही राजा हो सकता है, जिस के शरीर मे कोई क्षत है, उस मे देवत्व का अश कैसे रह सकता है ? देवत्व—और क्षुण्ण ? नही। ईश्वरत्व अक्षुण्ण ही होता है, और राज शरीर अक्षत·

अहोम-परम्परा के अनुसार कुल-घात के सेतु से पार हो कर चूलिक-फा भी राजसिहासन पर पहुँचा। लेकिन वह सेतु सदा के लिए खुला रहे, इस के लिए उस ने एक अत्यन्त नृशस उपाय सोचा। अक्षत शरीर राजकुमार ही राजा हो सकते हैं, अत सारे अक्षत शरीर राजकुमार उस के प्रतिस्पर्धी और सम्भाव्य घातक हो सकते हैं। उन के निराकरण का उपाय यह है कि सब का एक-एक कान या छिगुनी कटवा ली जाये—हत्या भी न करनी पडे, मार्ग के रोडे भी हट जायें। लाठी न टूटे, साँप भी मरे नही पर उस के विषदन्त उखड जायें। क्षत शरीर, कनकटे या छिगुनी-कटे राजकुमार राजा हो ही नही सकेंगे, तब उन्हें राज-घात का लोभ भी न सतायेगा।

चूलिक-फा ने सेनापति को बुला कर गुप्त आज्ञा दी कि रात मे चुपचाप राजकुल के प्रत्येक व्यक्ति के कान (या छिगुनी) काट कर प्रात काल दरबार मे राज चरणो म अर्पित किये जायें।

और प्रात काल वही, रग महल की सीढियो पर उस के चरणो मे यह बीभत्स उपहार चढाया गया होगा—और उस ने उसी दर्प भरी अवज्ञा में, होंठो की तार सी तनी पतली रेखा को तनिक मीड-सी दे कर, शब्द किया होगा, 'हूँ' और रक्त-सने थाल को पैर से तनिक-सा ठुकरा दिया होगा।

चूलिक-फा—निष्कटक राजा। लेकिन नही, यह तीर-सा कैसा साल गया ? एक राजकुमार भाग गया—अक्षत !

लेफ्टिनेंट सागर मानो चूलिक-फा के चीत्कार को स्पष्ट सुन सका ! अक्षत ! भाग गया ?

वहाँ सामने—लेफ्टिनेंट ने फिर आँखो को कस कर बादलो की दरार को

भेदने की कोशिश की—वहाँ सामने कही नगा पर्वत श्रेणी है। वनवासी वीर नगा जातियो स अहोम राजाओ की कभी नही बनी—वे अपने पर्वतो के नगे राजा थे, ये अपनी समतल भूमि के कौशेय पहन कर भी अधनगे रहनेवाले महाराजा, पीढियो के युद्ध के बाद दोनो ने अपनी-अपनी सीमाएँ बाँध ली थी और कोई किसी से छेड-छाड नहीं करता था—केवल सीमा प्रदेश पर पडने वाली नमक की झीलो के लिए युद्ध होता था, क्योकि नमक दोनो को चाहिए था। पर अहोम राजद्रोही नगा जातियो के सरदार के पास आश्रय पायें—असह्य है! असह्य!

हवा ने सायँ सायँ कर के दाद दी 'असह्य। मानो चूलिक-फा के विवश क्रोध की लम्बी साँस सागर की देह को छू गयी—यही खडे हो कर उस ने वह साँस खीची होगी—उस मेहराब ही की ईंट-ईंट मे तो उस के सुलगते वायु-कण बसे होगे?

लेकिन जायेगा कहाँ! उसकी वधू तो है? वह जानेगी उस का पति कहाँ है, उसे जानना होगा! जयमती अहोम राज्य की अद्वितीय सुन्दरी—जनता की लाडली—होने दो! चूलिक-फा राजा है, वह शत्रु-विहीन निष्कण्टक राज्य करना चाहता है। जयमती को पति का पता देना होगा—उसे पकड-वाना होगा—चलिक फा उस का प्राण नही चाहता, केवल एक कान चाहता है, या एक छिगुनी—चाहे बायें हाथ की भी छिगुनी! क्यो नही बतायेगी जयमती? वह प्रजा है, प्रजा की हड्डी बोटी पर भी राजा का अधिकार है!

बहुत ही छोटे एक क्षण के लिए चाँद झलक गया। सागर ने देखा, सामने खुला, आकारहीन, दिशाहीन, मानातीत निरा विस्तार, जिस मे नरमलो की सायँ-सायँ, हवा का असख्य कराहटो के साथ रोना, उसे घेरे हुए महराबो की क्रुद्ध साँसो की सी फुँफकार ''चाँद फिर छिप गया और पानी की नयी बौछार के साथ सागर ने आँखें बन्द कर ली असख्य सहमी हुई कराहे, और पानी की मार ऐसे जैसे नगे चूतडो पर स-दिया प्रान्त के लचील बेतो की सडाक्-सडाक्। स दिया अर्थात् शव दिया, कब किस का शव वहाँ मिलता था याद *नही आता, पर था शव ज़रूर—किस का शव*

नही, जयमती का नही। वह तो—वह तो उन पाँच लाख बेबस देखने-वालो के सामने एक लकडी के मच पर खडी है, अपनी ही अस्पृश्य लज्जा मे,

अभेद्य मौन में, अटूट संकल्प और दुर्दमनीय स्पर्द्धा में लिपटी हुई, सात दिन की भूखी-प्यासी, धास और रक्त की कीच से लथपथ, लेकिन, शेषनाग के माथे में ठुकी हुई कीलों की भाँति अडिग, आकाश को छूने वाली प्रांत-शिखा-सी निष्कम्प ...

लेकिन यह क्या ? सागर तिलमिला कर उठ बैठा। मानो अँधेरे में भुतहीं-सी दीख पड़नेवाली वह लाखों की भीड़ भी काँप कर फिर जड़ हो गयी—जयमती के गले में एक बड़ी तीखी करुण चीख निकल कर भारी वायु मंडल को भेद गयी—जैसे किसी थुलथुल कछुए के पेट को मछेरे की बर्छी ... सागर ने बड़े ज़ोर से मुट्ठियाँ भींच लीं ... क्या जयमती टूट गयी ? नहीं, यह नहीं हो सकता, नरसलों की तरह बिना रीढ़ के गिरती पड़ती इस लाख जनता के बीच वही तो देवदारु-सी तनी खड़ी है, मानवता की ज्योति-शलाका ...

सहसा उस के पीछे से एक दृप्त, रूखी, अवज्ञा-भरी हँसी से पीतल की तरह झनझनाते स्वर ने कहा, 'मैं राजा हूँ।"

सागर ने चौंक कर मुड़ कर देखा—सुनहला रेशमी वस्त्र, रेशमी उत्तरीय, सोने की कंठी और बड़े-बड़े अनगढ़ पन्नों की माला पहने भी अधनंगा एक व्यक्ति उस की ओर ऐसी दया-भरी अवज्ञा से देख रहा था, जैसे कोई राह-किनारे के कृमि कीट को देखे। उस का सुगठित शरीर, छेनी से तराशी हुई चिकनी मांसपेशियाँ, दर्प-स्फीत नासाएँ तेल से चमक रही थीं, आँखों की कोर में लाली थी जो अपनी अलग बात कहती थी—मैं मद भी हो सकती हूँ, गर्व भी, विलास-लोलुपता भी, और निरी नृशंस नर-रक्त-पिपासा भी ...

सागर टुकुर-टुकुर देखता रह गया। न उठ सका, न हिल सका। वह व्यक्ति फिर बोला, "जयमती ? हुँ, जयमती।" अँगूठे और तर्जनी की चुटकी बना कर उसने झटक दी, मानो हाथ का मैल कोई मसल कर फेंक दे। बिना क्रिया के भी वाक्य सार्थक होता है, कम से कम राजा का वाक्य ...

सागर ने कहना चाहा, "नृशंस ! राक्षस !" लेकिन उस की आँखों की सानी में एक बाध्य करनेवाली प्रेरणा थी, सागर ने उसकी दृष्टि का अनुसरण करते हुए देखा, जयमती सचमुच लड़खड़ा गयी थी। चीख़ने के बाद उस का शरीर ढीला हो कर लटक गया था, कोड़ों की मार रुक गयी थी, जनता साँस रोके सुन रही थी...

सागर ने भी साँस रोक ली। तब मानो स्तब्धता में उसे अधिक स्पष्ट दीखने लगा, जयमती के सामने एक नगा बाँका खडा था, सिर पर कलगी, गले मे लकडी के मुडो की माला, मुंह पर रग की व्याघ्रोपम रेखाएँ, कमर मे घास की चटाई की कौपीन, हाथ मे बर्छी। और वह जयमती से कुछ कह रहा था।

सागर के पीछे एक दर्प-स्फीत स्वर फिर बोला, "चूलिक-फा के विधान में हस्तक्षेप करनेवाला वह ढीठ नगा कौन है?" पर सहसा उस नगे व्यक्ति का स्वर सुनाई पडने लगा और सब चुप हो गये...

"जयमती, तुम्हारा साहस धन्य है। जनता तुम्हे देवी मानती है। पर और अपमान क्यो सहो? राजा का बल अपार है—कुमार का पता बता दो और मुक्ति पाओ!"

अब की बार रानी चीखी नही। शिथिल-शरीर, फिर एक बार कराह कर रह गयी।

नगा वीर फिर बोला, "चूलिक-फा केवल अपनी रक्षा चाहता है, कुमार के प्राण नही। एक कान दे देने म क्या है? या छिगुनी? उतना तो कभी खेल मे या मल्ल-युद्ध मे भी जा सकता है।"

रानी ने कोई उत्तर नही दिया।

"चूलिक फा डरपोक है, डर नृशस होता है। पर तुम कुमार का पता बता कर अपनी मान-रक्षा और पति की प्राण-रक्षा कर सकती हो।"

सागर ने पीछे सुना, "हूँ", और मुड कर देखा, उस व्यक्ति के चेहरे पर एक क्रूर-कुटिल मुसकान खेल रही है।

सागर ने उद्धत हो कर कहा, "हूँ! क्या?"

वह व्यक्ति तनकर खडा हो गया, थोडी देर सागर की ओर देखता रहा, मानो सोच रहा हो, इसे क्या उत्तर दे? फिर और भी कुटिल ओठो के बीच से बोला, "मैं चलिका फा, डरपोक! अभी जानेगा। पर अभी तो मेरे काम की कह रहा है—"

नगा वीर जयमती के और निकट जा कर धीरे-धीरे कुछ कहने लगा। चूलिक फा ने भौं सिकोड कर कहा, 'क्या फुसफुसा रहा है?"

सागर ने आगे झुक कर सुन लिया।

"जयमती, कुमार तो अपने मित्र नगा सरदार के पास सुरक्षित है।

चूलिक-फा तो उसे पकड ही नहीं सकता, तुम पता बता कर अपनी रक्षा क्यों न करो ? देखो, तुम्हारी कोमल देह—"

आवेश मे सागर खडा हो गया, क्योंकि उस कोमल देह में एक बिजली-सी दौड गयी और उस ने तन कर, सहसा नगा वीर की ओर उन्मुख हो कर कहा, 'कायर, नपुसक !—तुम नगा कैसे हुए ? कुमार तो अमर है, कीडा चूलिक-फा उन्हें कैसे छुएगा ? मगर लोग क्या कहेंगे, कुमार की रानी जयमती ने देह की यन्त्रणा से घबडा कर उन का पता बता दिया ? हट जाओ, अपना कलकी मुँह मेरे सामने से दूर करो !"

जनता मे तीव्र सिहरन दौड गयी। नरसल बडी जोर से काँप गये, गँदले पानी म एक हलचल उठी जिस मे लहराते गोल वृत्त फैले कि फैलते ही गये, हवा फुँफकार उठी, बडे जोर की गडगडाहट हुई। मेघ और काले हो गये—यह निरी रात है कि महानिशा, कि यन्त्रणा की रात—सातवी रात, कि नवी रात ? और जयमती क्या अब बोल भी सकती है, क्या यह उस के दृढ सकल्प का मौन है, कि अशक्तता का ? और यह वही भीड है, नयी भीड, वही नगा वीर, कि दूसरा कोई, कि भीड मे कई नगे बिखरे हैं ··

चूलिक-फा ने कटु स्वर मे कहा, "फिर आया वह नगा ?"

नगा वीर ने पुकार कर कहा, "जयमती ! रानी जयमती !"

रानी हिली-डुली नही।

वीर फिर बोला, "रानी ! मैं उसी नगा सरदार का दूत हूँ, जिस के यहाँ कुमार ने शरण ली है। मेरी बात सुनो !"

रानी का शरीर काँप गया। वह एकटक आँखों से उसे देखने लगी, कुछ बोली नही। सकी नही।

'तुम कुमार का पता दे दो। सरदार उस की रक्षा करेंगे। वह सुरक्षित है।"

रानी की आँखो में कुछ घना हो आया। बडे कष्ट से उसने कहा, "नीच !" एक बार उसने ओठो पर जीभ फेरी, कुछ और बोलना चाहा, पर सकी नही।

चूलिक फा ने वहीं से आदेश दिया, "पानी दो इसे—बोलने दो !"

किसी ने रानी के ओठो की ओर पानी बढाया। वह थोडी देर मिट्टी के कसोरे की ओर वितृष्ण दृष्टि से देखती रही, फिर उस ने आँख भरकर नगा

युवक की ओर देखा, फिर एक घूंट पी लिया। तभी चूलिका-फा ने कहा, "बस, एक-एक घूंट, अधिक नही।"

रानी ने एक बार दृष्टि चारो ओर लाख-लाख जनता की ओर दौडायी। फिर आँखें नगा युवक पर गडा कर बोली, "कुमार सुरक्षित है। और कुमार की यह लाख-लाख प्रजा—जो उन के लिए आँखें विछाये है—एक नेता के लिए जिस के पीछे चल कर आततायी का राज्य उलट दे—जो एक आदर्श मांगती है—मैं उस की आशा तोड दूं—उसे हरा दूं—कुमार को हरा दूं?"

वह क्षण-भर चुप हुई। चूलिक-फा ने एक बार आँख दौडा कर सारी भीड को देख लिया। उस की आँख कही टिकी नही···मानो उस भीड मे उसे टिकने लायक कुछ नही मिला, जैसे रेंगते कीडो पर दीठ नही जमती···

नगा ने कहा, "प्रजा तो राजा चूलिक-फा की है न?"

रानी ने फिर उसे स्थिर दृष्टि से देखा। फिर धीरे-धीरे कहा, "चूलिक—" और फिर कुछ ऐसे भाव से अधूरा छोड दिया कि उस के उच्चारण से मुँह दूषित हो जायेगा। फिर कहा, "यह प्रजा कुमार की है—जाकर नगा सरदार से कहना कि कुमार—" वह फिर रुक गयी। "पर तू—तू तो नगा नही, तू तो उस—उस गिद्ध की प्रजा है—जा, उस के गन्दे पजे को चाट!"

रानी की आँखें चूलिक-फा की ओर मुडी, पर उस की दीठ ने उसे छुआ नही, जैसे किसी गिलगिली चीज की ओर आँखें चढाने मे भी घिन आती है··

नगा ने मुस्करा कर कहा, "कहाँ है मेरा राजा!"

चूलिक-फा ने वही से पुकार कर कहा, "मैं यह हूँ—अहोम राज्य का एकछत्र शासक!"

नगा युवक सहसा उसके पास चला आया।

सागर ने देखा, भीड का रग बदल गया है। वैसा ही अन्धकार, वैसा ही अथाह प्रसार, पर उस मे जैसे कही व्यवस्था, भीड मे जगह-जगह नया दर्शक बिखरे, पर बिखरेपन मे भी एक माप ·

नगा ने पास से कहा, "मेरे राजा!"

एकाएक बडे जोर की गडगडाहट हुई। सागर खडा हो गया···उस ने आँखें फाड कर देखा, नगा युवक सहसा बर्छी के सहारे कई-एक सीढियाँ फाँद कर

चूलिक फा के पास पहुँच गया है, बर्छी सीढी की ईंटो की दरार मे फँसी रह गयी है, पर नगा चूलिक फा को धक्के से गिरा कर उस की छाती पर चढ गया है, उधर जनता मे एक बिजली कडक गयी है, "कुमार की जय !" किसी ने फाँद कर मच पर चढ कर कोडा लिये जल्लादो को गिरा दिया है, किसी ने अपना अग-वस्त्र जयमती पर डाला है और कोई उस के बन्धन की रस्सी टटोल रहा है···

पर चूलिक-फा और नगा · सागर मन्त्र-मुग्ध-सा खडा था, उस की दीठ चूलिक फा पर जमी थी·· सहसा उस ने देखा, नगा तो निहत्था है, पर नीचे पडे चूलिक-फा के हाथ म एक चन्द्राकार डाओ है जो वह नगा के कान के पीछे साध रहा है—नगा को ध्यान नही है, मगर चूलिक फा की आँखो मे पहचान है कि नगा और कोई नही, स्वय कुमार है, और वह डाओ साध रहा है···

कुमार छाती पर है, पर मर जायेगा···या क्षत भी हो गया तो चूलिक-फा ही मर गया तो भी, अगर कुमार क्षत हो गया तो—सागर उछला। वह चूलिक फा का हाथ पकड लेगा—डाओ छीन लेगा।

पर वह असावधानी से उछला था, उस का कीचड सना बूट सीढी पर फिसल गया और वह लुढकता पुढकता नीचे जा गिरा।

अब ? चूलिक-फा का हाथ सध गया है, डाओ पर उस की पकड कडी हो गयी है, अब—

लेफ्टिनेण्ट सागर ने वही पडे पडे कमर से रिवाल्वर खीचा और शिस्त ले कर दाग दिया·· धाँय !

धुआँ हो गया। हटेगा तो दीखेगा—पर धुआँ हटता क्यो नही ? आग लग गयी—रग महल जल रहा है, लपटें इधर-उधर दौड रही हैं। क्या चूलिक-फा जल गया ?—और कुमार—क्या यह कुमार की जयध्वनि है ? कि जयमती की—यह अद्भुत, रोमाचकारी गूँज, जिस म मानो वह डूबा जा रहा है, डूबा जा रहा है—नही, उसे सँभलना होगा।

लेफ्टिनेण्ट सागर सहसा जाग कर उठ बैठा। एक बार हक्का-बक्का हो कर चारो ओर देखा, फिर उस की बिखरी चेतना केन्द्रित हो गयी। दूर से दो ट्रको की दो जोडी बत्तियाँ पूरे प्रकाश से जगमगा रही थी और एक से सर्च लाइट

इधर-उधर भटकती हुई रंग-महल की सीढ़ियों को क्षण-क्षण ऐसे चमका देती थी मानो बादलों से पृथ्वी तक किसी वज्र-देवता के उतरने का मार्ग खुल जाता है। दोनों ट्रकों के हॉर्न पूरे जोर से बजाये जा रहे थे।

बौछार से भीगा हुआ बदन झाड़ कर लेफ्टिनेंट सागर उठ खड़ा हुआ। क्या वह रंग महल की सीढ़ियों पर सो गया था? एक बार आँखें दौड़ा कर उस ने मेहराब को देखा, चाँद निकल आया था, मेहराब की ईंटें दीख रही थीं। फिर धीरे-धीरे उतरने लगा।

नीचे से आवाज आयी, "सा'ब, दूसरा गाडी आ गया, टो कर के ले जायेगा!"

सागर ने मुँह उठा कर सामने देखा, और देखता रह गया। दूर चौरस ताल चमक रहा था, जिस के किनारे पर मंदिर भागते बादलों के बीच में काँपता हुआ, मानो शुभ्र चाँदनी से ढका हुआ हिंडोला—क्या एक रानी के अभिमान का प्रतीक, जिस ने राजा को बचाया, या एक नारी के साहस का, जिस ने पुरुष का पथ-प्रदर्शन किया, या कि मानव-मात्र की अदम्य स्वातन्त्र्य-प्रेरणा का अभीत, अजेय जय-दोल?

वे दूसरे

•

हेमन्त कई क्षण तक चुपचाप बालू की ओर देखता रहा। यह नहीं कि उस के मन मे शून्य था, यह भी नहीं कि मन की बात कहने को शब्द बिलकुल ही नही थे, केवल यही कि बालू पर उस के अपने पैरों की जो छाप पड़ी हुई थी—गीली बालू पर, जो चिकनी पाटी की तरह होती है—उस मे उस के लिए एक आकर्षण था जिस मे निरा कौतूहल नही, जिज्ञासा की एक तीखी तात्कालिकता थी। छालियाँ उस के पास तक आ कर लौट जाती थी—क्या कोई बडी लहर आ कर उस छाप को लील जायेगी? क्या एक ही लहर मे वह छाप मिट जायेगी—या कि केवल हलकी पड जायेगी—मिटने के लिए कई लहरो को आना होगा, जिन लहरो को पैदा करने के लिए समुद्र की, पृथ्वी की आन्तरिक हल-चल की, चन्द्र-सूर्य-तारागण के आकर्षण की एक विशेष अन्योन्य-सम्बद्ध स्थिति को बार-बार आना होगा···क्या उस का एक-एक अनैच्छिक पद-चिह्न मिटाने के लिए सारे विश्व-चक्र के एक विशेष आवर्तन की आवश्यकता है?

"कोरा अहकार!" उस ने अपने को झकझोरने के लिए कहा, "कोरा अहकार! इसलिए नही कि बात मूलत झूठ है, इस लिए कि उस को तूल देना झूठ है। झूठ मूलतः तथ्य का नही, आग्रह का, दृष्टि का दोष है: झूठ सच विषयो पर आश्रित सापेक्ष है, तथ्य विषयी से परे और निरपेक्ष है।"

और तब उस ने अपनी साथिन से कहा, "सुधा, मैं कह नही सकता कि मेरे मन मे कितनी ग्लानि है और मैं जानता हूँ कि वह वर्षों तक मुझे खाती रहेगी—मुझे लगता है कि अनुताप का यह बोझ मैं सारा जीवन ढोता रहूँगा। लेकिन—" क्षण भर रुक कर उस ने सुधा के चेहरे की ओर देखा—"लेकिन मैं नही चाहता कि कटुता का बोझ तुम्हें ही ढोना पडे या कि तुम उसे याद भी

रखो। और—"

वह फिर थोडी देर चुप हो गया। इस लिए भी कि आगे वह जो कहना चाहता था, उसे झिझक थी, और इस लिए भी कि वह चाहता था, ठीक इस स्थल पर सुधा उस की बात काट कर कुछ कह दे, जिस से उसे कुछ सहारा मिल जाये।

पर सुधा ने कुछ कहा नहीं। वह पिघली भी नहीं। हेमन्त ने यह आशा तो नहीं की थी कि उस पर भी अनुताप का इतना गहरा बोझ होगा कि उसे उदार बना दे, पर इतने की आशा उस ने शायद की थी कि सुधा में और नहीं तो करुणा का ही इतना भाव होगा कि उस की सच्ची भावना को स्वीकार करा दे। पर सुधा ने जल्दी से मुँह फेर लिया—और हेमन्त ने देखा कि उस फिरते हुए मुँह पर एक मुसकान दौड़ने वाली है—विजय के गर्व की मुसकान—मानो कहती हो कि 'अब जा कर तुम जानोगे, अनुताप की आग में जलोगे तो मुझे शान्ति मिलेगी—तुम, जिस ने मुझे सताया—जलाया—'

ऐसी विदा की उस ने कल्पना नहीं की थी। उसे सहसा लगा कि वह मूर्ख है, महामूर्ख, क्योंकि जब साथ रहना असम्भव पा कर वे अलग हुए, और इतनी कटुता के बाद तलाक हुआ ही, तब और अलग विदा लेना चाहने का क्या मतलब था? क्या यह कलाकार का दम्भ ही नहीं है कि वह पराजय को भी सुघर रूप देना चाहे? अन्त का सौन्दर्य उस की सुचारुता में, सुघराई में नहीं है, करुणा में भी नहीं है वह उस के अपरिहार्य अन्तिमपन और काठिन्य में है अन्त सुन्दर है क्योंकि वह महान् है, क्योंकि हम उस का कुछ नहीं कर सकते, उसे केवल स्वीकार कर सकते हैं।

किन्तु उस का मन नहीं माना। देख कर भी उस ने सुधा की गर्वीली मुसकान देखनी नहीं चाही। क्योंकि यह तो निरी मृत्यु-पूजा है। अन्त इस लिए महान् है कि हम उस के आगे अशक्त हैं?—नहीं, हमारी स्वीकृति का सयम और साहस उसे महत्ता देता है—

और उस ने पूरा साहस बटोर कर अपने मन की बात कह ही डाली, 'और अगर तुम मुझे इतना भूल सको—यानी मेरे साथ की कटुता को—दोबारा विवाह की बात तुम्हारे मन में उठे, तो—तो मुझे बड़ी सान्त्वना मिलेगी—

मेरा अनुताप तब भी मिटेगा या नहीं यह तो नहीं कह सकता, पर इतना तो मान सकूँगा कि मैं सदा के लिए शाप न बना, कि —"

अब सुधा फिर उस की ओर मुड़ी। अब उस ने अपने को वश मे कर लिया था—वह अप्रतिहत मुसकान उस के चेहरे पर नहीं थी। उस ने रूखे स्वर से कहा, "मेरे विवाह की बात सोचने की तुम्हे ज़रूरत नहीं है। हाँ, उस से तुम अपने को अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे, यह तो मैं समझती हूँ।"

हेमन्त थोडी देर बोल ही नहीं सका। फिर जब उस ने सोचा कि शायद अब सकूँ, तब उस ने पाया कि वह चाहता नहीं है। तीन वर्षों की व्यर्थ चेष्टा मे, अलग होने की कटुता मे और फिर तलाक की कानूनी कार्रवाई के ग्लानि-जनक प्रसग मे वह जितना नहीं टूटा था, उतना इस क्षण मे टूट गया। उस ने आँखें फिर पैर की उसी छाप पर टिका ली। एक लहर आ कर उस पर हलके हाथ से लिपाई कर गयी थी, गड्ढे कम गहरे हो गये थे पर छाप का आकार स्पष्ट पहचाना जाता था, बल्कि लहर के पीछे हटने के साथ पैर की छाप मे भरा हुआ पानी एक ओर को मानो मोरचा तोड कर बह निकला था और उधर की बालू मे एक नयी लीक पड गयी थी। इस छाप को मिटाना ही होगा—लहर को आना ही होगा, यह लीक—यह लीक एक अनावश्यक आकस्मिक घटना है जिसे और एक आकस्मिक घटना अवश्य मिटायेगी, नहीं तो सब गलत है, सब व्यवस्था गलत है, कार्य-कारणत्व ही धोखा है—और तब सृष्टि एक आधारहीन, कारणहीन, अर्थहीन नविस्नगति है—पर वह वैसी हो नहीं सकती—

वह आँखो स उस पैर की छाप को पकडे रहेगा। उसमें स्वास्थ्य है—उस के सहारे यथार्थ से उस का सम्बन्ध जुडा है—उस यथार्थ से जिसमे भावनाएँ अर्थ रखती हैं; और सयत हैं, नहीं तो यथार्थ तो सब-कुछ है जो है—पर ऐसा भी हो सकता है कि भावनाएँ ही एक भूल-भूलैया हो जावें—

उस ने फिर कहा, "मैं यहाँ से कटुता की स्मृति भी वापस न ले कर जाऊँगा, यही सोच कर यहाँ आया था। और इसी लिए सागर के किनारे—कि शायद यहाँ अपनी क्षुद्रता उतनी प्यारी न लगे, और—" वह फिर रुक गया, उस के वाक्य की गठन ठीक नहीं थी क्योंकि इस के अर्थ दोनो तरफ लग सकते हैं और वह केवल अपनी क्षुद्रता की बात करना चाहता है। इस वक्त आरोप-अभियोग उस में नहीं है, न होने देना होगा, केवल स्वीकृति...

एक और लहर आयी, जिस के उफनते झाग पैर की छाप के बहुत आगे तक छा गये। जब लहर लौटी, और झाग के बुलबुले बैठ गये, तब हेमन्त ने देखा, छाप मिट गयी है। या कि नहीं, उस की झाईं-सी अभी दीखती है? नहीं, निश्चय ही वह उस का भ्रम है, और कोई कुछ न देख सकता, वह इस लिए देखता है कि उसे याद है—

'याद' है! कितनी घुली हुई मिथ्या छायाओं को हम केवल स्मृति के—स्मरण-भ्रम के!—ज़ोर से सच बनाये रहते हैं! सागर का जो तट मीलों तक फैला है—मीलों क्यों, अगर कोई चीज़ भौतिक यथार्थ के इस छोर से उस छोर तक, इस सीमा से उस सीमा तक, इस असीम से उस असीम तक फैली है तो वह सागर का तट है! उसी पर एक अदृश्य पैर की छाप को मैं 'देख' रहा हूँ, वह भी इतनी स्पष्टता से कि उस से मेरा जीवन बँध रहा है—क्या यह यथार्थ है? क्या देखना यथार्थ है? क्या—

हेमन्त देखता है—

वे दोनों पहाड़ की चोटी पर खड़े हैं। सामने अत्यन्त सुन्दर दृश्य है—छोटी छोटी पहाड़ियों से घिरी हुई-सी झील जो साँझ के आलोक में ऐसी है मानो रंग बिरंगा और मेघिल आकाश ही जम कर नीचे बैठ गया हो, ऊपर पहली शरद् के मेघ जिन्हें डूबते सूरज की आभा ने रँग दिया है—पीला, लाल, धूमिल, बैंगनी। और ऊपर एक अकेला तारा। लेकिन हेमन्त उस दृश्य में नहीं है। वह सुधा के साथ भी नहीं है। वह कहीं और हो, ऐसा नहीं है वह सुधा और हेमन्त को इस परिपार्श्व में जैसे बाहर से देख रहा है, वह भी पीछे से—और सोच रहा है कि उन दोनों की पीठ इस झील और आकाश के परदे पर कैसी दीखती होगी? क्या उन पीठों में, उन छायाकृतियों के परस्पर रखाव झुकाव में इस बात का कोई संकेत है कि ये दो प्रेमी हैं, या कि पति-पत्नी हैं, विवाह के सप्ताह भर बाद ही इस पहाड़ी झील की सैर, एकान्त सैर के लिए आये हैं, इस लिए 'हनीमूनर' युगल हैं? वह जानता है कि ऐसा कोई संकेत नहीं है, क्योंकि यह झूठ है। तथ्य सब ठीक हैं—पर आग्रह की चूक है, भावना की चूक है। और निरा तथ्य तब तक सत्य की अभिधा नहीं पाता जब तक उस के साथ रागात्मक सम्बन्ध न हो•

बल्कि वह साथ भी नहीं है। मानो वह अगर हाथ बढा कर सुधा का हाथ पकड लेगा तो भी उसे छूएगा नहीं, क्योंकि दोनों एक भावात्मक दूरी की चादर मे लिपटे हुए हैं।

सुधा ने धीरे से कहा, "हम यहाँ नहीं होंगे, तब भी वह तारा ऐसा ही चमकेगा। पर जैसे हम आज इसे देख रहे हैं, वैसे और कोई नहीं देखेगा—यह आज इस क्षण का तारा है।"

हेमन्त को थोडा सा अचम्भा हुआ। क्या यह सच है? ऐसे क्षण पर भावुकता क्या जरूरी है? जो सच होता तो मौन मे भी प्रकट होता, वह जब सच नहीं है तो क्या इस बात को भी मौन में ही न छिपे रहना चाहिए? पर यह वह कह भी कैसे सकता है? लेकिन उसे कुछ कहना है, क्योंकि दूसरा जो उत्तर हो सकता है—कि सुधा का हाथ पकड कर धीरे से दबा दिया जाता—वह उत्तर भी झूठ है…

उस ने कहा, "तारे सब के अलग-अलग होते हैं।" इस वाक्य म चाहे जितना जो अर्थ पढा जा सकता है, अधिक या कम …और अपने मन का सच भी उस ने कह दिया है, छिपाया नहीं है…

सुधा ने उस की ओर देखा। क्या हेमन्त को धोखा ही हुआ कि जब देखा, तब पहचान उन आँखों मे नहीं थी, तत्काल बाद आयी—कुछ अचकचाहट के साथ!

सुधा बोली, "क्या सुन्दर मे हम सब अपने-अपने अलगाव डुबा नहीं सकते?"

"सकते हैं। अपने-अपने एकान्त का लय—" और रुक गया। लेकिन मन के भीतर कुछ बोला, "सुन्दर मे, लेकिन एक-दूसरे मे नहीं, एक-दूसरे म नहीं!"

अपने को लय करने के लिए सागर की विशालता से अच्छा और कौन द्रावक मिल सकता है? कितने लोग सागर-तट पर खडे-खडे इयत्ता को उस मे विलीन कर देते होंगे…लेकिन उस से क्या एक-दूसरे के कुछ भी निकट आ सकते होंगे? सागर मे डूब कर भी क्या प्रत्येक चट्टान अलग चट्टान नहीं बनी रहती? जो द्रव नहीं होती, द्रव हो नहीं सकती…

और सागर की छाती, पैर की छाप को मिटाने से पहले उस मे छेद करती है, दरार डालती है, नयी लीक बना देती है…

हेमन्त ने फिर देखा :

नदी पर बजरा धीरे-धीरे बह रहा है। उस के डोलने से, और बाहर लकडी पर पडती माँझी की दबी हुई पद-चाप से ही मालूम हो रहा है कि यह बह रहा है, क्योंकि जहाँ वह बैठा है, वहाँ चारों ओर के परदे खिंचे हुए हैं, बाहर कुछ नही दीख रहा है। कही भी कुछ दीख रहा है, ऐसा नही है, क्योंकि उस का शरीर एक अन्य शरीर से उलझा गुँथा हुआ है और उस गुंथन मे सुलझाव की, तारतम्य की कुछ ऐसी कमी है कि दृष्टि देनेवाली वासना केवल धुआँ द रही है जिस से आँखें कडुआ जाती हैं, क्यो नही सब-कुछ को दृष्टि से बाहर कर के, उस मन्द-मन्द दोलन पर झूलते हुए यह अपर-शरीरत्व का भाव मिटता—क्यो नही—

उस ने किंचित् बल से सुधा का परे को मुडा मुँह अपनी ओर फिराया—कदाचित् उस की आँखो मे आँखें डाल कर दोनो इस खाई को पार कर सकें—लेकिन सुधा की आँखें ज़ोर से भिंची हुई थी—क्यो ? वासना अन्धकार माँगती है शायद, ताकि वह अपनी ज्वालामयी सृष्टि को अपने ढग स देखे, यथार्थ उस मे बाधा न दे—पर बन्द आँखें—क्या वह ज्योति शरीर अधी आँखो मे ही देखा जायेगा ? पर अधी आँखें पृथक् आँखें हैं, और वासना अगर युत नही है तो कुछ नही है—

उस ने भर्राये स्वर मे कहा, "आँखें खोलो—"

वह जान सका कि आँखें खुलने के साथ-साथ सुधा का शरीर सहसा कठोर पड गया है, और वह जान सका कि पहचान उन आँखो मे नही थी, उन आँखो मे था—वह, वह दूसरा, और इसी लिए आँखें बन्द थी। बाहर एक धुएँ का खोल है जो उस भी लपेट लेगा, और भीतर एक ज्योति शरीर जो—जो कहाँ है ? क्या है भी ?

और थोडी देर के लिए नाव का दोलना, गति, हवा, साँस, हृद्‌गति—सब कुछ रुक गया था, और फिर धीरे-धीरे अनजाने वह वासना की गुंजलक खुल गयी थी—साँप मर गया था—हेमन्त अलग जा कर परदा हटा कर बाहर देखने लगा था। नदी-किनारे के गाँव की मुर्गाबियाँ कगार की छाँह म तैरती हुई, और सुधा अपने अस्त व्यस्त कपडो की सलवटें ठीक कर के पास पडी चौकी के फूल सँवारने लगी थी। हेमन्त का मन आत्मग्लानि मे भर आया था—वह जो जानता है उसे क्यो भूल सका, भूल नही सका, क्यों उस की अनदेखी करना चाह

सका ? सुधा की आँखो मे वह दूसरा है, और स्वय उसकी अपनी—क्या उस की आँखो म भी एक परछाईं नही है ? और जब तक है तब तक यह उलझन, यह गुँथन उस ज्योति शरीर का किरण-जाल नही है, केवल साँप की गुजलक है जिस के दश मे केवल मरण है···

और सुधा ने कहा था, 'हेमन्त, तुम मेरी एक इच्छा पूरी करोगे ?"

'क्या ?"

"मैं मेरे लिए शराब ला सकोगे ? मैं शराब पीना चाहती हूँ।"

मुर्गाबियाँ·· कगार के कीचड मे चोच फिचफिचाती हुई मुर्गाबियाँ और उन के आस पास बनते हुए लहरो के वृत्त —जो सागर की लहरो मे घुल जाते हैं, और सागर, वह रेत की पैरो की छाप धीरे-धीरे मिटा देता है।

शराब वह लाया था। मूक विद्रोह से भरा हुआ, पर लाया था। दोपहर को वे खाना खाने बैठे थे, और साथ सुधा ने शराब पीनी चाही थी—पी थी। दोपहर को कोई नही पीता, खाने के साथ कोई नही पीता, कम से कम जिन-व्हिस्की-जैसी भभके की शराबें, और उस ढग से—यह न वे ठीक जानते थे, न वह सोचने की बात थी। क्योंकि वह शराब वातावरण को रगीनी देने, बातचीत को आलोकित करने के लिए नही थी, वह शराब स्वय अपनी इन्द्रियो को थप्पड मार कर सन्न कर देने के लिए थी···हेमन्त देख रहा था; और केवल देखना, वह भी स्त्री को शराब पीते, स्वय ग्लानि-जनक है, इस लिए साथ पी रहा था। और जब उस ने देखा कि सुधा ने बडे निश्चय पूर्वक बहुत-सी अपने ग्लास मे एक साथ ढाल ली है तब मुख्यत इस लिए कि सुधा और न पी सके, उस ने सहसा बोतल उठा कर मुँह को लगा ली थी और सुधा के हाथापाई करते-करते भी सारी पी गया था।

तेज शराबो मे स्वाद यो भी नही होता, और ऐसे पीने मे तो और भी नही, उसे बडी जोर से उबकाई आयी थी, पर उस ने किसी तरह उसे दबा कर चार-छह ग्रास खाना खा ही लिया था···

फिर उस की चेतना भी कुछ मन्द पड गयी थी। याद सब-कुछ है, और उस की प्रत्येक हरकत मे एक स्पष्ट प्रेरणा भी काम कर रही थी जिस का उसे ध्यान भी था, पर जैसे उस के भीतर का कोई उच्चतर सचालक हथौडे की चोट से चित हो गया हो, और ऐरे-गैरो की बन आयी हो···उस ने उठ कर

और किनारा—ये उसे अलग-अलग पहचानने होंगे—इन्हें पृथक् कर के ही वह उस काम में सफलता की आशा कर सकता है जिसे उसे उठाना ही है, असफलता का जोखिम उठा कर भी हाथ लगाना ही है—यद्यपि असफल उसे नहीं होना है—असफलता की गुंजाइश छोड़ सकने लायक गुंजाइश उस की सहनशक्ति में नहीं है···

वह, वह—क्या वह क्षितिज-रेखा है—जल-रेखा है ? क्या वह उस का भ्रम है कि ठीक वहाँ पर एक पतली-सी श्यामल रेखा भी वह देख सका है—द्वीप की तरु-पंक्तियों की रेखा ? नहीं, भ्रम की भी गुंजाइश नहीं है, आँखों को, हाथों को, जी को, किसी को भी चूकने की गुंजाइश नहीं है···

देवकान्त ने एक लम्बी साँस ले कर नाव के एक सिरे से दूसरे तक नज़र डाली, फिर उस की रस्सी हाथ में लिये-लिये उस के किनारे पर चढ़े हुए हिस्से को ठेलते हुए, कूद कर उस पर सवार हो लिया। नाव थोड़ा-सा काँपी, डगमगायी। फिर धार में पड़ते ही तीर की तरह एक ओर बढ़ चली देवकान्त ने एक बार फिर पार के क्षितिज की ओर देखा, और स्थिर भाव से डाँड चलाने लगा। तनिक-सी देर में ही वह भी किनारे से दूर हो कर इतना छोटा-सा दीखने लगा मानो वह भी जलकुम्भी का बहता हुआ एक पौधा हो—वह नहीं, समूची नाव एक छोटा-सा उन्मूलित पौधा हो, और वह उस का ऊब-डूब करता हुआ-सा नीला फूल, कोमल क्षणजीवी फूल, किन्तु जो जब तक है सुन्दर है। मानो एक स्वत सम्पूर्ण दुनिया है····

कहीं से हवा उठी। उस से पानी के ऊपर की धुन्ध मिटने लगी, वर्षा भी थम गयी, पानी स्पष्ट दीखने लगा—स्पष्ट किन्तु सम नहीं, बगूला का स्थान उत्ताल तरंगों ने ले लिया था—पर ये छोटी-छोटी तरल पहाड़ियाँ न भी होतीं तो भी देवकान्त और उसकी नाव कब के ओझल हो चुके थे·

देश और काल का फैलाव वहीं सब से अधिक होता है जहाँ उनका महत्त्व सब से कम होता है—जब-जब जीवन में तनाव आता है और सारी प्राणशक्ति एक केन्द्र या बिन्दु में संचित होने लगती है तब-तब देश-काल भी उसी अनुपात में सिमट आते हैं ''देवकान्त नाव खे रहा है, उस के सामने, आगे-पीछे, कहीं उस क्षण के सिवा कुछ नहीं है जिसमें वह है और नाव खे रहा

और मोहन की बडी-बडी काली आँखो की ओर जा रहा है—मोहन जो एक हिरन का छौना है जिसे नीलिमा ने उसे दिया था—किन्तु फिर भी उस क्षण मे ही कई देश-काल सचित हो आये हैं—वह एक साथ ही कई स्थानो, कई कालो मे जी रहा है, कई घटनाओं का घटक है···

द्वीप के आर-पार पत्थरो का ढेर लगा कर पटरी बनायी गयी है जिस पर से सडक के पास ही नीची भूमि पर बाँस की एक बाड है, जिस के भीतर कदली की घनी बाड है। देवकान्त बाहर बैठा बाँसुरी बजा रहा है। कदली के पत्तो के बीच मे से उसे कभी-कभी एक सफेद आँचल की झलक मिल जाती है—नीलिमा भीतर फूल बीन रही है···वह वही रहती है, वही और लड-कियो के साथ पढती है, वही से कभी बाहर वसन्तो के कूजन से भरा हुआ स्वर नाम-कीर्त्तन करता हुआ सुनायी दे जाया करता है, वही···

बाढ आती है तो द्वीप मे पानी भर जाता है, उतरती है तो जगह-जगह खाल, बील, दिग्घी, ताल बनाकर छोड जाती है। निर्धन लोग बचने के लिए पेडो पर मचान बनाते हैं, सम्पन्न दो-एक व्यक्तियो ने बजरे रख छोडे हैं, पानी उतर जाने पर किसी खाल-पोखर मे खडे रहते हैं। साधारण बाढ मे यही जीवन-रक्षा के लिए यथेष्ट होते हैं—अधिक बाढ मे उन का भी ठिकाना नही—पर ऐसी कौन-सी स्थिति है जिस मे किसी प्रकार भी कोई खतरा न हो···ऐसे ही एक बजरे की ओट मे पोखर के किनारे उस का घर है। उस का पिता कुशल महावत है और हाथी को साधने मे उस की बराबरी सारे असम मे बिरला ही कर सकता है। और देवकान्त स्वय एक मटकी दही की ले कर बजरे के नीचे से गुजरता है—वह नाव मे बैठा भी अपने को मटकी लिये जाता देख रहा है···

दो वर्ष बराबर बाढ आयी थी, द्वीप प्राय नामशेष हो गया था। और अब वहाँ न जलाने को तेल था, न खाने को नमक—दोनो ही 'चालानी' आते थे ··देवकान्त कदली के तने जला कर उन की राख मसल रहा है—इसी का खार उन्हे दुर्दिन मे नमक का काम देता है ··खार वह हँडिया मे भर लेगा—न जाने कितने दिन चलेगी वह। भोजन का धूमिल रग मानो उस की दृष्टि के आगे से दौड गया, और उस के कटु स्वाद स उस का मुँह कडवा हो आया—वह थूक कर मुँह साफ कर लेता पर उसे ध्यान आया कि कदली की

सहसा उस की आँखें खुल गयीं—उसे स्वयं नहीं मालूम हुआ—और उस ने कहा, "मोहन—हिरन—"

किसी ने कहा, "हाँ, वह है—बच जायेगा—"

कौन बच जायेगा ? मोहन ? वह ?

वह कौन ? वह देवकान्त। पर वह तो बच गया है—नहीं तो वह देवकान्त कैसे है ? सोचता कौन है ?

उसने फिर स्वहीन स्वर से कहा, "मोहन···"

उस की आँखें झिप गयीं ! नीलिमा ने फिर उसे घेर लिया। दूर कहीं सुना, "चिन्ता नहीं—बच जायेगा—" फिर सब-कुछ बुझ गया।

मन-ही-मन उस ने कहा, "नीली, मैं रख सकूँगा बचा कर" पर जैसे उस का कहा उसी ने नहीं सुना। नीली तो बहुत दूर थी, पता नहीं, थी भी कि नहीं।

पर और कुछ उस ने फिर सुना बड़ी दूर से, जैसे पानी के नीचे से, ब्रह्मपुत्र के अथाह पानी के नीचे से—"पागल—बेहोशी में हँसता है।"

"हाँ, तो हँसता तो है, नीली हँसी—सम्पूक्त हँसी—वह हँसी जो नीली थी—उस की नीलिमा !

पठार का धीरज

•

ऊँचे-नीचे टीले, खँडहर, मटमैली-भूरी हरियाली, धुँधले छोटे झोप, अँधेरी खोहें; बिखरे हुए पत्थर, कुछ गोल, कुछ चपटे, कुछ उभरे, चुभन-से तीखे; दूर पर चपटी लम्बी इमारत की बत्तियाँ, मानो रेलगाड़ी खड़ी हो।

ये सब यथार्थ हैं।

किस पठार का धीरज-भरा फैलाव, दुराव-भरा सन्नाटा, झनझनाती तेज़ हवा, चपटे पत्थरों पर मीने के-से हरे-चिट्टे-ललौहे काही के तारा-फूल, उड़ते-उड़ते बे-भरोस बादल, तीतरों की चौकी-सी पुकार 'त-तीत्तिरि-त-तीत्तिरि-त-तुः', दूर पर गीदड़ का रोने और भूँकने के बीच का-सा सुर।

ये भी यथार्थ हैं।

लेकिन यथार्थता के स्तर हैं। स्थूल वास्तव, फिर सूक्ष्म वास्तव जिस में हमारे भाव का भी आरोप है, फिर—क्या और भी कोटियाँ नहीं हैं, जिन में भाव ही प्रधान हो, जिन में तथ्य वही पहचाना जाये, जहाँ वह व्यक्ति-जीवन के प्रसार में गहरी लीकें काट गया हो, नहीं तो और पहचानने का कोई उपाय न हो, क्योंकि व्यक्ति-जीवन, व्यक्ति-जीवन के क्षण का स्पन्दन इतना तीव्र हो कि सब-कुछ उसी से गूँज रहा हो, दूसरी कोई ध्वनि न सुनी जा सके?

उस चट्टानों और खँडहरों से भरे पठार की खुली, फैली, लचीली प्रवहमान व्यापकता से अभिभूत किशोर अगर सहसा सुनता है कि तीतर की बोली 'त-तीत्तिरि-त-तीत्तिरि' न हो कर कुछ और है—क्या है, वह ठीक-ठीक सुन लेता है—और उस रेलगाड़ी-नुमा इमारत की बत्तियाँ टिमटिमा कर उसे कुछ बहुत ज़रूरी सन्देश कह रही हैं जो उसे चाँद निकलने से पहले सुन लेना है, क्योंकि फीके होते हुए दिग्बिन्दु से अगर चाँद उभर आया

और खंडहर की अधूरी मेहराब पर उस की जुन्हाई पड़ गयी तो न जाने उन की कौन-सी पोल खुल जायेगी—अगर वह यह सब सुनता है तो क्या उस का सुनना धोखा ही है, क्या वह भी वास्तविकता का नया स्तर नहीं है ? और क्या हमेशा ही हमारा जीवन एकाधिक स्तर पर नहीं चलता, हमारा अधिक तीव्रता के साथ जीना, क्या एक ही स्तर पर अधिक गति या विस्तार की अपेक्षा अधिक या नये स्तरों का हठात्, जागा हुआ बोध ही नहीं ? तीव्र जीवन के क्षण नयी दृष्टि, नये बोध के क्षण, अनेक स्तरों पर जीवन के स्पन्दन की द्रुत अनुभूति—ये विरल ही होते हैं, जैसे कि तीसरा नेत्र कभी-कभी ही खुलता है···

किशोर ने धीरे से कहा, "सुनती हो, यह पक्षी क्या पुकार रहा है ? वह कहता है—प्र-मीला, प्र-मीला !"

प्रमीला निःशब्द हँस दी।

"सच, तुम सुन कर देखो—वह देखो—प्र-मीला, प्र-मीला—"

प्रमीला ने मानो कान दे कर सुना। अब की वह ज़रा जोर से हँस दी, "हाँ ठीक तो, अगर मान कर अनुकूलता से सुनें तो सचमुच तीतर उसी का नाम पुकार रहे हैं, 'प्रमीला, प्रमीला !'"

उस ने धीरे से किशोर का हाथ अपने हाथ में ले कर दबा दिया।

"और अभी जब चाँद निकलेगा, तब तुम देखना, वह जो धुँधली-सी मेहराब दीखती है न टूटी हुई, उस का आकार भी ठीक 'प्र' जैसा बन जायेगा, मानो चाँदनी तुम्हारा नाम लिख रही हो।"

प्रमीला की आँखें चमक उठीं। उस ने कहा, 'हाँ, और जब मोर पुकारेगा तो मैं सुनूँगी, वह कह रहा है, 'किशोर, किशोर !' और जब चाँद निकलेगा और बादलों में रुपहली झालर लग जायेगी—"

"हँसी करती हो ?"

"नहीं, हँसी क्यों करूँगी भला ? मैं सच कह रही हूँ - ये जो दूर दूर तक पलाश के झुरमुट हैं, इन की काँपती पत्तियाँ न जाने किस के-किस के नामों पर ताल दे कर नाचती हैं, और वह कुण्ड के पानी में चक्कर काटती टिटिहरी चौंक कर न जाने किसे बुलाती है—हम सारा इतिहास थोड़े ही जानते हैं ? केवल अपने नाम सुन चुके, वह इस लिए कि—इस लिए कि—"

"कहो न !"

"इस लिए कि मैं—नही कहती। कहना नही चाहिए।"

"कहो भी न ?"

"इस लिए कि मैं—कि तुम—तुम मुझे—" और प्रमीला ने पास आ कर अपनी आवाज को किशोर के कन्धे की ओट करते हुए कहा, "तुम मुझे प्यार करते हो।"

किशोर का हाथ घेरा हुआ-सा बढ गया, पर प्रमीला के आस-पास शून्य मे ही वृत्त बना कर खडा रहा।

"और इसी तरह कुँवर राजकुमारी को प्यार करता होगा, और कुण्ड के किनारे मिलने आता होगा, और उसी की बातें पलाशो ने सुन रखी हैं और हवा को सुनाते हैं ··"

दूर गीदड फिर भूँका। किशोर तनिक-सा चौका, प्रमीला ने पूछा, "क्या—कौन है ?"

किशोर ने भी अचकचाये से स्वर मे कहा, "कौन है ?"

थोडी दूर पर एक स्त्री-स्वर बोला, *"तुम लोग वास्तव मे भागना क्यो* चाहते हो ? कुँवर राजकुमारी को प्यार नही करता था।"

"फिर किस को करता था ? हाथी पर सवार हो कर रोज राजकुमारी से मिलने आता था तो—"

"अपनी छाया को। चन्द्रोदय होते ही वह कुण्ड पर आता था, हाथी पर सवार उस की अपनी छाया कुण्ड के एक ओर से बढ कर दूसरे किनारे नहाती हुई राजकुमारी की जम्हाई-सी देह को घेर लेती थी। उसी लम्बी चढने वाली छाया से कुँवर को प्रेम था, राजकुमारी तो यो ही उस की लपेट मे आ जाती थी।"

"ऐसा ! तो वह रोज आता क्यो था ? हाथी को पानी मे बढा कर जब वह दोनो बाँहें राजकुमारी की ओर फैलाता है—"

"तुम नही मानते ? मैं कुँवर से ही पुछवा दूँ ? अच्छा, ठहरो, वह आता ही होगा—देखो—"

किशोर ने देखा। एक बडी-सी छाया कुण्ड के आर-पार पड रही थी—

नीचे गोल-सी, मानो हाथी की पीठ, ऊपर सुघड, लम्बी और नोकदार मानो टोपी पहने राजकुमार।

हाथी धीरे-धीरे पानी मे बढ रहा था। जब गहरे मे उस की पीठ का पिछला हिस्सा पानी म डूब गया, तब वह खडा हो कर पानी मे सूँड हिलाने लगा। कुँवर ने एक बार नजर चारो ओर दौडायी, राजकुमारी को न देख कर वह हाथी की पीठ पर खडा हो गया। दोनो हाथो को मुँह के आस-पास रख कर उस ने दो बार मोर के पुकारने का-सा शब्द किया—"मैं तू मैं तू:।" और फिर धीरे-से पुकारा, "राजकुमारी! राजकुमारी हेमा!"

स्त्री-स्वर ने कहा, "मैं जा रही हूँ वहाँ ' कुँवर के पास। लेकिन वह मुझे नही, अपनी छाया को प्यार करता था।"

गोरोचन की एक पुतली-सी कुण्ड की सीढियाँ एक-एक कर के उतरने लगी। निचली सीढी पर पहुँच कर वह थोडी देर रुकी, देह पर ओढी हुई चादर उतारी और फिर एक पैर पानी की ओर बढाया। पानी मे चाँदनी की लहरें-सी खेल गयी।

हाथी की पीठ पर खडे राजकुमार ने शरीर को साधा, फिर एक सुन्दर गोल रेखाकार बनाता हुआ पानी मे कूद गया क्षण-भर मे तैर कर पार जा पहुँचा। दोनों साथ-साथ तैरने लगे।

"हेमा, तुम आज उदास क्यो हो? तुम्हारा अग चालन शिथिल क्यो है?"

"नही तो। क्या मैं बराबर साथ साथ नही तैर रही हूँ?"

"हाँ, पर' वह स्फूर्ति नही है—तुम जरूर उदास हो—"

"नही-नही, मैं तो बहुत प्रसन्न हूँ। मेरी तो आज सगाई हो गयी है—"

"क्या? राजकुमारी हेमा—क्या कहती हो तुम? ठट्ठा मत करो—" कुँवर तैरता हुआ रुक गया।

हेमा ने रुक कर उसे भरपूर देखते हुए कहा, "हाँ, आज तिलक हो गया।"

"कौन—किस के साथ? तुम कैसे मान सकी?"

हेमा ने धीरे धीरे कहा, मैं राजकुमारी हूँ। ऐसी बातो मे राजकुमारियो

की राय नही पूछी जाती। साधारण कन्याएँ राय देती होगी, पर हमारा जीवन राज्य के कल्याण के पीछे चलता है।"

"और हमारा कल्याण—"

"वह उसी मे पाना होगा। अपना अलग हानि लाभ सोचना क्षत्रियवृत्ति नही है, वैसा तो बनिये—"

"यह सब तुम्हे किस ने कहा है ?"

"मेरी शिक्षा यही है—"

दोनो किनारे की ओर बढ रहे थे। कुँवर ने लपक कर सीढी को जा पकडा, और बाहर निकल कर उस पर जा बैठा। हेमा भी निकल कर पास खडी हो गयी। शरीर से चिपकते गीले कपडो के कारण वह और भी पुतली-सी दीख रही थी, गोरोचन का रग और चमक आया था।

दोनो देर तक चुप रहे। फिर कुँवर ने कहा, "तो—यह क्या विदा है ?"

हेमा ने अचकचा कर कहा, ' नही, नही।"

"सुनो हेमा, राजकुमारी, तुम—अभी मेरे साथ चलो। हाथी पर सवार हो कर यहाँ से निकलेंगे, फिर घोडे ले कर—"

"कहाँ ?"

' हाथ मे वल्गा, पार्श्व मे हेमा राजकुमारी—तो सारा देश खुला पडा है ' उधर कामरूप मणिपुर तक, उधर विन्ध्या के पार कन्याकुमारी तक, नही तो उत्तराखण्ड के पहाडा—"

"और यहाँ पीछे—विग्रह और मार-काट, और लोहे की साँकलो मे बँधे हुए बन्दी, और—"

"प्यार पीछे नही देखता, हेमा, उस की दृष्टि आगे रहती है। मैं देखता हूँ वह सुन्दर भविष्य जिस मे हम दोनो—"

"मैं भी देखती हूँ, कुँवर, मगर वह भविष्य वर्तमान से कट कर नही, उसी का फूल है—जैसे बिना पत्ती के भी मधूक मे नया बौर ··जैसे पलाश की फुनगी को चूमती हुई आग···"

"नही राजकुमारी, मैं सम्पूर्ण जलना चाहता हूँ। धू-धू कर के धधक उठना, बेबस, पागल, जैसे चैत्र मे पलाश का समूचा वन ··"

"कुँवर।"

"कहो, तुम मेरे साथ चलोगी·· अभी ?"

राजकुमारी चुप रही। फिर उस ने धीरे-धीरे कहा, "सगाई तो हुई है, क्योंकि नयी सन्धि भी हुई है। विवाह की तो अभी कोई बात नही है, क्योंकि विवाह के बाद शायद सन्धि मे वह बल नही रहेगा—मैं उधर की जो हो जाऊँगी। इस प्रकार मैं देश की शान्ति की धरोहर हूँ·· इधर की कुमारी, उधर की वाग्दत्ता···मैं कैसे भाग जाऊँ ?"

"तो क्या कहती हो ?"

"कुछ नही कहती, कुँवर ! मैं रोज यहाँ आती हूँ, आती रहूँगी। तुम ·· तुम भी आते हो। यह कुण्ड हमारा अपना राज्य है···नही, राज्य नही, हमारा घर है जहाँ हम अपनी इच्छा के स्वामी है, धरती के दास नहीं। यहीं हम रहते रहेंगे, चाँदनी और तारो-भरा अन्धकार हमे घेरे रहेगा · कुँवर, क्या तुम मुझे ऐसे ही नही प्यार कर सकते ?"

"और भविष्य ?"

"वह किसी का जाना नही है। और उतावली कर के उस को नष्ट करना·· "

"धीरज, धीरज, हेमा ! मैं तुम्हें चाँदनी की तरह नही चाहता जो आवे और चली जावे, मैं तुम्हे—मैं तुम्हे···अपनी छाया की तरह चाहता हूँ हर समय मेरे साथ, जब भी चाँदनी निकले तभी उभर कर मुझे घेर लेने वाली···"

"और जब चाँदनी न हो तब क्या अन्धकार मुझे लील लेगा···मैं खो जाऊँगी ?" राजकुमारी का शरीर सिहर उठा।

"तब तुम मुझी म बसी रहोगी, राजकुमारी !"

दूर कहीं पर चौंक कर तीतर पुकार उठे। पहले एक, फिर दूसरी ओर से और एक। राजकुमारी ने सचेत हो कर कहा, "अच्छा, कुँवर, मैं चली। कल फिर आऊँगी। तुम चिन्ता मत करना।"

कुँवर ने कहा, "राजकुमारी !" फिर कुछ भर्राये-से स्वर मे कहा, "हेमा !"

हेमा ने धीरे से कहा, "अपने चाँद को तुम्हे सौंप जाती हूँ। देवता तुम्हारी रक्षा करें, कुँवर·· "

उस ने जल्दी से चादर ओढी और नि शब्द लचीली गति से सीढियाँ चढ चली ।

कुँवर ने एक बार दक्षिण आकाश मे उभरे वृश्चिक को देखा, फिर झुक कर पानी मे हो लिया और क्षण-भर मे हाथी की पीठ पर पहुँच गया । अँधेरे का एक पुज सा पानी मे से उठा और कुण्ड के छोर पर अँधेरे की एक बडी-सी कन्दरा मे खो गया ।

हेमा का स्वर फिर पास कही बोला, "समझे ?"

किशोर ने कहा, "राजकुमारी, तुम तो कहती हो वह प्यार नही करता ? वह तो—"

' कब कहती हूँ नही करता था ? पर मुझे नही, अपनी प्रलम्बित छाया को। तभी तो मुझे छोड कर चला गया—"

"चला गया ?"

"हाँ, दूसरे दिन वह नही आया । मै देर रात तक कुण्ड पर बैठी रही । तीसरे दिन भी नही । फिर पता लगा, जहाँ मेरी सगाई हुई थी वहाँ—वहाँ उस ने आक्रमण कर दिया है एक अश्वारोही टुकडी के साथ—"

"फिर ?"

"फिर ! इतिहास बाँचना मेरा काम नही है, अपरिचित ! वह सब तुम ने पढा होगा—कितने राज्य, कितने राजकुल विग्रहो से धुल गये, इस का लेखा-जोखा रखना तो तुम्हारी शिक्षा का मुख्य अग है ! हम तो स्वय जीने वाले हैं, जीवन के प्रति समर्पित हो कर, क्योकि जीवन का एक अपना तर्क है जो इतिहास के तर्क से—"

"पर कुँवर ? राजकुमारी, कुँवर का क्या हुआ ?"

"वह नही आया । दूसरे दिन नही, तीसरे दिन नही, सप्ताह नही, पख-वाडे नही । महीने और वर्ष बीत गये । विग्रह फैला और फैलता ही गया । वह नही आया फिर। और—आज भी मैं नही जानती कि मैं—कि मैं केवल वाग्दत्ता हूँ, कि विधवा, कि—कि केवल इस कुण्ड की विवाहिता वधू, जिस की लहरियों से खेलते मैंने वर्ष बिता दिये ।"

'पर यह तो कुछ समझ मे नही आया । बात कुछ बनी नही ।"

"बात का न बनना ही उस का सार है, अपरिचित ! प्यार मे अधैर्य

होता है, तो वह प्रिय के आस-पास एक छायाकृति गढ लेता है, और वह छाया ही इतनी उज्ज्वल होती है कि वही प्रेय हो जाती है, और भीतर की वास्तविकता—न जाने कब उस में घुल जाती है, तब प्यार भी घुल जाता है। तुम मुझे देख रहे हो, क्योंकि मेरे साथ तुम्हारा कोई रागात्मक सम्बन्ध नही है। मैं खँडहर की जमी हुई चाँदनी हूँ · कुण्ड की एक विजडित लहर हूँ। पर मुझे देखो, देर तक देखो लालसा से देखो—तब देखोगे, मेरे आस पास कितनी घनी दुर्भेद्य छाया तुम ने गढ ली है—क्यो भद्रे, तुम क्या कहती हो ?"

प्रमीला इस सम्बोधन से अचकचा गयी। उस ने तनिक-सा किशोर की ओर हटते हुए कहा, "मैं – मैं—कुछ नही राजकुमारी, मैं तो—"

राजकुमारी ईषत स्मित-भाव से बोली, "मैं तो जो कहूँगी इस पार्श्ववर्ती अपरिचित से कहूँगी, यही न ?" फिर कुछ गम्भीर हो कर, "लेकिन भद्रे, वही ठीक है। यह फैला पठार देखो—आकाश, आँधी, पानी, शीतातप, सब के प्रति यह समर्पित है, किसी के आस-पास छायाएँ नही गढता, और सब की वास्तविकता देखता है। तुम तो जानती हो तुम मेरी बहिन हो। तुम्हें कुछ कहना ही हो, ऐसा क्यो आवश्यक है ? यह पठार भी तो कुछ नही पूछता। अपरिचित, क्या यह पठार वास्तव है, तुम्हें लगता है ?"

"हाँ, और नही। मैं नही जानता। इस समय मैं मानो इस से आत्मसात् हूँ, अलग उस को जोखने की दूरी मुझ मे नही।"

'वह तो जानती हूँ। पठार से, कुण्ड से आत्मसात् न होते, तो क्या मुझे देखते ? मेरी बात सुनते ? क्योंकि मैं—"

'राजकुमारी, तुम कौन हो ? क्या तुम वास्तव नही हो ?"

"वास्तव !" राजकुमारी हँसी। तारे मानो कुछ और चमक उठे, और हवा कुछ तेज हो गयी। "वास्तव तो हूँ, शायद, जो कुछ है सभी वास्तव है। लेकिन वास्तविकता के स्तर है। धीरज हमे एक साथ ही अनेक स्तरो की चेतना देता है, अधैर्य एक प्रकार का चेतना का धुआँ है जिस स बोध का एक एक स्तर मिटता जाता है और अन्त मे हमारी आँखें कडवा जाती है, हम कुछ दीखता नही—"

फिर वही तीतर बोले, "त तीत्तिरि, त-तीत्तिरि !"

राजकुमारी ने कहा, "कभी इस पठार के तीतर और मोर दूसरे नाम

पुकारा करते थे। मैंने अपना नाम अनेक बार सुना था। पर अब—" उस ने फिर मुसकरा कर अर्थ भरी दृष्टि से दोनो को देखा, "अब कदाचित् वह और नाम पुकारते हैं—है न ?"

तीतर फिर बोले, "त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि।"

प्रमीला कुछ लजा गयी। किशोर ने अचम्भे म आ कर कहा 'राजकुमारी, तुम कौन हो ?"

"मैं कोई नही हूँ। मैं पठार का धीरज हूँ। वह दृष्टि देता है। लेकिन मैं चली—"

एक जोर का झोका आया। कुण्ड पर अठखेलियाँ करती चाँदनी लहरा कर चक्कर खा कर मूर्च्छित हो गयी, अदृश्य टिटिहरी उड़ता वृत्त बना चीख उठी, बादल का एक चिथडा चाँद का मुँह पोछ गया, पलाश के झाप सनसना उठे, कही गीदड भूँका, प्रमीला किशोर के और निकट सरक आयी और उसे मग्न सा देख कर बडे हल्के स्पर्श स उसे छू कर स्वय ठिठक गयी, किशोर ने अचकचाये नि शब्द स्वर स मानो कहा, "कौन—कहाँ" और फिर सचेत हो कर चारो ओर आँखें दौडायी।

कही कोई नही था, केवल पठार का सन्नाटा।

तीतर एक साथ जोर म पुकार उठे, "त तीत्तिरि, त तीत्तिरि।"

किशोर और प्रमीला की आँखें मिली, स्थिर हो कर मिली और मिली रह गयी।

नही, यह बिलकुल आवश्यक नही है कि तीतर किसी का भी नाम पुकारे। पठार की अपनी एक वास्तविकता है, उन की अपनी एक वास्तविकता है। दोनो समानान्तर हैं, सहजीवी हैं, सयुक्त हैं, यह बिलकुल आवश्यक नही है कि वास्तविकता के अलग-अलग स्तर कही भी एक-दूसरे को काटें। जो बोध हो, स्वय ही हो, चेतना स्वत उभर कर फैल कर जिस स्तर को भी छू आवे, चेतना स्वच्छन्द रहे, क्योंकि धीरज उन मे है, उन मे रहेगा—

किशोर ने हाथ बढा कर प्रमीला के दोनो शीतल हाथ थाम लिये।

तीतर फिर बोला, 'त-तीत्तिरि!'

आँखो मे बडी हलकी मुसकान लिये दोनो ने एक-दूसरे को सिर से पैर तक देखा।

और स्थिर धीरज-भरे विश्वास से जान लिया कि छाया किसी के आस-पास नहीं है, दोनो वास्तव मे आमने-सामने हैं, हैं।

तब चाँद गोरोचन के बहुत बडे टीके-सा बडा हो आया।

हीली-बोन् की बत्तखें

•

हीली-बोन् ने बुहारी देने का ब्रुश पिछवाड़े के बरामदे के जंगले से टेक कर रखा और पीठ सीधी कर के खड़ी हो गयी। उस की थकी-थकी-सी आँखें पिछवाड़े के गीली लाल मिट्टी के काई-ढँके किन्तु साफ फर्श पर टिक गयीं। काई जैसे लाल मिट्टी को दीखने दे कर भी एक चिकनी झिल्ली से उसे छाये हुए थी, वैसे ही हीली-बोन् की आँखों पर भी कुछ छा गया जिस के पीछे आँगन के चारों ओर तरतीब से सजे हुए जरेनियम के गमलों, दो रंगीन बेंत की कुर्सियों और रस्सी पर टँगे हुए तीन-चार धुले हुए कपड़ों की प्रतिच्छवि रह कर भी न रही। और कोई और गहरे देखता तो अनुभव करता कि सहसा उस के मन पर भी कुछ शिथिल और तन्द्रामय छा गया है, जिस से उस की इन्द्रियों की ग्रहण-शीलता तो ज्यों-की-त्यों रही है पर गृहीत छाप को मन तक पहुँचाने और मन को उद्वेलित करने की प्रणालियाँ रुद्ध हो गयी हैं···

किन्तु हठात् वह चेहरे का चिकना बुझा हुआ भाव खुरदुरा हो कर तन आया, इन्द्रियाँ सजग हुईं, दृष्टि और चेतना केन्द्रित, प्रेरणा प्रबल—हीली बोन् के मुँह से एक हलकी-सी चीख निकली और वह बरामदे से दौड़ कर आँगन पार कर के एक ओर बने हुए छोटे-से बाड़े पर पहुँची, वहाँ उस ने बाड़े का किवाड़ खोला और फिर ठिठक गयी। एक और हलकी सी चीख उस के मुँह से निकल रही थी, पर वह अध-बीच में ही स्वरहीन होकर एक सिसकती-सी लम्बी साँस बन गयी।

पिछवाड़े से कुछ ऊपर की तरफ पहाड़ी रास्ता था, उस पर चढ़ते व्यक्ति ने वह अनोखी चीख सुनी और रुक गया। मुड़ कर उस ने हीली-बोन् की ओर देखा, कुछ झिझका, फिर ज़रा बढ़ कर बाड़े के बीच के छोटे-से बाँस के फाटक को ठेलता हुआ भीतर आया और विनीत भाव से बोला, "खू-ब्लाई!"

हीली-बोन् चौंकी। 'तू-ब्लाई' सामिया भाषा का 'राम-राम' है, किन्तु यह उच्चारण परदेशी है और स्वर अपरिचित — यह व्यक्ति कौन है ? फिर भी सामिया जाति के सुलभ आत्म-विश्वास के साथ तुरन्त सँभल कर और मुस्करा कर उस ने उत्तर दिया, "तू ब्लाई !" और क्षण भर रुक कर फिर कुछ प्रश्न सूचक स्वर में कहा, "आइए ! आइए !"

आगन्तुक ने पूछा, "मैं आप की कुछ मदद कर सकता हूँ ? अभी चलते-चलते—शायद कुछ—"

"नहीं, वह कुछ नहीं"—कहते-कहते हीली का चेहरा फिर उदास हो आया। "अच्छा, आइए, देखिए।"

बाड़े की एक ओर आठ-दस बत्तखें थीं। बीचोबीच फर्श रक्त से स्याह हो रहा था और आस पास बहुत-से पंख बिखर रहे थे। फर्श पर जहाँ-तहाँ पंजों और नाखूनों की छापें थीं।

आगन्तुक ने कहा, "लोमड़ी !"

"हाँ। यह चौथी बार है। इतने बरसों में कभी ऐसा नहीं हुआ था, पर अब दूसरे-तीसरे दिन एक-आध बत्तख मारी जाती है और कुछ उपाय नहीं सूझता। मेरी बत्तखों पर सारे मण्डल के गाँव ईर्ष्या करते थे—स्वयं 'सियेम' के पास भी ऐसा बढ़िया झुण्ड नहीं था ! पर अब—" हीली चुप हो गयी।

आगन्तुक भी थोड़ी देर चुपचाप फर्श को और बत्तखों को देखता रहा। फिर उस ने एक बार सिर से पैर तक हीली को देखा और मानो कुछ सोचने लगा। फिर जैसे निर्णय करता हुआ बोला, "आप ढिठाई न समझें तो एक बात कहूँ ?"

"कहिए।"

"मैं यहाँ छुट्टी पर आया हूँ और कुछ दिनों नाङ्-क्लेम ठहरना चाहता हूँ। शिकार का मुझे शौक है। अगर आप इजाजत दें तो मैं इस डाकू की घात में बैठूँ—" फिर हीली की मुद्रा देख कर जल्दी से, "नहीं, मुझे कोई कष्ट नहीं होगा, मैं तो ऐसा मौका चाहता हूँ। आप के पहाड़ बहुत सुन्दर हैं, लेकिन लड़ाई से लौटे हुए सिपाही को छुट्टी में कुछ शगल चाहिए।"

"आप ठहरे कहाँ हैं ?"

"बँगले में। कल आया था, पाँच-छह दिन रहूँगा। सवेरे-सवेरे घूमने

निकला था, इधर, ऊपर जा रहा था कि आप की आवाज सुनी। आप का मकान बहुत साफ और सुन्दर है—"

हीली ने एक रूखी सी मुसकान के साथ कहा, "हां, कोई कचरा फैलाने वाला जो नही है! मैं यहां अकेली रहती हूँ।"

आगन्तुक ने फिर हीली को सिर से पैर तक देखा। एक प्रश्न उसके चेहरे पर झलका, किन्तु हीली की शालीन और अपने में सिमटी-सी मुद्रा ने जैसे उसे पूछने का साहस नही दिया। उस ने बात बदलते हुए कहा, "तो आप की इजाजत है न? मैं रात को बन्दूक लेकर आऊँगा। अभी इधर आस-पास देख लूं कि कैसी जगह है और किधर से किधर गोली चलायी जा सकती है।"

"आप शौकिया आते हैं तो जरूर आइए। मैं इधर को खुलने वाला कमरा आप को दे सकती हूँ।" कह कर उस ने घर की ओर इशारा किया।

"नही, नही, मैं बरामदे मे बैठ लूंगा—"

"यह कैसे हो सकता है? रात को आँधी बारिश आती है। तभी तो मैं कुछ सुन नही सकी रात! वैसे आप चाहें तो बरामदे मे आरामकुरसी भी डलवा दूंगी। कमरे में सब सामान है।" हीली कमरे की ओर बढी, मानो कह रही हो, 'देख लीजिये।"

'आप का नाम पूछ सकता हूं?"

"हीली-बोन् यिर्वा। मेरे पिता सियेम के दीवान थे।"

'मेरा नाम दयाल है—कैप्टेन दयाल। फौजी इजीनियर हूँ।"

"बडी खुशी हुई। आइये—अन्दर बैठेंगे?"

"धन्यवाद—अभी नही। आप की अनुमति हो तो शाम को आऊँगा। खू-ब्लाई—"

हीली कुछ रुकते स्वर मे बोली, "खू-ब्लाई!" और बरामदे मे मुड कर खडी हो गयी। कैप्टेन दयाल बाडे मे से बाहर हो कर रास्ते पर हो लिये और ऊपर चढने लगे, जिधर नयी धूप मे चीड की हरियाली दुरगी हो रही थी और बीच-बीच म बुरूस के गुच्छे गुच्छे गहरे लाल फूल मानो कह रहे थे—पहाड के भी हृदय है, जगल के भी हृदय है।

दिन मे पहाड की हरियाली काली दीखती है, लताई आग-सी दीप्त, पर साँझ के आलोक म जैसे लाल ही पहले काला पड जाता है। हीली देख रही थी, धुरूस के वे इक्के-दुक्के गुच्छे न जाने कहाँ अन्धकार-लीन हो गये हैं, जब कि चीड के वृक्षों के आकार अभी एक-दूसरे से अलग स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। क्यो रग ही पहले बुझता है, फूल ही पहले ओझल होते हैं, जब कि परिपार्श्व की एकरूपता बनी रहती है ?

हीली का मन उदास हो कर अपने मे सिमट आया। सामने फैला हुआ नाङ्-थ्लेम का पर्वतीय सौन्दर्य जैसे भाप बन कर उड गया, चीड और बुरूस, चट्टानें, पूर्व पुरुषो और स्त्रिया की खडी और पडी स्मारक शिलाएँ, घास की टीलो-सी लहरें, दूर नीचे पहाडी नदी का ताम्र मुकुर, मखमली चादर मे रेशमी डोरे-सी झलकती हुई पगडण्डी—सब मूर्त आकार पीछे हटकर तिरोहित हो गये। हीली की खुली आँखें भीतर की ओर को ही देखने लगी—जहाँ भावनाएँ ही साकार थी, और अनुभूतियाँ ही मूर्त

हीली के पिता उस छोटे से माण्डलिक राज्य के दीवान रहे थे। हीली तीन सन्तानो मे सब से बडी थी, और अपनी दोनो बहिनो की अपेक्षा अधिक सुन्दर भी। खासियो का जाति-सगठन स्त्री प्रधान है, सामाजिक सत्ता स्त्री के हाथों मे है और वह अनुशासन मे चलती नही, अनुशासन को चलाती है। हीली भी मानो नाङ्-थ्लेम की अधिष्ठात्री थी। 'नाङ्क्रेम' के नृत्योत्सव मे, जब सभी मण्डलो के स्त्री-पुरुष खासिया जाति के अधिदेवता नगाधिपति को बलि देते थे और उस के मर्त्य प्रतिनिधि अपने 'सियेम' का अभिनन्दन करते थे, तब नृत्य-मण्डली मे हीली ही मौन सर्वसम्मति मे नेत्री हो जाती थी, और स्त्री-समुदाय उसी का अनुसरण करता हुआ झूमता था, इधर और उधर, आगे और दायें और पीछे नृत्य मे अगसचालन की गति न द्रुत थी न विस्तीर्ण, लेकिन कम्पन ही सही, सिहरन ही सही, वह थी तो उस के पीछे-पीछे, सारा समुद्र उस की अग भगिमा के साथ लहरें लेता था

एक नीरस-सी मुस्कान हीली के चेहरे पर दौड गयी। वह कई बरस पहले की बात थी···अब वह चौंतीसवाँ वर्ष बिता रही है, उस की दोनो बहिनें ब्याह

कर के अपने-अपने घर रहती हैं; पिता नही रहे और स्त्री-सत्ता के नियम के अनुसार उन की सारी सम्पत्ति सब से छोटी बहिन को मिल गयी। हीली के पास है यही एक कुटिया और छोटा-सा बगीचा—देखने मे आधुनिक साहबी ढग का बँगला, किन्तु उस काँच और परदो के आडम्बर को सँभालने वाली इमारत वास्तव मे क्या है ? टीन की चादर से छूता हुआ चीड का चौखटा, नरसल की चटाई पर गारे का पलस्तर और चारो ओर जरेनियम, जो गमले मे लगा लो तो फूल हैं, नही तो निरी जगली बूटी···

यह कैसे हुआ कि वह, 'नाड्क्रेम' की रानी, आज अपने चौंतीसवें वर्ष मे इस कुटी के जरेनियम के गमले सँवारती बैठी है, और अपने जीवन मे ही नही, अपने सारे गाँव मे अकेली है ?

अभिमान ? स्त्री का क्या अभिमान ! और अगर करे ही तो कनिष्ठा करे जो उत्तराधिकारिणी होती है—वह तो सब से बडी थी, केवल उत्तर-दायिनी ! हीली के ओठ एक विद्रूप की हँसी से कुटिल हो आये। युद्ध की अशान्ति के इन तीन-चार वर्षों मे कितने ही अपरिचित चेहरे दीखे थे, अनोखे रूप; उल्लसित, उच्छ्वसित, लोलुप, गर्वित, याचक, पाप-सकुचित, दर्प-स्फीत मुद्राएँ · और वह जानती थी कि इन चेहरो और मुद्राओ के साथ उस के गाँव की कई स्त्रियो के सुख-दु ख, तृप्ति और अशान्ति, वासना और वेदना, आकाक्षा और सन्ताप उलझ गये थे, यहाँ तक कि वहाँ के वातावरण मे एक पराया और दूषित तनाव आ गया था। किन्तु वह उस से अछूती ही रही थी। यह नही कि उस ने इस के लिए कुछ उद्योग किया था या कि उसे गुमान था—नही, यह जैसे उस के निकट कभी यथार्थ ही नही हुआ था।

लोग कहते थे कि हीली सुन्दर है, पर स्त्री नही है। वह बाँबी क्या, जिस मे साँप नही बसता ?···हीली की आँखें सहसा और भी घनी हो आयीं—नहीं, इस मे आगे वह नही सोचना चाहती ! व्यथा मर कर भी व्यथा मे अन्य कुछ हो जाती है ? बिना साँप की बाँबी—अपरूप, अनर्थक मिट्टी का ढूह ! यद्यपि, वह याद करना चाहती तो याद करने को कुछ था—बहुत-कुछ था—प्यार उस ने पाया था और उस ने सोचा भी था कि—

नही, कुछ नही सोचा था। जो प्यार करना है, जो प्यार पाता है, वह

क्या कुछ सोचता है ? सोच सब बाद में होना है, जब सोचने को कुछ नहीं होता।

और अब वह बत्तखें पालती है। इतनी बड़ी, इतनी सुन्दर बत्तखें खासिया प्रदेश में और नहीं हैं। उसे विशेष चिन्ता नहीं है, बत्तखों के अण्डों से इस युद्धकाल में चार-पाँच रुपये रोज की आमदनी हो जाती है, और उस का खर्च ही क्या है ? वह अच्छी है, सुखी है, निश्चिन्त है—

लोमड़ी···किन्तु वह कुछ दिन की बात है—उस का तो उपाय करना ही होगा। वह फौजी अफसर जरूर उसे मार देगा—नहीं तो कुछ दिन बाद थेङ् क्यू के इधर आने पर वह उसे कहेगी कि तीर से मार दे या जाल लगा दे ··कितनी दुष्ट होती है लोमड़ी—क्या रोज दो-एक बत्तख खा सकती है ? व्यर्थ का नुकसान—सभी जन्तु जरूरत से ज्यादा घेर लेते और नष्ट करते हैं—

बरामदे के काठ के फर्श पर पैरों की चाप सुन कर उस का ध्यान टूटा। कैप्टेन दयाल ने एक छोटा-सा बेग नीचे रखते हुए कहा, "लीजिए, मैं आ गया।" और कन्धे से बन्दूक उतारने लगे।

"आप का कमरा तैयार है। खाना खायेंगे ?"

"धन्यवाद—नहीं। मैं खाना खा आया हूँ। रात काटने को कुछ ले भी आया बेग में! मैं जरा मौका देख लूँ, अभी आता हूँ। आप को नाहक तक-लीफ दे रहा हूँ लेकिन—"

हीली ने व्यंग्यपूर्वक हँस कर कहा, "इस घर में न सही, पर खासिया घरों में अक्सर पलटनिया अफसर आते हैं—यह नहीं हो सकता कि आप को बिलकुल मालूम न हो।"

कैप्टेन दयाल खिसिया-से गये। फिर धीरे-धीरे बोले, "नीचे वालों ने हमेशा पहाड़ वालों के साथ अन्याय ही किया है। समझ लीजिए कि पाताल-वासी शैतान देवताओं से बदला लेना चाहते हैं!"

"हम लोग मानते हैं कि पृथ्वी और आकाश पहले एक थे—पर दोनों को जोड़ने वाली धमनी इन्सान ने काट दी। तब से दोनों अलग हैं और पृथ्वी का घाव नहीं भरता।"

"ठीक तो है।"

कैप्टेन दयाल बाड़े की ओर चले गये। हीली ने भीतर आकर लैम्प जलाया और बरामदे मे ला कर रख दिया, फिर दूसरे कमरे मे चली गयी।

3

रात मे दो-अढाई बजे बन्दूक की 'धाय !' सुन कर हीली जागी, और उस ने सुना कि बरामदे मे कैप्टेन दयाल कुछ खटर-पटर कर रहे हैं। शब्द से ही उस ने जाना कि वह बाहर निकल गये हैं, और थोडी देर बाद लौट आये हैं। तब वह उठी नही, लोमडी जरूर मर गयी होगी और उसे सवेरे भी देखा जा सकता है, यह सोच कर फिर सो रही।

किन्तु पौ फटते न फटते वह फिर जागी। खासिया प्रदेश के बँगला की दीवारें असल म तो केवल काठ के परदे ही होते हैं, हीली ने जाना कि दूसरे कमरे मे कैप्टेन दयाल जाने की तैयारी कर रहे हैं। तब वह भी जल्दी से उठी, आग जला कर चाय का पानी रख, मुँह-हाथ धो कर बाहर निकली। क्षण-भर अनिश्चय के बाद वह बत्तखो के बाडे की तरफ जाने को ही थी कि कैप्टेन दयाल ने बाहर निकलते हुए कहा, "खू ब्लाई, मिस यिर्वा, शिकार जख्मी तो हो गया पर मिला नहीं, अब खोज मे जा रहा हूँ।"

'अच्छा ? कैसे पता लगा ?"

'खून के निशानो से। जख्म गहरा ही हुआ है—घसीट कर चलने के निशान साफ दीखते थे। अब तक बचा नही होगा—देखना यही है कि कितनी दूर गया होगा।"

"मैं भी चलूँगी। उस डाकू को देखूँ तो—" कह कर हीली लपक कर एक बडी 'डाओ' उठा लायी और चलने को तैयार हो गयी।

खून के निशान चीड के जगल को छू कर एक ओर मुड़ गये, जिधर ढलाव था और आगे जरँत की झाडियाँ, जिन के पीछे एक छोटा-सा झरना बहता था। हीली ने उस का जल कभी देखा नही था, केवल कल कल शब्द ही सुना था—जरँत का झुरमुट उसे बिलकुल छाये हुए था। निशान झुरमुट तक आकर लुप्त हो गये थे।

कैप्टेन दयाल ने कहा, "इसके अन्दर घुसना पडेगा। आप यही ठहरिए।"

"उधर ऊपर से शायद खुली जगह मिल जाये—वहाँ से पानी के साथ-

साथ बढ़ा जा सकेगा—" यह कर हीली बायें को मुड़ी, और कैप्टेन दयाल साथ हो लिये।

सचमुच कुछ ऊपर जा कर झाड़ियाँ कुछ विरल हो गयी थीं और उन के बीच में घुसने का रास्ता निकाला जा सकता था। यहाँ कैप्टेन दयाल आगे हो लिये, अपनी बन्दूक के कुन्दे से झाड़ियाँ इधर-उधर ठेलते हुए रास्ता बनाते चले। पीछे-पीछे हीली हटाई हुई लचकीली शाखाओं के प्रत्याघात को अपनी बाँहों से रोकती हुई चली।

कुछ आगे चल कर झरने का पाट चौड़ा हो गया—दोनों ओर ऊँचे और आगे झुके हुए करारे, जिन के ऊपर जरेंत और हाली की झाड़ी इतनी घनी छायी हुई कि भीतर अँधेरा हो, परन्तु पाट चौड़ा होने से मानो इस आच्छादन के बीच में एक सुरंग बन गयी थी जिस में आगे बढ़ने में विशेष असुविधा नहीं होती थी।

कैप्टेन दयाल ने कहा, "यहाँ फिर खून के निशान हैं—शिकार पानी में से इधर घिसट कर आया है।"

हीली ने मुँह उठा कर हवा को सूँघा, मानो सीलन और जरेंत की तीव्र गन्ध के ऊपर और किसी गन्ध को पहचान रही हो। बोली, "यहाँ तो जानवर की—

हठात् कैप्टेन दयाल ने तीखे फुसफुसाते स्वर से कहा, "देखो—श् श्!"

ठिठकने के साथ उन की बाँह ने उठ कर हीली को भी जहाँ-का-तहाँ रोक दिया।

अन्धकार में कई एक जोड़े अंगारे-से चमक रहे थे।

हीली ने स्थिर दृष्टि से देखा। करारे में मिट्टी खोद कर बनायी हुई खोह में—या कि खोह की देहरी पर—नर-लोमड़ी का प्राणहीन आकार दुबका पड़ा था—काँस के फूल की झाड़ू-सी पूँछ उस की रानों को ढँक रही थी जहाँ गोली का जख्म होगा। भीतर शिथिल-गात लोमड़ी उस शव पर झुकी खड़ी थी, शव के सिर के पास मुँह किये, मानो उसे चाटना चाहती हो और फिर सहम कर रुक जाती हो। लोमड़ी के पाँवों से उलझते हुए तीन छोटे-छोटे बच्चे कुनमुना रहे थे। उस कुनमुनाने में भूख की आतुरता नहीं थी, न वे बच्चे लोमड़ी के पेट के नीचे घुसड़ पुसड़ करते हुए भी उस के थनों को ही

खोज रहे थे···माँ और बच्चो मे किसी को ध्यान नही था कि गैर और दुश्मन की आँखें उस गोपन घरेलू दृश्य को देख रही हैं।

कैप्टेन दयाल ने धीमे स्वर से कहा, "यह भी तो डाकू होगी—"

ˊहीली की ओर से कोई उत्तर नही मिला। उन्होने फिर कहा, "इसे भी मार दें—तो बच्चे पाले जा सकें—"

फिर कोई उत्तर न पा कर उन्होंने मुड कर देखा और अचकचा कर रह गये।

पीछे हीली नही थी।

थोडी देर बाद, कुछ प्रकृतिस्थ हो कर उन्होने कहा, "अजीब औरत है!" फिर थोडी देर वह लोमडी को और बच्चों को देखते रहे। तब 'ऊँह, मुझे क्या!" कह कर वह अनमने-से मुडे और जिधर से आये थे, उधर ही चलने लगे।

4

हीली नगे पैर ही आयी थी, पर लौटती बार उस ने शब्द न करने का कोई यत्न किया हो, ऐसा वह नही जानती थी। झुरमुट से बाहर निकल कर वह उन्माद की तेज़ी में घर की ओर दौडी, और वहाँ पहुँच कर सीधी बाडे मे घुस गयी। उस के तूफानी वेग से चौंक कर बत्तखें पहले तो बिखर गयी, पर जब वह एक कोने मे जा कर बाडे के सहारे टिक कर खडी अपलक उन्हे देखने लगी तब वे गरदनें लम्बी कर के उचकती हुई-सी उस के चारो ओर जुट गयी और 'क-क्! क-क्' करने लगी।

वह अधैर्य हीली को छू न सका, जैसे चेतना के बाहर से फिसल कर गिर गया। हीली शून्य दृष्टि से बत्तखों की ओर ताकती रही।

एक ढीठ बत्तख ने गरदन से उस के हाथ को ठेला। हीली ने उसी शून्य दृष्टि से हाथ की ओर देखा। सहसा उस का हाथ कडा हो आया, उस की मुट्ठी डाओ के हत्थे पर भिच गयी। दूसरे हाथ से उस ने बत्तख का गला पकड लिया और दीवार के पास खीचते हुए डाओ के एक झटके से काट डाला।

उसी अनदेखते अचूक निश्चय से उस ने दूसरी बत्तख का गला पकडा, भिंचे हुए दाँतो से कहा · "अभागिन!" और उस का सिर उडा दिया। फिर

तीसरी, फिर चौथी, पाँचवी ' ग्यारह बार डाओ उठी और 'सट्' के शब्द के साथ बाडे का सम्भा काँपा, फिर एक बार हीली ने चारों ओर नजर दौडायी और बाहर निकल गयी।

बरामदे में पहुँच कर जैसे उस ने अपने को सँभालने को सम्भे की ओर हाथ बढ़ाया और लडखडाती हुई उसी के सहारे बैठ गयी।

कैप्टेन दयाल ने आ कर देखा, सम्भे के सहारे एक अचल मूर्ति बैठी है जिस के हाथ लथपथ हैं और पैरों के पास खून स रँगी डाओ पडी है। उन्होंने घबरा कर कहा, "यह क्या, मिस थिर्वा?" और फिर उत्तर न पा कर उस की आँखों का जड विस्तार लक्ष्य करते हुए उस के कन्धे पर हाथ रखते हुए फिर, धीमे-स, "क्या हुआ, हीली —"

हीली कन्धा झटक कर, छिटक कर परे हटती हुई खडी हो गयी और तीखेपन स थर्राती हुई आवाज स बोली, "दूर रहो, हत्यारे!"

कैप्टेन दयाल ने कुछ कहना चाहा, पर अवाक् ही रह गये, क्योंकि उन्होंने देखा, हीली की आँखों म वह निर्व्यास सूनापन घना हो आया है जो कि पर्वत का चिरन्तन विजन सौन्दर्य है।

मेजर चौधरी की वापसी

•

किसी की टाँग टूट जाती है, तो साधारणतया उसे बधाई का पात्र नही माना जाता। लेकिन मेजर चौधरी जब छह सप्ताह अस्पताल मे काट कर बैसाखियो के सहारे लडखडाते हुए बाहर निकले, तो बाहर निकल कर उन्होने मिज़ाजपुर्सी के लिए आये हुए अफसरो को बताया कि उन की चार सप्ताह की 'वारलीव' के साथ उन्हे छह सप्ताह की 'कम्पैशनेट लीव'[1] भी मिली है, और इस के बाद ही शायद कुछ और छुट्टी व अनन्तर उन्हे सैनिक नौकरी से छुटकारा मिल जायेगा, तब सुनने वालो के मन मे अवश्य ही ईर्ष्या की लहर दौड गयी थी। क्योकि मोकोक्‌चङ् यो सब डिवीज़न का केन्द्र क्यो न हो, वैसे वह नगा पार्वत्य जगलो का ही एक हिस्सा था, और जोक, दलदल, मच्छर, चूती छतें, कीचड फर्श, पीने को उबाला जाने पर भी गँदला पानी और खाने को पानी मे भिगोकर ताज़ा किये गये सूखे आलू-प्याज—ये सब चीज़ें ऐसी नही हैं कि दूसरो के सुख-दु:ख के प्रति सहज-औदार्य की भावना को जाग्रत करें।

मैं स्वय मोकोक्‌चङ् मे नही, वहाँ से तीस मील नीचे मरियानी मे रहता था, जो कि रेल की पक्की सडक द्वारा सेवित छावनी थी। मोकोक्‌चङ् अपनी सामग्री और उपकरणों के लिए मरियानी पर निर्भर था इस लिए मैं जब-तब एक दिन के लिए मोकोक्‌चङ् जा कर वहाँ की अवस्था देख आया करता था। नाकाचारी चार-आली[2] से आगे रास्ता बहुत ही खराब है और गाडी कीच काँदो मे फँस-फँस जाती है, किन्तु उस प्रदेश की आव-नगा जाति के हँसमुख चेहरो और साहाय्य-तत्पर व्यवहार के कारण वह जोखम बुरी नही लगती।

---

1 समवेदना जन्य छुट्टी।

2 चार आली—चौरस्ता, आली असमिया म सडक को कहते है।

मुझे तो मरियानी लौटना था ही, मेजर चौधरी भी मेरे साथ ही चले— मरियानी से रेल द्वारा वह गौहाटी होते हुए कलक्ते जायेंगे और वहाँ से अपने घर पश्चिम को··

स्टेशन वैगन चलाते-चलाते मैंने पूछा, "मेजर साहब, घर लौटते हुए कैसा लगता है ?" और फिर इस डर से कि कहीं मेरा प्रश्न उन्हें कष्ट ही न दे, "आप के इस—इस ऐक्सिडेंट से अवश्य ही इस प्रत्यागमन पर एक छाया पड गयी है, पर फिर भी घर तो घर है—"

अस्पताल के छह हफ्ते मनुष्य के मन में गहरा परिवर्तन कर देते हैं, यह अचानक तब जाना जब मेजर चौधरी ने कुछ सोचते-से उत्तर दिया, 'हाँ, घर तो घर ही है । पर जो एक बार घर से जाता है, वह लौट कर भी घर लौटता ही है, इस का क्या ठिकाना ?"

मैंने तीखी दृष्टि से उन की ओर देखा । कौन सा गोपन दुख उन्हें खा रहा है—'घर' की स्मृति को ले कर कौन-सा वेदना का ठूँठ इन की विचार-धारा मे अवरोध पैदा कर रहा है ? पर मैंने कुछ कहा नहीं, प्रतीक्षा में रहा कि कुछ और कहेंगे ।

देर तक मौन रहा, गाडी नाकाचारी की लीक मे उचकती-धचकती चलती रही ।

थोडी देर बाद मेजर चौधरी फिर धीरे-धीरे कहने लगे, "देखो, प्रधान, फौज मे जो भरती होते हैं, न जाने क्या क्या सोच कर, किस-किस आशा से । कोई-कोई अभागा आशा से नहीं, निराशा से भी भरती होता है, और लौटने की कल्पना नही करता । लेकिन जो लौटने की बात सोचते है—और प्रायः सभी सोचते हैं—वे मेरी तरह लौटने की बात नहीं सोचते—"

उन का स्वर मुझे चुभ गया । मैंने सान्त्वना के स्वर मे कहा, "नहीं मेजर चौधरी, इतने हतधैर्य आप को नहीं—"

"मुझे कह लेने दो, प्रधान !"

मैं रुक गया ।

"मेरी जाँघ और कूल्हे मे चोट लगी थी, अब मैं सेना के काम का न रहा पर आजीवन लँगडा रह कर भी वैसे चलने-फिरने लगूँगा, यह तुम ने अस्पताल मे सुना है । सिविल जीवन मे कई पेशे है जो मैं कर सकता हूँ । इस लिए घबराने

की कोई बात नहीं। ठीक है न ? पर—" मेजर चौधरी फिर रुक गये और मैंने लक्ष्य किया कि आगे की बात कहने मे उन्हे कष्ट हो रहा है "पर चोटें ऐसी भी होती हैं—जिन का इलाज—नही होता "

मैं चुपचाप सुनता रहा।

'भरती होने के साल-भर पहले मेरी शादी हुई थी। तीन साल हो गये। हम लोग साथ लगभग नही रहे—वैसी सुविधाएँ नही हुईं। हमारी कोई सन्तान नही है।"

फिर मौन। क्या मेरी ओर से कुछ अपेक्षित है ? किन्तु किसी आन्तरिक व्यथा की बात अगर वह कहना चाहते हैं, तो मौन ही सहायक हो सकता है, वही प्रोत्साहन है।

"सोचता हूँ, दाम्पत्य-जीवन मे शुरु मे—इतनी—कोमलता न बरती होती ! कहते हैं कि स्त्री-पुरुष मे पहले सख्य आना चाहिए—मानसिक अनुकूलता—"

मैंने कनखियों से उन की तरफ देखा। सीधे देखने से स्वीकारी अन्तरात्मा की खुलती सीपी खुद से बन्द हो जाया करती है। उन्हे कहने दूँ।

पर उन्होंने जो कहा उस के लिए मैं बिलकुल तैयार नही था और अगर उन के कहने के ढग मे ही इतनी गहरी वेदना न होती तो जो शब्द कहे गये थे उन से पूरा व्यजनार्थ भी मैं न पा सकता···

"हमारी कोई सन्तान नही है। और अब—जिस से आगे कुछ नही है वह सख्य भी कैसे हो सकता है ? उस—एक सन्तान का ही सहारा होता··· कुछ नही ? प्रधान, यह 'कम्पैशनेट लीव' अच्छा मजाक है—कम्पैशन भगवान् को छोड़ कर और कौन दे सकता है और मृत्यु के अलावा होता कहाँ है ? अब इति से आरम्भ है ! घर !" कुछ रुक कर, "वापसी ! घर !"

मैं सन्न रह गया ! कुछ बोल न सका। थोडी देर बाद चौंक कर देखा कि गाडी की चाल अपने-आप बहुत धीमी हो गयी है, इतनी कि तीसरे गीयर पर वह झटके दे रही है। मैंने कुछ सँभल कर गीयर बदला, और फिर गाडी तेज कर के एकाग्र हो कर चलाने लगा—नही, एकाग्र हो कर नही, एकाग्र दीखता हुआ।

तब मेजर चौधरी एक बार अपना सिर झटके से हिलाकर मानो उस

विचार-शृंखला को तोड़ते हुए सीधे हो कर बैठ गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा, "क्षमा करना, प्रधान, मैं शायद अनकहनी कह गया। तुम्हारे प्रश्नों के लिए तैयार नहीं था—"

मैंने रुकते-रुकते कहा—"मेजर, मेरे पास शब्द नहीं हैं कि कुछ कहूँ—"

"कहोगे क्या, प्रधान ? कुछ बातें शब्द से परे होती हैं—शायद कल्पना से भी परे होती हैं। क्या मैं भी जानता हूँ कि—कि घर लौट कर मैं क्या अनुभव करूँगा ? छोड़ो इसे। तुम्हें याद है, पिछले साल मैं कुछ महीने मिलिटरी पुलिस में चला गया था ?"

मैंने जाना कि मेजर विषय बदलना चाह रहे हैं। पूरी दिलचस्पी के साथ बोला, "हाँ-हाँ। वह अनुभव ही अजीब रहा होगा।"

"हाँ। तभी की एक बात अचानक याद आयी है। मैं शिलङ् में प्रोवोस्ट मार्शल[1] के दफ्तर में था। तब—वे डिवीजन की कुछ गोरी पलटनें वहाँ विश्राम और नये सामान के लिए बर्मा से लौट कर आयी थीं।"

"हाँ, मुझे याद है। उन लोगों ने कुछ उपद्रव भी वहाँ खड़ा किया था—"

"काफी ! एक रात मैं जीप लिये गश्त पर जा रहा था। हैपी वैली की छावनी से जो सड़क शिलङ् बस्ती को आती है वह टेढ़ी-मेढ़ी और उतार-चढ़ाव की है और चीड़ के झुरमुटों से छायी हुई, यह तो तुम जानते हो। मैं एक मोड़ से निकला ही था कि मुझे लगा, कुछ चीज रास्ते से उछल कर एक ओर को दुबक गयी है। गीदड़-लोमड़ी उधर बहुत हैं, पर उनकी फलाँग ऐसी अनाड़ी नहीं होती, इसलिए मैं रुक गया। झुरमुटों के किनारे खोजते हुए मैंने देखा, एक गोरा फौजी छिपना चाह रहा है। छिपना चाहता है तो अवश्य अपराधी है, यह सोच कर मैंने उसे जरा धमकाया और नाम, नम्बर, पलटन आदि का पता लिख लिया। वह बिना पास के रात को बाहर तो था ही, पूछने पर उस ने बताया कि वह एक मील और नीचे नाङ्थिम्-माई की बस्ती को जा रहा था। इस से आगे का प्रश्न मैंने नहीं पूछा—उन प्रश्नों का उत्तर तुम जानते ही हो और पूछ कर फिर कड़ा दण्ड देना पड़ता है जो कि अधिकारी नहीं चाहते—जब तक कि खुल्लम-खुल्ला कोई बड़ा स्कैण्डल न हो।"

"हूँ। मैंने तो सुना है कि यथासम्भव अनदेखी की जाती है ऐसी बातों

1 सैनिक पुलिस का उच्चाधिकारी प्रोवोस्ट मार्शल कहलाता है।

की। बल्कि कोई वेश्यालय मे पकडा जाये और उस की पेशी हो तो असली अपराध के लिए नही होती, वरदी ठीक न पहनने या अफसर की अवज्ञा या ऐसे ही किसी जुर्म के लिए होती है।"

"ठीक ही सुना है तुम ने। असली अपराध के लिए ही हुआ करे तो अव्वल तो चालान इतने हो कि सेना बदनाम हो जाये; इस मे इस का असर फौजियो पर तो उल्टा पडे—उन का दिमाग हर वक्त उधर ही जाया करे। खैर! उस दिन तो मैंने उसे डॉट-डपट कर छोड दिया। पर दो दिन बाद फिर एक अजीब परिस्थिति मे उस का सामना हुआ।"

"वह कैसे?"

"उस दिन मैं अधिक देर कर के जा रहा था। आधी रात होगी, गश्त पर जाते हुए उसी जगह के आस-पास मैंने एक चीख सुनी। गाडी रोक कर मैंने बत्ती बुझा दी और टार्च ले कर एक पुलिया की ओर गया जिधर से आवाज आयी थी। मेरा अनुमान ठीक ही था; पुलिया के नीचे एक पहाडी औरत गुस्से से भरी खडी थी, और कुछ दूर पर एक अस्त व्यस्त गोरा फौजी, जिस की टोपी और पेटी जमीन पर पडी थी और बुशशर्ट हाथ मे। मैंने नीचे उतर कर डॉट कर पूछा, "यह क्या है?" पर तभी मैंने उस फौजी को आँखो मे देख कर पहचाना कि एक तो वह परसो वाला व्यक्ति है, दूसरे वह काफी नशे मे है। मैंने और भी कडे स्वर मे पूछा, "तुम्हें शरम नही आती! क्या कर रहे थे तुम?"

"वह बोला, 'यह मेरी है।'

"मैंने कहा, 'बको मत!' और उस औरत से कहा कि वह चली जाये पर वह ठिठकी रही। मैंने उस से पूछा, 'जाती क्यो नही?' तब वह कुछ सहमी-सी बोली, 'मेरे रुपये ले दो'।"

"काफी बेशर्म ही रही होगी वह भी!"

"हाँ, मामला अजीब ही था। दोनो को डॉटने पर दोनो ने जो टूटे-फूटे वाक्य कहे उस से यह समझ मे आया कि दो-तीन घण्टे पहले वह गोरा एक बार उस औरत के पास हो गया था और फिर आगे गाँव की तरफ चला गया था। लौट कर फिर उसे वह रास्ते मे मिली तो गोरे ने उसे पकड लिया था। झगडा इसी बात का था कि गोरे का कहना था, वह रात के पैसे दे चुका है;

और औरत का दावा था कि पिछला हिसाब चुकता था, और अब फौजी उस का दनदार है। मैंने उसे धमका कर चलता किया। पहले तो वह गालियाँ देने लगी, पर जब उसने देखा कि गोरा गिरफ्तार हो गया है तो बडबडाती चली गयी।"

'फिर गोरे का क्या हुआ? उस तो कडी सजा मिलनी चाहिए थी?"

मजर चौधरी थोडी देर तक चुप रहे। फिर बोले, "नहीं, प्रधान, उसे सजा नहीं मिली। मालूम नहीं, वह मेरी भूल थी या नहीं, पर जीप में ले आने के घटा भर बाद मैंने उसे छोड दिया।"

मैंने अचानक कहा 'वाह, क्यों?" फिर यह सोच कर कि यह प्रश्न कुछ अशिष्ट सा हो गया है, मैंने फिर कहा, 'कुछ विशेष कारण रहा होगा—"

'कारण? हाँ, कारण' था शायद। यह तो इस पर है कि कारण कहते किस है। मैंने जैसे छोडा, वह बताता हूँ।"

मैं प्रतीक्षा करता रहा। मेजर कहने लगे, 'उसे मैं जीप में ले आया। थोडी देर टार्च का प्रकाश उस के चेहरे पर डाल कर घुमाता रहा कि वह और जरा सहम जाये। तब मैंने कडक कर पूछा, 'तुम्हें शरम नहीं आयी अपनी फौज का और ब्रिटेन का नाम कलंकित करते? अभी परसों मैंने तुम्हें पकडा था और माफ कर दिया था।" मेरे स्वर का उस के नशे पर कुछ असर हुआ। जरा सँभल कर बोला, 'सर, मैं कुछ बुरा नहीं करना चाहता था—" मैंने फिर डाँटा, सडक पर एक औरत को पकडते हो और कहते हो कि बुरा करना नहीं चाहते थे?' वह बगलें झाँकने लगा, पर फिर भी सफाई देता हुआ सा बोला, "सर वह अच्छी औरत नहीं है। वह रुपया लेती है—मैं तीन दिन से रोज उस के पास आता हूँ।" मैंने सोचा, बेहयाई इतनी हो तो कोई क्या करे! पर इस टामी जन्तु में जन्तु का-सा सीधापन भी है जो ऐसी बात कर रहा है। मैंने कहा, 'और तुम तो अपने को बडा अच्छा आदमी समझते होगे न, एकदम स्वर्ग से झरा हुआ फरिश्ता!' वह फिर बोला 'नहीं सर, लेकिन—लेकिन—'

मैंने कहा, 'लेकिन क्या? तुमने अपनी पलटन का और अपना मुँह काला किया है और कुछ नहीं।" तभी मुझे उस औरत की बात याद आयी कि यह कुछ घंटे पहले उस के पास हो गया था, और मेरा गुस्सा फिर भडक उठा। मैंने उस से कहा थोडी देर पहले तुम एक बार बच कर चले भी गये थे, उस से तुम्हें

सन्तोष नही हुआ ? आगे गाँव मे क्यों गये थे ? एक बार काफी नही था !"

"अब तक वह कुछ और सँभल गया था। बोला, 'सर, गलती मैंने की है। लेकिन—लेकिन मैं अपने साथियो स बराबर होना चहता हूँ—'

'मैंने चौंक कर कहा, 'क्या मतलब ?'

'वह बोला, 'हमारा डिवीजन छह हफ्ते हुए यहाँ आ गया था, आप जानते हैं। डेढ़ साल से हम लोग फ्रंट पर थे जहाँ औरत का नाम नही, खाली मच्छड़ और कीचड़ और पेचिश होती है। वहाँ से मेरी पलटन छह हफ्ते पहले लौटी थी, पर मैं एक ब्रेकडाउन टुकड़ी के साथ पीछे रह गया था।'

"'तो फिर ?' मैंने पूछा।

"बोला, 'डिवीजन मे मेरी पलटन सब से पहले यहाँ आयी थी, बाकी पलटनें पीछे आयीं। छह हफ्ते से वे लोग यहाँ हैं, और मैं कुल परसो आया हूँ और दस दिन मे हम लोग वापस चले जायेंगे।'

"मैंने डाँटा, 'तुम्हारा मतलब क्या है ?' उस ने फिर धीरे धीरे जैसे मुझे समझाते हुए कहा, 'सारे डिविजन के गाँवों की, नेटिव बस्तियों की छाँट उन्हों ने की है। मैं केवल परसो आया हूँ और दस दिन हमे और रहना है। मैं उन के बराबर होना चाहता हूँ, किसी से पीछे मैं नही रहना चाहता।' "

मेजर चौधरी चुप हो गये। मैं भी कुछ देर चुप रहा। फिर मैंने कहा, "क्या दलील है ! ऐसा विकृत तर्क वह कैसे कर सका—नशे का ही असर रहा होगा। फिर आप ने क्या किया ?"

'मैं मानता हूँ कि तर्क विकृत है। पर इसे पेश कर सकने मे मनुष्य से नीचे के निरे मानव-जन्तु का साहस है, बल्कि साहस भी नही, निरी जन्तु-बुद्धि है, और इसलिए उस पर विचार भी उसी तल पर होना चाहिए ऐसा मुझे लगा। समझ लो, जन्तु ने जन्तु को माफ कर दिया। बल्कि यह कहना चाहिए कि जन्तु ने जन्तु को अपराधी ही नहीं पाया।" कुछ रुक कर वह कहते गये, "यह भी मुझे लगा कि व्यक्ति मे ऐसी भावना पैदा करने वाली सामूहिक मन स्थिति ही हो सकती है, और यदि ऐसा है तो समूह को ही दायी मानना चाहिए।"

स्टेशन-वैगन हचकोले खाता हुआ बढ़ता रहा। मैं कुछ बोला नही। मेजर चौधरी ने कहा, "तुमने कुछ कहा नहीं। शायद तुम समझते हो कि मैंने भूल

की, इसीलिए चुप हो। पर वैसा कह भी दो तो मैं बुरा न मानूँ—मेरा बिलकुल दावा नही है कि मैंने ठीक किया।"

मैंने कहा, "नही, इतना आसान तो नही है कुछ कह देना" और चुप लगा गया। अपने अनुभव की भी एक घटना मुझे याद आयी, उसे मैं मन-ही-मन दोहराता रहा। फिर मैंने कहा, "एक ऐसी ही घटना मुझे भी याद आती है—"

"क्या?"

"उस मे ऐसा तीखापन तो नही है पर जन्तु-तर्क की बात वहाँ भी लागू होती। एक दिन जोरहाट म क्लब में एक भारतीय नृत्य मडली आयी थी—हम लोग सब देखने गए थे। उस मडली को और आगे लीडो रोड की तरफ जाना था, इस लिए उसे एक ट्रक में बिठा कर मरियानी स्टेशन भेजने की व्यवस्था हुई। मुझे उस ट्रक को स्टेशन तक सुरक्षित पहुँचा देने का काम सौंपा गया।

'ट्रक मे मडली की छहो लडकियाँ और साजिन्दे वगैरा बैठ गये, तो मैंने ड्राइवर को चलने को कहा। गाडी से उडी हुई धूल की बैठ जाने के लिए कुछ समय दे कर मैं भी जीप मे क्लब से बाहर निकला। कुछ दूर तो बजरी की सडक थी, उस के बाद जब पक्की तारकोल की सडक आयी और धूल बन्द हो गयी तो मैंने तेज बढ कर ट्रक को पकड लेने की सोची। कुछ देर बाद सामने ट्रक की पीठ दीखी, पर उस की ओर देखते ही मैं चौंक गया।"

"क्यो, क्या बात हुई?"

"मैंने देखा, ट्रक की छत तक बाँहे फैलाये और पीठ की तख्ती के ऊपरी सिरे को दाँतो से पकडे हुए एक आदमी लटक रहा था। तनिक और पास आ कर देखा, एक बावर्दी गोरा था। उस के पैर किसी चीज पर टिके नही थे, बूट यो ही झूल रहे थे। क्षण भर तो मैं चकित सोचता ही रहा कि क्या दाँतो और नाखूनो की पकड इतनी मजबूत हो सकती है! फिर मैंने लपक कर जीप उस ट्रक के बराबर कर के ड्राइवर को रुक जाने को कहा।'

'फिर?"

'ट्रक रुका तो हमने उस आदमी को नीचे उतारा। उस के हाथो की पकड इतनी सख्त थी कि हमने उस उतार लिया, तब भी उस की उँगलियाँ

सीधी नहीं हुई—वे जकडी-जकडी ही ऐंठ गयी थी ! और गोरा नीचे उत-रते ही जमीन पर ही ढेर हो गया।"

'जरूर पिये हुए होगा—"

'हाँ—एकदम धुत् ! आखो की पुतलियाँ बिलकुल विस्फारित हो रही थी, वह भौचक्का-सा बैठा था। मैंने डपट कर उठाया तो लडखडा कर खडा हो गया। मैंने पूछा, 'तुम ट्रक के पीछे क्यो लटके हुए थे ?' तो बोला, 'सर, मैं लिफ्ट चाहता हूँ।' मैंने कहा, 'लिफ्ट का यह कोई ढग है ? चलो, मेरी जीप मे चलो, मैं पहुँचा दूंगा। कहाँ जाना है तुम्हे ?' इस का उस ने कोई उत्तर नही दिया। हम लोग जीप मे घुसे, वह लडखडाता हुआ चढा और पीछे सीटो के बीच मे फर्श पर धप् से बैठ गया।

"हम चल पडे। हठात् उस ने पूछा, 'सर, आप स्कॉच हैं ?' मैंने लक्ष्य किया, नशे मे वह यह नही पहचान सकता कि मैं भारतीय हूँ या अँगरेज, पर इतना पहचानता है कि मैं अफसर हूँ और 'सर' कहना चाहिए। फौजी ट्रेनिंग भी बडी चीज है जो नशे की तह को भी भेद जाती है ! खैर। मैंने कहा, 'नहीं, मैं स्कॉच नहीं हूँ।'

"वह जैसे अपने से ही बोला, 'हैग फाइन व्हिस्की।' और जबान चट-खारने लगा। मैं पहले तो समझा नही, फिर अनुमान किया कि स्कॉच शब्द से उस का मदसिक्त मन केवल व्हिस्की का ही सम्बन्ध जोड सकता है···तब मैंने कहा, 'हाँ। लेकिन तुम जाओगे कहाँ ?'

"बोला, 'मुझे यही कही उतार दीजिए—जहाँ कही कोई नेटिव गाँव पास हो।' मैंने डपट कर कहा, 'क्यो, क्या मशा है तुम्हारा ?' तब उस का स्वर अचानक रहस्य-भरा हो आया, और वह बोला, 'सच बताऊँ सर, मुझे औरत चाहिए !' मैंने कहा, 'यहाँ कहाँ है औरत ?' तो बोला, 'सर, मैं ढूढ लूंगा, आप कही गाँव-वाँव के पास उतार दीजिए।' "

"फिर तुमने क्या किया ?"

"मेरे जी मैं तो आयी कि दो थप्पड लगाऊँ। पर सच कहूँ तो उसके 'मुझे औरत चाहिए' के निर्व्याज कथन ने ही मुझे निरस्त्र कर दिया—मुझे भी लगा कि इस जन्तुत्व के स्तर पर मानव ताडनीय नहीं, दयनीय है। मैंने तीन-चार मील आगे सडक पर उसे उतार दिया—जहाँ आस-पास कही गाँव

का नाम-निशान न हो और लौट आना भी ज़रा मेहनत का काम हो। अब मर कई बार सोचता हूँ कि मैंने उचित किया या नहीं—"

"ठीक ही किया—और क्या कर सकते थे? इस देश कोई इलाज न होता। मैं तो मानता हूँ कि जन्तु के साथ जन्तुकर्म ही मानवता है, क्योंकि यही करुणा है, और न्याय, अनुशासन, ये सब अन्याय हैं जो उस जन्तु को पाशविकता ही बना देंगे।"

हम लोग फिर बहुत देर चुप रहे। नाराचारी पार-आली पार कर के हमने मरियानी की सड़क पकड़ ली थी, कच्ची यह भी थी पर उतनी खराब नहीं, और हम पीछे धूल के बादल उड़ाते हुए ज़रा तेज़ चल रहे थे। अचानक मेजर चौधरी मानो स्वगत कहने लगे, "और मैं मनुष्य हूँ। मैं नहीं सोच सकता कि 'यह मेरी है' या कि 'मुझे औरत चाहिए।' मैं छुट्टी पर जा रहा हूँ—कम्पैशनेट छुट्टी पर। कम्पैशन यानी रहम—मुझ पर रहम किया गया है, क्योंकि मैं उस गोरे की तरह हिंस्र नहीं कर सकता कि मैं किसी के बराबर होना चाहता हूँ। नहीं, हिंस्र तो कर सकता हूँ, पर मनुष्य हूँ और मैं वापस जा रहा हूँ घर। घर!"

मैं चुपचाप आँखें सामने गड़ाये स्टेशन-वैगन चलाता रहा और मानता रहा कि मेजर का वह अजीब स्वर में उच्चारित शब्द 'घर!' गाड़ी की घर्र-घर्र में लीन हो जाये, उसे सुनने, सुन कर स्वीकारने की बाध्यता न हो।

उन्हों ने फिर कहा, "एक बार ट्रेन में आ रहा था तो उसी कम्पार्टमेंट में छुट्टी से लौटता हुआ एक पंजाबी सूबेदार मेजर अपने एक साथी को अपनी छुट्टी का अनुभव सुना रहा था। मैं ध्यान तो नहीं दे रहा था, पर अचानक एक बात मेरी चेतना पर अँक गयी और उसकी स्मृति तनी रह गयी। सूबेदार मेजर कह रहा था, 'छुट्टी मिलती नहीं थी, कुल दस दिन की मंजूरी हुई तो घर वाली को तारीखें लिखीं, पर उसका तार आया कि छुट्टी और पन्द्रह दिन बाद लेना। मुझे पहले तो सदमा पहुँचा, पर उस ने चिट्ठी में लिखा था कि दस दिन की छुट्टी में तीन तो आने-जाने के, बाकी छह दिन में से मैं नहीं चाहती कि तीन यों ही जाया हो जायें।' और इस पर उस के साथी ने दबी ईर्ष्या के साथ कहा था, 'तक्दीर वाले हो भाई…'"

मैंने कहा, "युद्ध में इन्सान का गुण-दोष सब चरम रूप ले कर प्रकट

होता है। मुश्किल यही है कि गुण प्रकट होते है, तो मृत्यु के मुख मे ले जाते हैं, दोप सुरक्षित लौटा लाते है। युद्ध के खिलाफ यह कम बड़ी दलील नही है—प्रत्येक युद्ध के बाद इन्सान चारित्रिक दृष्टि से और गरीब हो कर लौटता है।"

"यद्यपि कहते हैं कि तीखा अनुभव चरित्र को पुष्ट करता है—"

"हाँ, लेकिन जो पुष्ट होते हैं वे लौटते कहाँ हैं?" कहते-कहते मैंने जीभ काट ली, एक बात मुँह से निकल गयी थी।

मेजर चौधरी की पलकें एक बार सकुच कर फैल गयी, जैसे नश्तर के नीचे कोई अग होने पर। उन्हाने सँभलकर बैठते हुए कहा, "थैंक यू, कैप्टेन प्रधान! हम लोग मरियानी के पास आ गये—मुझे स्टेशन उतारते जाना, तुम्हारे डिपो जा कर क्या करूँगा—"

तिराहे से गाडी मैंने स्टेशन की ओर मोड दी।

नगा पर्वत की एक घटना

•

'मेरी समझ मे तो समस्या इस से अधिक गहरी है। आप उसे जिस रूप मे देख रहे हैं, उतनी ही बात होती तब तो कोई बात न थी।" कप्तान अर्जुन ने समर्थन के लिए कप्तान वासुदेवन् की ओर देखा।

"हाँ, फौजी जीवन आदमी को इतना अनुशासनाधीन बना देता है कि फायर का हुक्म मिलते ही वह गोली दाग देता है, उचित अनुचित कुछ नही सोचता, यह तो कोई इतनी बडी बुराई नही है। क्योकि ऐसी डिसिप्लिन तो हम चाहते ही है, और जो चाहा जाये उस का हो जाना क्यो बुरा ?"

"पर चाहना तो बुरा हो सकता है ?" कप्तान चोपडा बोले, "क्या आदमी को ड्रिल करा-करा के ऐसा यन्त्र बना देना, कि उस की मॉरल जजमेण्ट बिलकुल बेहोश हो जाये, बडा पाप नही है ? यही तो फौजी जीवन करता है ?"

"इस से किसे इनकार है ? अपनी जजमट को दूसरो की जजमेंट के अधीन कर सकना सिपाहीगीरी के लिए ज़रूरी है। लेकिन ऐसा सिर्फ फौज मे ही नही होता, यह तो हमे हर क्षेत्र मे करना पडता है।" वासुदेवन् ने उत्तर दिया।

"और फिर यह वैसे भी किसी पेशे का दोष नही, यह तो मानव का ही दोष है कि वह ऐसा करना चाहता है। मानव को मॉरल जजमट की हम चाहे जितनी दुहाई दें, असल मे वह इतने गहरे मॉरल मे नही है कि उस जजमेंट को दूसरो पर छोडने मे खुश न हो, उस के लिए यह जजमेंट का मामला एक गले म पडी आफत है, जिसे वह जितनी जल्दी दूसरो के गले डाल सके, उतना ही अच्छा। इस लिए मैं कहता हूँ कि आप समस्या को आसान कर के देख रहे हैं। फौज का पेशा मानव मे कोई नया ऐब पैदा नही कर देता, उस म जो सहज दुर्बलता है उस से लाभ उठा कर

चलता है। यह बल्कि ज्यादा बड़ी आलोचना है। यह क्या कम बात है कि छह हज़ार वरस की संस्कृति से—वासुदेवन्, छह हज़ार वरस ठीक है न ? —पैदा हुआ नैतिक बोध छह महीने की फौजी ड्रिल से ही ऐसा पस्त हो जाये कि हम बिना सोचे-समझे चाहे जिस की जान ले डालें ?"

"नही, बोध बिलकुल तो नही मर जाता। ऐसे भी तो केस होते हैं जहाँ फौज गोली चलाने स इनकार कर देती है, जैसे सिविलियनो पर, या औरतो पर—आखिर वह नैतिक बोध ही तो होता है न ?"

"हाँ, मगर वह इस लिए कि डिसिप्लिन में ऐसे अपवाद रखे जाते हैं। शिक्षा म दुश्मन की बात सामने लायी जाती है, और आमतौर पर 'दुश्मन' का अर्थ फौजी ही लिया जाता है। बल्कि सिविलियन शत्रु नही है, या कि उसे नरमी मे जीता जावे, ऐसी शिक्षा भी दी जाती है।"

'यानी आप कह रहे हैं कि अगर ट्रेनिंग मे यह भी होता कि दुश्मन ही दुश्मन नही, दुश्मन के सिविलियन और औरत-बच्चे भी दुश्मन हैं, तो उन को भी मारने म फौजी को झिझक न होती ?"

"बिलकुल, और इस समय लडाई मे इस की मिसालें भी कम नही हैं। जर्मनी के कसेंट्रेशन कैम्पो मे—"

'तो क्या नैतिक जजमेंट बिलकुल मर जाता है ? मगर—"

'मरता है, या वेहोश भी होता है कि नही, पता नही। कहे कि स्थगित हो जाता है या दूसरे पर टाल दिया जाता है। और टाल देना मानव मात्र का सहज स्वभाव है फौज का उस मे कोई हाथ नही।"

'मेजर वर्धन, आप की क्या राय है ?"

वासुदेवन् कुछ कहना चाहते थे। पर मेजर से प्रश्न पूछा गया था, उत्तर के लिए रुके रहे। मेजर वर्धन ने सहसा उत्तर नहीं दिया, अन्य अफसरो ने देखा कि वह चुपचाप आगे को झुके हुए आग की ओर स्थिर दृष्टि से देख रहे हैं। आग की लपटें जैसे जैसे उठती गिरती थी, वैसे वैसे उन के चेहरे पर एक अजीब धूप छाँह खेल उठती थी, उन के चेहरे पर एक क्लान्ति, एक उदासीनता का भाव तो था, पर उस के पीछे जैसे कही एक घोर करुणा भी छिपी हुई थी, ऐसी करुणा जो जानती है कि वह अपर्याप्त है, लेकिन फिर भी हार नहीं मानती, जैसे निर्धन माँ, पूस-माघ की सर्दी मे अपने सर्वथा अपर्याप्त एव फटे

आँचल को बच्चे पर उढा कर, आँचल के सहारे उतना नही, जितना अपनी लगन के सहारे, उसे ठिठुरने से बचा लेना चाहती हो···

फौज से छुट्टी पा कर ये परिचित अफसर कभी-कभी ऐक्स-सोल्जर्स क्लब के छोटे कमरे मे आ बैठते थे। तीनो कप्तानो ने अपने को सिविलियन जीवन मे भी कप्तान कहने के अधिकार का उपयोग किया था; मेजर वर्धन अब अपनी 'मुफ्ती' पोशाक मे 'मिस्टर वर्धन' रहना ही पसन्द करते थे, पर अभ्यासवश बाकी उन्हें मेजर कह ही जाते थे···

सहसा सन्नाटे मे जैसे चौक कर वह बोले—"मेरी राय तो तुम लोग जानते हो। असल मे हम लोग युद्ध की ओर ही ध्यान दें, तो ज्यादा अच्छा है, फौजी जीवन के दोष देखने से हमारी दृष्टि स्खलित हो जाती है।"

"लेकिन क्या दोनो एक-दूसरे मे निहित नही हैं? फौजी जीवन और युद्ध को अलग कैसे किया जाये—युद्ध के लिए ही तो फौजी जीवन है?"

'हाँ, लेकिन यह साध्य और साधन वाले झमेले मे पड़ना है। यह ठीक है कि साधन की भी परख होनी चाहिए, अच्छे साध्य के लिए लग कर भी बुरा साधन बुरा है। मगर असल म तो साध्य ही बुरा है। साधन तो शायद—उतना बुरा न भी हो।"

"यानी, आप नही मानते कि फौजी जीवन आदमी को नीचे खींचता है?"

"हाँ—और नही। अनुशासन उसे मशीन—या कि सधा हुआ पशु या शिशु बनाता है, यह ठीक है। लेकिन एक तो हम इच्छा से यह परिणाम चाहते है, जैसा कि वासुदेवन् ने कहा। दूसरे, सधा हुआ पशु मानव से ऐसा बुरा ही है, यह दावा करना दम्भ नही है?"

तीनो ने कुछ चौंकी हुई दृष्टि से मेजर की ओर देखा, मानो कहना चाहते हो, "आप से ऐसी बात की आशा नही थी।"

मेजर वर्धन ने कहा, "आप सोचते होगे कि मैं सिनिकल हो रहा हूँ। नही। सचमुच सधे पशु के लिए मेरे मन मे सम्मान है और यह भी मै मानता हूँ कि वह उतना अधिक बुरा नही हो सकता जितना कि युद्ध की परिस्थितियो मे मनुष्य हो सकता है, और मनुष्य भी कोई विकृत मन वाला खूँखार प्राणी नही, सीधा-सादा, भाई-बहिनो, जोरू-बच्चो के बीच रहने वाला, दस से छह

तक दफ्तर मे—या छह् से दस तक खेत मे— खटने वाला अत्यन्त मामूली मनुष्य, जैसे कि फौजी आम तौर पर होते है। इसी लिए जहाँ आदमी पशु बन जाता है, वहाँ मैं उसे उतना खतरनाक नहीं मानता। फौज की डिसिप्लिन केवल इतना करती है, इस से बदतर कुछ नहीं। लेकिन युद्ध "

"यह तो ठीक है कि युद्ध जो करता है, वह फौजी जीवन नहीं करता। मगर युद्ध से आदमी के गुण भी तो उभरते हैं' ·" चोपडा ने कहा।

"हाँ, वैसा भी होता है। और यह भी होता है कि जिन के गुण उभरते हैं वे आगे जा कर मर जाते हैं, और जिन के ऐब उभरते हैं वे जान बचा कर घर लौटते हैं। 'हतो वा प्राप्स्यस स्वर्गम्' आज भी उतना ही सच है, मगर 'जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'—न मालूम! बल्कि जयी आजकल क्या भोगता है, कोई कह नहीं सकता।"

"लेकिन आप यह क्यो कहते हैं कि मनुष्य पशु से बदतर हो जाता है?"

"यो तो 'मनुष्य जब पशु होता है तब पशु से बदतर होता है ' यह आपने सुना ही है। क्योंकि पशु पशु हो कर अपने पद पर है, और मनुष्य अपदस्थ, पतित। मगर आप को इस पर आपत्ति क्यो है? यह बताइए कि जब आप कहते हैं कि मनुष्य सधा हुआ पशु है, तब आप का अभिप्राय क्या होता है?"

कप्तान अर्जुन धीरे-धीरे बोले—"यही कि वह अपना विवेक छोड कर सिर्फ अनुशासन पर चलता है—हुक्म दो 'गोली मारो' तो गोली मार देगा; 'आग मे कूदो' तो आग मे कूद पडेगा। कभी झिझक भी हो सकती है, डर से, पर अगर पशु ठीक सधा है तो डर रहते भी कूद पडेगा।"

"और अनुशासन से डर को दबाने के कारण ही फौज मे इतने मेंटल केस होते हैं।"—चोपडा ने दाद दी।

"हाँ, ठीक है। तो सधा हुआ मानव-पशु अपनी सहज इच्छा या विवेक के ऊपर दूसरे की इच्छा या विवेक को मान कर उस के अनुसार चलता है! यानी मानव का जो अपने विवेक को अमल मे लाने का कर्तव्य है, उसे वह—चलिए, ताक़ में रख देता है कुछ काल के लिए। यह फौजी अनुशासन की देन है। पर अगर वह पशु अनुशासन के नाम पर अपने नैतिक बोध को, सदसद् विवेक को ताक में रख दे, और फिर सहज पशु प्रवृत्ति की झोंक मे अनुशासन को भी भुला दे · तब? तब तो वह पशु से बदतर है न?"

वासुदेवन् ने तनिक मुसकरा कर कहा, "पशु प्रवृत्ति मे बहने वाला तो पशु ही हुआ, पशु स बदतर कैसे कहेंगे—"

"हाँ, मगर सधा हुआ पशु वह नही है, और हम यह मान ले रहे हैं कि अशिक्षित पशु शिक्षित पशु से बुरा है। और युद्ध फौज के शिक्षित पशु को अशिक्षित बना देता है।"

वासुदेवन् ने बात को हलका करने के लिए कहा, "बर्न्स ने कॉलेज की शिक्षा की बुराई तो की है पर फौजी शिक्षा की ओर उस का ध्यान ही नही गया।"

चोपड़ा ने दिलचस्पी से पूछा, 'क्या प्रसग है यह ?"

"वह है न—कि अहम्मन्य मूर्ख कॉलेजो मे अपना दिमाग़ खराब करते हैं—दाखिल होते हैं बछेड़े, लेकिन निकलते हैं पूरे गधे*—"

"हाँ !" कह कर चोपड़ा ने ठहाका लगाया।

'मगर एक बात है, बर्न्स ने पशु को और घटिया पशु बनाया, मनुष्य को पशु नही।"

"हाँ, क्योंकि वह कॉलेज की पढाई की बात थी—उस म इस से ज्यादा ताकत नही है। मगर जग"—मेजर वर्धन ने फिर वातावरण को गम्भीर कर दिया। फिर मानो उन्हे स्वय ध्यान आया कि क्लब के सामाजिक वातावरण को हलका ही रहना चाहिए, और वह सहसा चुप हो गये।

कप्तान चोपड़ा थोडी देर उन्हे देखते रहे, मानो सोच रहे हो कि उस मौन को तोड़ना उचित है या नही। फिर उन्होने पूछ ही डाला, "मेजर वर्धन, आप की बात से मैं पूरी तरह कन्विंस तो नही हुआ, मगर ऐसा लगता है कि आप किसी घटना के परिणाम से ऐसा कह रहे हैं। और घटनाओ का तर्क भी एक अलग तर्क है ही।"

कप्तान अर्जुन भी बढावा देते हुए बोले, "और अपने ढग का अकाट्य तर्क ! सुनाइये, हम सब सुन रहे हैं !"

---

1. A set of dull conceited hashes
   Confuse their drains in college classes
   They gang in stirks and come out asses

—Robert Burns

मेजर वर्धन ने एक बार तीनो की ओर देखा; फिर एक स्थिर दृष्टि से आग की ओर देख कर बोले, "हाँ, घटना का अपना अलग तर्क होता है। जो घटना अभी मेरे ध्यान मे आयी थी, वह मेरी बात की पुष्टि करती है या नही, न जाने; मगर उस को समझा जा सकता है तो उसी के भीतर तर्क के आधार पर, नही तो इन्सान ऐसा अनरीज़नेबल् कैसे हो सकता है, समझ नही आता। आखिर पशु बुद्धि भी तो बुद्धि है—"

थोडी देर सन्नाटा रहा। चारो आग की ओर देखते रहे। मेजर वर्धन के चेहरे की रेखाएँ कडी हो आयी, मानो उन की स्थिर दृष्टि आग मे कुछ देख रही हो और निश्चलता के ज़ोर स उसे पकडे रहना चाहती हो फिर उन की मुद्रा तनिक-सी पसीजती जान पडी, मानो बात कहने का ही निश्चय कर के उन्हें कुछ तसल्ली मिली हो।

"बात कोहीमा की है। यानी ठीक कोहीमा की नही, कोहीमा और जसामी के बीच के इलाके की; डि-चिङ् के पार जो खुमनुबाटो का शिखर और जगल है, वही की। मैं कोहीमा की इस लिए कहता हूँ कि मैं तब 33वी डिवीज़न के साथ कोहीमा और ज़ुबजा के बीच डिव-हेडक्वार्टर मे पडा हुआ था।" वह क्षण-भर रुके, फिर कहने लगे, "वासुदेवन्, तुम तो आगे थे— और अर्जुन तो डीमापुर मे रहे—यह तो तुम्हे मालूम है कि मैं डीमापुर से इटेलिजेंस के लिए आगे गया था—

"हाँ, वह तो ऐसा गुपचुप कुछ काम था कि हम सब को बडा कौतूहल रहा। फिर हमने सोच लिया कि कोहीमा के पार जापानी लाइन के पीछे जासूसी करने जा रहे हैं। यह तो हमे मालम था कि नगा स्काउटो की एक टोली तैयार हुई है, और यह भी सुना था कि उस के कुछ जवान आप के साथ जायेंगे—"

"हाँ, था तो गुपचुप ही, बल्कि जो बात बताने जा रहा हूँ, वह भी उसी दरजे की है—टॉप सीक्रेट। और अगर वह मेरा या हिन्दुस्तानी फौज का सीक्रेट रहा होता तो मैं शायद अब भी उस की बात न करता—पता नही, अब भी वह कहानी कहना फौजी कानून के खिलाफ है कि नही। पर जो हो, सुन कर तुम लोग खुद तय करना कि आगे कही जाये या नही। मुझे तो यह बात अचानक ही एक अमेरिकन से पता लगी—हालाकि थी शुरू मे वह मेरी ही बात।"

"आप हमे भडकाने के लिए पहेलियाँ बुझा रहे हैं ?"

"नही। तुम्हे मालूम नही, उन दिनो जापानियो के साथ बहुत से आज़ाद हिन्द भी शामिल हो गये थे, इस से अँगरेज़ो के मन म बडा डर बैठा हुआ था। भेद-भाव तो यो भी था, पर इस डर स इटेलिजेंस के बहुत से काम सिर्फ अँगरेज़ो-अमेरिकनो को सौंपे जा रहे थे, भले ही हिन्दुस्तानी उस के लिए ज्यादा उपयुक्त हो। मैं भी, जो नगा जासूसो के साथ गया तो मेरे साथ एक अमेरिकी कर्नल भी था, अमेरिकी इटेलिजेंस का, जो जापानी भाषा भी जानता था। और हम गये भी उस इलाके म, जिधर सिर्फ जापानी थे—कोहीमा स उत्तर तहॅमरसेमिन्यू वाले इलाके म। दक्षिण मे जहाँ यह खयाल था कि जापानियो के साथ हिन्दी भी है वहा किसी हिन्दुस्तानी को नही भेजा गया—उधर सब ब्रिटिश अफसर थे।"

"हाँ।"

"तो इस इलाके मे भटकते हुए मुझे एक बात सूझी। उधर का जगल ऐसा दुर्गम था और अगामी नगा जातियो के इलाके मे ऐसी खेती पट्टी कुछ होती नही कि जापानी लोग लूट-खसोट कर खाते रहें और टिके रहें। आये तो वे इसी भरोसे थे कि पहले लूट पाट कर खाते रहेगे, फिर डीमापुर पर कब्जा हो जायेगा तो वहाँ ढेरो रसद जमा होगी ही—हम आखिरी वक्त तक उसे बचाने का लोभ जरूर करेंगे। तो मुझे यह सूझा कि नगा पहाडियो मे नगे तो कन्द-मूल और बूटियाँ खा कर रह भी लें, जापानी तो ये सब बातें जानेगा नही, जब नगा गाँवो का थोडा-बहुत चावल और बकरी कुत्ते खा चुकेगा, तब भूखे पेट बडी जल्दी डिमॉरलाइज़ होगा। और वैसे अर्धबर्बर का हौसला जब गिरता है तो धीरे धीरे फिसलता नही, एक दम नीचे आता है। ऐसे मे अगर उस मे यह प्रचार किया जाये कि वह आत्म-समर्पण कर दे, तो उस की जान भी बचेगी और खाना भी मिलेगा, तो—

"हाँ, विकट लडाका था जापानी। पकडा नही जाता था—मरता था या आत्मघात कर लेता था। मैंने एक बार पाँच छह कैदी जापानी देखे—वैसा पस्त जन्तु मैंने कभी नही देखा होगा। उन की आँख नही उठती थी। उन्हे कैद का दुख नही था, यह था कि वह आत्मघात न कर सके, पहले पकडे गये। मगर यह भी बात थी कि उन्हें सिखाया जाता था कि पकडे न जायें, नही तो

बडी दुर्गति होगी और यह बात उन की समझ मे भी आ जाती थी, क्योंकि वे खुद कैदियो की बडी दुर्दशा करते थे—कम से कम कई बार तो जरूर। जो हो, मुझे यह सूझा कि यहाँ खाइयो मे जो दो सौ तीन सौ जापानी कीचड, मच्छर, जोको मे पडे सड रहे हैं, तिस पर खाने को चावल-मास कुछ नही और पीने को गँदला पानी जो पियो और पेचिश से मरो; और एक बडी बात यह कि दुश्मन कहीं दीखता नही—क्योकि उस घने जगल मे वहाँ दिन मे भी अँधेरा सा रहता था, दो सौ गज दूर पर दुश्मन की खाइयाँ हो सकती थी और चिल्लायें तो एक-दूसरे की आवाज सुन सकते थे।'''तो ऐसी हालत में अगर लाउड स्पीकर से जापानियो मे प्रोपेगेंडा किया जाये तो शायद बहुत असर हो—हत्याकाड भी बचे। मुझे यह विचार ही उन जापानी कैदियो को देख कर आया था, क्योकि उन्ही से जापानी बुलवाने की बात सूझी थी।"

"मगर कैदी क्या कभी राजी होते ?"

'यह तो कोशिश करने की बात थी। बाद मे हुए भी। मैंने उस अमेरिकी कर्नल को अपनी योजना बतायी तो उस ने भी कहा कि कोशिश कर के देखना चाहिए—उस ने यह भी कहा कि उस के साथ दो अमेरिकी सार्जेण्ट हैं जो वैसे तो जापानी हैं मगर अमेरिकी नागरिक हैं और अमेरिकी फौज मे है; ये लोग खुद भी ब्रॉडकास्ट कर सकेंगे और करा भी सकेंगे—और ऐसी तो कई जगहें होगी जहाँ सामने-सामने खाइयाँ हो। उस के प्रोत्साहन से मैंने योजना बना कर डीमापुर म एरिया कमाडर के पास आगे जी० एच० क्यू० के लिए भेज दी। फिर बैठकर प्रतीक्षा करने लगा कि आगे कुछ हो। हफ्ता हुआ, दो हफ्ते हुए—तीन हफ्ते हुए—महीना हो गया। मोर्चा सँभल गया, जापानी रुक गये, 33 डिव हवाई जहाज से जोरहाट पहुँचा और आगे बढने लगा, सूने कोहीमा पर दोनों ओर से गोले बरसने लगे। कभी उन के जीरो आ कर बम गिरा गये, कभी हमारे टैंक बढे तो कोहीमा के परले मोड तक बढते गये, मगर मोड से मुडते ही पार की पहाडी मे ऐसे जोर की गोला बारी होती कि बस। तो हुआ यह कि बीच मे कोहीमा कस्बे की पहाडियो पर न वे, न हम, उधर परली पहाडी मे ऊपर नगा बस्ती मे जापानी, इधर जुबजा के आगे को जगल-ढँकी पहाडी पर हम। और मैं यह सोचता रहा कि जी०

एच० क्यू० वाले इतनी देर कर रहे हैं—अमल करने का वक्त तो फिर निकल जायेगा। अन्त मे मैंने जनरल को कहा कि याद दिलावें।"

"एक महीना तो बहुत होता है सचमुच—"

"रिमाइडर का जवाब चौथे दिन आ गया।" मेजर वर्धन ने तनिक रुक कर साथियो की ओर देखा। चोपड़ा ने कुछ अधैर्य से कहा, "क्या ?"

"कहा गया कि यह योजना 'आइडिया ब्राच' को भेज दी गयी है। वहाँ उस पर विचार हो जायेगा, हमे आगे याद दिलाने या पूछने की जरूरत नही है।"

"यह खूब रही !"

"और दो हफ्ते हो गये। अन्त मे मैंने समझ लिया कि मेरी योजना व्याव-हारिक नही समझी गयी। मैंने भी उसे मन से निकाल दिया। इस बीच उस अमेरिकी कर्नल से अलग भी हो गया था—डीमापुर वापस बुलाये जा कर वह किसी दूसरे और भी गुपचुप मिशन पर भेज दिया गया था, और मैं 33 डिव के साथ कर दिया गया था, एडवास के लिए इलाके की जानकारी उन्हे देने के लिए। 33 डिव पूरा गोरा डिव था—लडाके अच्छे मगर नगा पर्वत के भूगोल और नगा जाति के मामले मे बिलकुल सिफर। लेकिन डिव का हरावल जब कोहीमा मे घुसा, और दो-तीन दिन मे मुर्दों को हटा कर उस मटियामेट ढूहे मे हमने किरमिच के बासे खडे कर लिये, तो हमने पाया कि इधर डीमापुर से एक अमेरिकी अस्पताली टोली आयी। और इधर ऊपर से बीस-एक नगा बाँको को साथ लिये वही अमेरिकी कर्नल। मुझे मालूम हुआ कि वह पहले तो डीमा-पुर से रेल से ही मरियानी चला गया था, वहाँ से मोकोकचुड् की ओर से नगा पर्वतो मे घुसा, पहले आया जासूसो के साथ, फिर अगामियो के, और उधर से बढता हुआ लोड्सा से दक्खिन को उतरता हुआ चिपोकेटामी से फाकेकेड्जूमी की ओर जा रहा था, खुई-क्वी तक गया भी था, लेकिन उस के आगे की स्थिति स्पष्ट नही थी इसलिए लौट आया। अब अगर 33 डिव कोहीमा के पूरब जसामी वाली सडक से आगे बढेगा तो बीच के इलाके का महत्त्व भी नही; जापानी या तो पीछे हटेगा या बीच मे फँस जायेगा, और अगामी फिर किसी को छोडने के नही—एक तो यो ही वे परदेशी को धँसने नही देते, फिर जिस ने उन के घर जलाये हों, खलिहान लूटे हो, औरतो को बेइज्जत किया हो उनको तो वह भून कर खा जायेंगे। बात-चीत के सिलसिले

मे मैंने अपनी योजना की बात छेडी, और कहा कि जी० एच० क्यू० वाले भी अजीब हैं, जहाँ छह हफ्ते आइडिया ब्राच एक आइडिया को सेती रहती है। कर्नल ने एक तीखी नजर मुझ पर डाल कर कहा, 'ओ, फर्गेट इट्, वर्धन।' मैंने फिर कहा, 'खैर, आईडिया तो अब गया ही, पर आखिर जी०एच०क्यू० का सगठन क्या है? न ही अच्छा हो आइडिया, एक बार आजमा कर तो देखते! फिर मैंने खुद आगे जा कर प्रयोग करने के लिए वालटियर किया था।' अब की बार उस ने और भी निश्चयात्मक स्वर मे कहा, 'आ पाइप डाउन!' और और मेरे जिद करने पर बोला, 'वह आइडिया सडा हुआ था'''इट स्टेंक!'

"मुझे अचम्भा हुआ, कुछ धक्का भी लगा। मैंने कहा, "कर्नल, जब मैंने पहले आपको बताया था, तब तो आप को वह ऐसा सडा हुआ नही मालूम हुआ था .'

"अब की बार उस ने फिर मेरी ओर तीखी दृष्टि से देखा, और पूछा, 'तुम्हे सचमुच नही मालम कि उस आइडिया का क्या हुआ?' मैंने और भी विस्मय से कहा, 'नही तो ..'

"तब वह बोला, 'ऑल राइट, आई'ल टेल यू। वैसे जितना सिक्रेट वह तब था जब तुमने बताया था, उस से ज्यादा सिक्रेट अब हो गया है'' क्योंकि'' वह आजमाया जा चुका..'

"मैं सन्नाटे मे आ गया। 'कब?'...और . असफल हुआ?'

"मैंने पूछा, 'आपको कैसे मालूम है?' बोला, 'वही मेरा हश हश मिशन था।"

तीनो श्रोताओ ने चौंक कर कहा, "रीएली, मेजर वर्धन! ऐसी बात थी!"

"हाँ, मैं हक्का-बक्का एक मिनिट उस की ओर देखता रहा। फिर मैंने कहा, मेरी कुछ समझ मे नही आया, कर्नल! शुरू से कहिए।'

"वह कहने लगा, 'हाँ, शुरू से ही कहता हूँ। वैसे शुरू तो तुम्ही जानते हो, तुम जो सोच रहे हो कि आइडिया ब्राच वाले गुम हो कर बैठे रहे, वह बात नही थी। लेकिन.. 'वह थोडा सा झिझका, लेकिन मैं उस का भाव ताड गया। मैंने कहा, 'ओह, मैं समझा। शायद उन्होने सोचा कि इस आइडिया की जाँच हिन्दुस्तानी को नही सौंपनी चाहिए। यही न?'

" 'हाँ, मुझे डर है कि यही । जो हो, मुझे यही आज्ञा मिली। इधर से तो मोकोक्चङ् गया, वहाँ आदेश मिला । उधर से फौजें आगे बढ रही थी, सब ब्रिटिश ही थी, थोडी-सी अमेरिकी टुकडियाँ थी, बस । उन के साथ बढते हुए हम साटाका से नीचे खुड-बी पहुँचे, खुड बी के पास ही खुमनुवाटो शिखर है और उस की ढाल पर भारी जगल । दूसरी पार जुलहामी मे और साथाजूमी मे जापानी थे, यह हमे मालूम था, पर जगल मे अजीब खिचडी थी । कही हमारी नाइयाँ, कही दुश्मन की, हमे तो कुछ पता न लगता पर वे अगामी जवान तो जैसे हवा सूँघ कर दुश्मन पहचानते थे, उन्ही के भरोसे हम बढते थे । यानी आइडिया की जाँच के लिए वह आइडियल जगह थी ।"

"मेरा कुतूहल बढता जा रहा था । मैंने पूछा, 'फिर ' जाँच हुई ?'

" 'हाँ, हुई ।' उस ने कहा, फिर कुछ सोचते हुए, 'मगर कैसी जाँच ! यो तो खैर बहुत ठीक जगह थी। इधर जहाँ हमने लाउडस्पीकर फिट किये वहाँ टामियो की खाई थी । दो कम्पनियाँ सात दिन से उस खाई मे थी, चार दिन बारिश होती रही थी और उन की हालत ऐसी हो रही थी ' कि कुछ पूछो मत । तुम्हें तो कुछ खुद ही अनुभव है' कह कर वह थोडा हँस दिया, क्योकि कीचड से लदफद कही रुक कर सब कपडे उतार कर जोकें ढूँढने का काम हम साथ कर चुके थे । मच्छर से तो मच्छरक्रीम बचा लेती, पर कीचड और जोक से बचाव नही था ! फिर उस ने कहना शुरू किया, 'टामियो की हालत देख कर मैंने उन्हे बताया कि हम जापानियो को सरेंडर करने को कहने वाले हैं''' मैंने सोचा कि इस से उन के ऊबे और हारे हुए मन को कुछ सहारा मिलेगा । सात दिन से वहाँ पडे-पडे उन का खाना-पीना-सोना सब खाई मे ही हो रहा था । इतने दिन मे उन्हे एक भी जापानी नही दिखा था। लेकिन बाहर निकल कर आगे बढने या झाँकने की भी सख्त मनाही थी क्योकि यह सब जानते थे कि सामने बहुत पास दुश्मन है । जापानी की घात मे बैठे सड रहे हैं, पर जापानी है कि दीख कर नही देता, यही हाल था। उधर जापानियो का भी ठीक यही हाल होगा, यह तय बात थी । बल्कि बदतर, क्योकि हमारी लाइन मे कम से कम रसद-पट्टी तो ठीक-ठीक थी, और वे कमबख्त खाने पीने से भी लाचार थे.. उन की सप्लाई सर्विस ही नही थी ! मैंने लाउडस्पीकर लगवा दिये, और एकाएक पूरे जोर से जापानी मे ब्राडकास्ट शुरू हो गया ।'

"मैंने पूछा, 'फिर ? क्या असर हुआ ?' वह बोला, 'पहले तो आवाज होते ही ज़ोरों से मशीनगनों से गोलियों की बौछार हुई। इस का इमकान ही था, हमने खाई से दूर दूर दो-तीन लाउडस्पीकर लगाये थे, कभी कोई बोलता था कभी कोई। फिर धीरे-धीरे बौछार कुछ मद्धिम पड़ी, मानो अनमनी सी हो गयी · जैसे वे बीच-बीच में सुन रहे हों। हमने और ज़ोरों से चिल्लाना शुरू किया · तुम हार गये, तुम्हारी मौत निश्चित है, गोली से नहीं तो भूख और बीमारी में, जोकों से खून चुसवाना सिपाही का काम नहीं है, हथियार डाल कर इधर चले आओ ! इधर तुम्हारी जान भी बचेगी, खाइयों से छुट्टी भी मिलेगी, अच्छा खाना मिलेगा—जो आत्म-समर्पण करेगा, उस की प्राण-रक्षा की हम शपथ लेते हैं, वगैरह। इधर कम्पनी कमांडरों को बता दिया गया था कि जो जापानी आत्म-समर्पण करने आयें—निहत्थे या हाथ उठा कर, उन्हें आने दिया जाये, बन्दी करके आराम से रखा जाये, और फिर उन्हीं से आगे ब्राडकास्ट कराया जाये।' "

मेजर वर्धन साँस लेने रुके। फिर उन्होंने जैसे जागते हुए पूछा, "तुम लोगों का क्या खयाल है—अपील का क्या असर हुआ ?

वासुदेवन् ने कहा, "मेरी समझ में तो असर होना चाहिए था—पर आप तो बता चुके हैं कि वह नाकामयाब हुई थी।"

मेजर वर्धन फीकी हँसी हँसे। "हाँ, असर हुआ, ज़ोरों का असर हुआ। नाकामयाब वह अपील नहीं—मेरी योजना हुई थी।"

तीनों परीक्षा में चुप रहे। मेजर वर्धन फिर कहने लगे, "कर्नल मोज़ ने—यही उस अमेरिकी का नाम था—मुझे बताया, एक घंटे के हुल्लड़ के बाद राइफलें ऊपर उठाये दो सौ जापानी सहसा खाई में से निकल आये और आगे बढ़ने लगे। मुझे स्वप्न में भी उम्मीद नहीं थी कि इतनी जल्दी इतना असर होगा—बाद में मालूम हुआ कि सामने की खाई में कुल इतने ही आदमी थे · दो-तीन अफसरों ने आत्म-समर्पण का विरोध किया था, पर उनको जापानियों ने मार डाला और बाकी पीछे भाग गये दूसरी खाई में—जापानी जंगल की ओट से निकल कर सामने दीखने लगे।

"मैंने कहा, 'यह तो आश्चर्य-जनक सफलता रही !' वह बोला, 'हाँ···या कि रहती।' और चुप हो गया। मैंने पूछा, 'क्या मतलब ?' तो थोड़ा रुक कर

बोला, 'जैसे ही उन की मटमैली हरी वर्दी जंगल की हरियाली में अलग पहि-चानी गयी, और मैंने गर्दन से भर कर कहा कि देखो, वह आ रहे हैं, वैसे ही एक अनहोनी घटी। टामियों की पूरी कतार ने बिना हुक्म के, बल्कि हुक्म के खिलाफ़, झट् से सब मशीन गनें उठायीं और दनादन दाग दीं!''

'मैंने कहा, 'हैं?' और कर्नल की ओर देखता रह गया। उस ने स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा, 'हाँ! सिग्नल देने की बात ही नहीं थी, पूरी कतार सामने थी, अभी मैं समझ भी नहीं सका था कि हुआ क्या कि सब जापानी चित हो गये—दो सौ के दो सौ। बहुतेरे तो एक साँस भी न खींच पाये होंगे, कुछ एक-आध बार कराह सके, दो-एक सिर्फ़ ज़ख्मी हुए थे और बाद में अस्पताल में मरे। पर उस वक्त सब साफ़ हो गया।'

"मैंने पूछा, 'मगर यह हुआ कैसे?' वह बोला, 'अब कैसे क्या बताऊँ? ब्रिटिश आर्मी डिसिप्लिन बहुत अच्छी है, सब से अच्छी। मगर स्थिति की कल्पना करो. वैसे में जापानी की भावना पर भी गोली दाग देना एक ऑटोमैटिक ऐक्शन था'''वह हुक्मअदूली है, यह किसी के ध्यान में नहीं आया होगा। और विश्वासघात है, यह तो किसी को सूझा भी नहीं होगा!' वह थोड़ी देर चुप रहा। फिर बोला, 'लेकिन—इस तरह योजना फेल कर दी गयी—दुबारा मौका नहीं मिला। हम ने फिर भी कोशिश की, मगर विश्वास उठ गया था। हर अपील पर और ज़ोर की बौछार होती, हमारे लाउड-स्पीकर भी उड़ा दिये गये। हमारी रिपोर्ट पर कमांड से हुक्म आया कि आइडिया ठप्प है, और इस प्रयोग का कहीं ज़िक्र न किया जाये।' मैं सुन कर चुप रह गया मेरे आइडिया का क्या हुआ था, मेरी समझ में आ गया।"

मेजर वर्धन चुप हो गये। तीनों साथी थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करते रहे, फिर वासुदेवन् ने कहा, "मैं सोचता हूँ, उन जापानियों के मन की क्या हालत रही होगी उस वक्त।"

अर्जुन ने बात काट कर कहा, "उन की ही क्यों, टामियों की मानसिक अवस्था भी स्टडी के लायक रही होगी—उस वक्त भी, और फौरन बाद भी जब उन्हें मालूम हुआ होगा कि अपनी बेवकूफ़ी से ही लड़ाई कुछ और लम्बी हो गयी—या कम-से-कम उन की मुसीबत—"

मेजर वर्धन ने कहा, "हाँ, जापानियो के मन की हालत की कल्पना कम मुश्किल है। टामियो की अधिक मुश्किल।"

सहसा चोपडा ने कहा, "लेकिन मेजर, अगर कहानी इतनी ही है तो इस का हमारी बहस से क्या सम्बन्ध है?"

वर्धन ने मानो बात न सुनी हो, अपनी ही बात के सिलसिले मे वह कहते गये, 'लेकिन कल्पना ज्यादा मुश्किल इस लिए नही है कि हम टामियो के मन की हालत कम जानते हैं और जापानियो की अधिक। बल्कि इससे उलटा। जहाँ ज्ञान कम होता है वहाँ कल्पना सहज होती है। टामियो की मनोदशा की कल्पना इसलिए मुश्किल है कि हम उसे ठीक-ठीक जानते हैं—एकदम ठीक, अलजेब्रा की इक्वेशन की तरह।"

चोपडा ने आग्रह किया, 'यह तो और पहेली है। लेकिन हमारी बहस—"

मेजर वर्धन ने कहा, "ओ हाँ, हमारी बहस! हाँ, जो जापानी आये वे—पशु थे, सधे हुए पशु, यन्त्र की अपील थी, सुनने वाला भी यन्त्र था—विवेक सोया या मरा या स्थगित जो कह लो था, भूख, नीद, सूखे कपडा की आस, प्राणो का आश्वासन·· ये उस पशु को खीच लाये। ठीक है न?"

"वैसी परिस्थिति मे आत्म-समर्पण अस्वाभाविक तो नही है—?"

"वही तो। वही तो। एकदम स्वाभाविक है इसी लिए तो मैं कह रहा हूँ, पशुवत्, विवेक से परे। लेकिन टामियो का कर्म—वह तो सधे हुए पशु का नही था? उसे क्या कहोगे?"

सब थोडी देर चुप रहे। फिर मेजर वर्धन ने ही कहा, "स्वाभाविक वह भी था—इस लिए पशु-कर्म उसे भी कह सकते हैं लेकिन अनुशासन से उस का कोई सम्बन्ध नही था, और प्राण-रक्षा से भी नही था कि प्राण रक्षा वाला पशु तर्क वहाँ लगाया जा सके।"

"यान्त्रिक तो उस कर्म को कह सकते हैं—जैसे आँख के पास कुछ आने से आँख झपकती है हमारे बिना चाहे, वैसे ही यह भी अनैच्छिक···"

"हाँ···और आँख के झपकने को आप डिसिप्लिन से नही दबा सकते, है न? अगर इस तरह गोली दाग देने को आप उस लेविल पर ले जा रहे हैं, तब तो मुझ से भी आगे जा रहे हैं···मुझे और कुछ कहना नही है। फौजी जीवन मे

आदमी विवेक छोड कर अनुशासन के सहारे चलता है, और युद्ध का दबाव उसे अनुशासन से भी परे ले जाता है—उस स्थिति को मैं क्या नाम दूँ ?"

थोडी देर चुप रह कर मेजर वर्धन उठ खडे हुए । खडे-खडे बोले, "उस के लिए नाम नही है । मेरा खयाल है कि नाम जिस भाषा मे होता वह भाषा हम लोग नहीं जानते ।"

तीनो ने कौतूहल से उन की ओर देखा । वह फिर कहने लगे, "हमारी भाषा— यह विवेकी भाषा—बस्ती-गाँव की भाषा है । पशु की भाषा उस का अर्थहीन चीखना-चिल्लाना है · उस मे अर्थ नही है पर अभिप्राय हो सकता है। उस अभिप्राय को समझने के लिए हम दो-चार-छ -आठ या चलो बीस हज़ार बरस की संस्कृति को भूलना यथेष्ट है । मगर जिस भाषा म जगल मे पेड पेड से बोलता है, पत्ती-पत्ती मर्मर कर उठती है उस भाषा को क्या हम जानते हैं ? जान सकते हैं ? उसे समझने के लिए हजारो बरस की सास्कृतिक परम्परा को नही, लाखो-करोडो बरस की जैविक परम्परा को भूलना जरूरी है । आदम-हव्वा के युग मे नही, कच्छ, मछली और सूअर के अवतारो के युग मे जाना जरूरी है· सूअर के दाँत पर जो धरती टँगी हुई थी · बल्कि उस मे भी नही, वह सूअर जिस कीच मे खडा था उस मे ।"

मेजर वर्धन का स्वर आविष्ट था, उसकी गरमी तीनो साथियो को छू रही थी । मगर अँगीठी की आग ठण्डी पड गयी थी, मेजर का चेहरा अँधेरे मे था, और तीनो एक हलकी-सी सिहरन से काँप गये ।

कविप्रिया

•

शान्ता—कवि दिवाकर की पत्नी
सुधा, मालती—शान्ता की सहेलियाँ
सुरेश—बन्धु, सुधा का पति
अशोक—बन्धु
दिवाकर—कवि
बालक, माली, बेयरा

(बँगले के सामने बगीचे के एक भाग मे, शान्ता और माली।)

माली—पानी तो हम बराबर देत रहेन, माँ जी। मगर लू—

शान्ता—(जिस के स्वर मे अपार धैर्य और एक स्निग्ध अन्तर्मुखीन भाव है) रहने दो, माली, ऐसे बहान मत बनाओ। तुम्हें आदत है सब चीज दैव पर छोडने की—'दैव नही बरसेगा तो बीज नही जमेगा।' ऐसे भी देश होते हैं जहाँ दैव कभी बरसता ही नही—वहाँ··· वहाँ क्या पौधे ही नही होते?

माली—(मानो अपने बचाव मे) माँ जी—

(निकट आती हुई हँसती हुई आवाजें मालती, सुधा और सुरेश)

सुधा—वह रही, बगीचे म। शान्ता!

सुरेश—नमस्कार, शान्ता भाभी। बागबानी हो रही है?

शान्ता—अरे सुधा—सुरेश भैया! आइये! (सकपकाती-सी) मेरे हाथ मिट्टी के हो रहे हैं—माली, दौड कर जरा देवीसरन से कुरसियाँ डाल देने को कहो तो—

मालती—जी हाँ, मेरी तरफ तो देखेंगी क्यो श्रीमती शान्ता देवी—उर्फ कविप्रिया—

शान्ता—ओहो मालती! जरा सामने तो आओ, मैने तो देखा ही नही—

मालती—जी, यही तो कह रही हूँ। मुझे क्यों देखने लगीं! मैं न कवि, न बुलबुल, न गुलाब का फूल—

शान्ता—(हैरान-सी) आखिर मामला क्या है?

सुधा—(धीरे से) न सही गुलाब का फूल, मालती का सही!

मालती—(डपट कर) चुप रहो जी! (शान्ता से) अच्छा कविप्रिया देवीजी, पहले तो मिठाई खिलाइए—

सुरेश—नाम ठीक रखा है आपने—कविप्रिया देवी! आप को भी कवि होना चाहिए था—

मालती—मुझे खाहमखाह। कवि तो जो हैं सो हुई हैं—पूछो न उन की देवीजी से!

शान्ता—यह पहेली क्या है आखिर! मालती, तुम्हीं बताओ, क्या बात है—लेकिन पहले सब लोग बैठ तो जाओ!

मालती—अब तुम बनो मत, शान्ता। कल तुम्हारे कविजी सम्मेलन में सभापति रहे, उन के कविता पाठ की सारे शहर में धूम है—तुम ने तो हमें कभी बताया ही नहीं कि वह कविता लिखते भी हैं!

सुरेश—अच्छा शान्ता भाभी, वह सारे प्रेमगीत अकेले तुम्हीं को सुनाते होंगे और छिपा कर रख लेते होंगे?

सुधा—और शान्ताजी तो भला किसी को बताने क्यों लगीं अपनी सूम की दौलत!

मालती—तभी तो आज हम दल बाँध कर तुम्हें देखने आये हैं!

शान्ता—(कुछ हँस कर) तो मुझे क्यों देखने आयीं? मैं तो वही की वही शान्ता हूँ, अनपढ़, बेसमझ—मुझे तो कविता छू भी नहीं गयी। और वह तो इस समय यहाँ हैं नहीं, न जाने कब आयेंगे। खैर, तुम लोग बैठो, वह जब भी आवें—

मालती—नहीं देवीजी, यों नहीं। हम आप ही को देखने आये हैं, आप के दर्शन करने, आप से कविता सुनने—

शान्ता—(मानो अवाक्) मुझ से! कविता?

मालती—जी हाँ। आप की कविता और आप में उन की कविता। सुर से—ठीक वैसे ही जैसे वह जो आप को अकेले में सुनाते होंगे!

सुधा—जी हाँ, वैसे ही।

शान्ता—तुम लोग सब पागल हो गई हो क्या ?

मालती—यह लो। अभी अपने को अनपढ़ बता रही थी, अब हमे पागल बता रही हैं !

शान्ता—मैंने कहा तो, वह घर नही हैं, आवेंगे तो कविता सुन लेना।

सुधा—आप तो घर पर हैं न, यह पहले बताइए।

शान्ता—मैं घर पर न हूँगी तो और कहाँ हूँगी—उन के साथ सम्मेलनो मे घूमूँगी ? मुझे यह सब अच्छा नही लगता, मैं यही ठीक हूँ घर मे।

सुधा—तो तुम कभी कही जाती—

शान्ता—न, मुझे क्या करना है बाहर ? यही बगीचे मे टहल लेती हूँ—मुझे बगीचे मे काम करना अच्छा लगता है।

सुधा—बुरी बात है शान्ता ! तुम एकदम बाहर ही नही निकलती—

मालती—हाँ, यह तो बहुत बुरा है। जहाँ न जाये रवि, वहाँ पहुँचे कवि। और कवि की स्त्री घर से बाहर न निकले ? कविप्रिया बन्दिनी होगी, यह हमने कभी नही सोचा था !

शान्ता—अब बस भी करो ! बन्दिनी काहे की ? वह कवि हैं, वह बाहर जावेंगे, मुझे घर मे कम काम है ?

मालती—ओह, मैं समझी ! (सुधा से) बात यह है कि अगर कवि भी घर ही रहेंगे तो उन की काव्य-धारा फूटेगी कैसे ? प्रिया हर वक्त पास रहेगी तो कवि का चिर-विरही हिया तो चुप ही हो जायेगा। और हम ससारियो की तरह प्रिया को साथ ले कर घूमे-फिरेगा, सिनेमा देखेगा, तब तो उस की कविता का स्रोत ही सूख जायेगा। प्रिया को निर्वासन दे कर ही तो कवि, कवि बन सकता है—उस का जीवन बलि दे कर ही काव्य-साधना कर सकता है।

शान्ता—तुम रखो अपना पाण्डित्य ! मैं यह सब-कुछ नहीं जानती।

सुधा—अच्छा, ये बहाने रहने दो अब। यह बताओ कि दिवाकर बाबू—कविजी आवेंगे कब ? हम उन्हीं से उन की कविता सुन लेंगे।

शान्ता—सो मैं क्या जानूँ ? एक बार घर मे निकले तो कब लौटेंगे यह भगवान् भी नहीं बता सकते। मालती कह रही थी न, जहाँ न जाये रवि,

तहाँ जाये यवि ? सो रवि सुबह का निकला साँझ को घर लौटता
हीं है, पर कवि का क्या ठिकाना !

मालती—तुम रूठनीं नहीं ?

शान्ता—क्यो ? उन्हें कुछ काम रहना होगा ·

मालती—और तुम्हें कोई काम हो, कहीं जाना हो, तो ?

सुधा—चाय पीकर गये हैं ?

शान्ता—(कुछ रुक कर) नहीं, चाय पी कर तो नहीं गये। लेकिन मैं तो घर पर ही हूँ, जब आयेंगे तभी चाय हो जायेगी। मुझे तो कहीं जाने-आने का काम होता ही नहीं यहीं बगीचे म काम कर लेती हूँ, रूठन की बात ही क्या है !

सुधा—और रात को आये तो ?

शान्ता—तो रात को चाय होगी भोजन देर स हो जायेगा।

सुधा—भई वाह ! मानो बच्चा हो जो मिल जाये उसी मे खुश।

मालती—लेकिन मुझे तो भई, बहुत गुस्सा आता। मैं तो कभी बात भी न करती।

शान्ता—(कुछ गम्भीर होकर) हाँ भई, तुम्हें शायद गुस्सा आता, या न आता तो कम-से-कम दिखाती जरूर। (लम्बी साँस के साथ) लेकिन यहाँ यह सब नहीं चलता। मैं गुस्सा करूँ तो वह दुगुना गुस्सा करेंगे। रूठा वहाँ जाता है जहाँ कोई मनाने वाला हो—जैसे माँ के साथ · माँ के साथ मैं भी बहुत रूठा करती थी (सहसा खिलखिला कर) दीवार के साथ और कवि के साथ भी भला रूठा जाता है ?

सुधा—अच्छा, तुम कभी रोती नहीं ? जरूर रोती होगी ?

शान्ता—(थोडी देर बाद) रोती तो हूँ शायद। लेकिन तुम लोगो की तरह शायद नहीं। कोई मेरे आँसू पोछ कर मुझे मनावेगा, यह सोच कर नहीं। कभी रात मे अँधेरे म रो लेती हूँगी अन्धकार को परचाने के लिए · (गला भारी हो आता है।)

(बालक का प्रवेश)

बालक—माँ, माँ, मैं ज़रा साइकिल चला लूँ ?

शान्ता—(सुस्थ हो कर) नहीं बेटा, अब रात मे

बालक—हाँ, माँ, यही थोडी दूर ही रहूँगा···बेयरा को साथ ले जाऊँगा ··

शान्ता—अच्छा जा ! पर दूर मत जाना ।

बालक—अहा हा···आयेंगे—आयेंगे !

(बालक उछलता हुआ जाता है ।)

शान्ता—(मानो स्वगत) यह भी मेरे साथ कभी-कभी बहुत रूठता है, मैं मना लेती हूँ ।

सुरेश—बडा अच्छा लडका है । शान्ता भाभी, तुम्हारा तो मन यही बहलाये रखता होगा ।

शान्ता—हाँ, सो तो है ही ।

सुधा—और जो तग करता होगा सो ?

शान्ता—तग तो बच्चे करते ही हैं, पर उस से कोई तग होता थोडे ही है । मैं तो सोचती हूँ, मुन्ने के कारण मुझे दुनिया के हिसाब-किताब से छुट्टी मिली—क्या पाया, क्या नही पाया, इस का लेखा जोखा रखने की जरूरत नहीं अब मुझे । मैं समझती हूँ कि जीवन जो देता, मैंने पा लिया

मालती—कैसा हिसाब किताब ?

शान्ता—हिसाब किताब नही तो और क्या ! कहने को तो यह सब भावना, आकाक्षा, मन और अध्यात्म की बातें हैं, लेकिन असल मे तो हिसाब-किताब ही है न । कितना रग, कितना उजाला, कितना अँधेरा, कितना प्रकाश, कितनी छाया, कितना प्यार—कितना आराम, कितना परिश्रम जीवन मे मिला "जो लोग रोमास के पखो पर उडते हैं, वे भी इस हिसाब-किताब को भूलते नही । और इस जोड-बाकी म अगर मुनाफा देखें तो खुश होते हैं, घाटा देखें तो जीवन के प्रति असन्तोष उन्हें होता है । सुधा, तुम क्या सोचती हो मैं नही जानती, पर मैं तो भावना के हिंडोले नही झूलती । मेरा जीवन शान्त, स्थिर हो गया है क्योंकि मैं प्रिया नहीं, माता हूँ । (स्वर क्रमश भावाविष्ट होता जाता है ।) मैं स्नेह और आदर की अपेक्षा म रहनेवाली नहीं, स्नेह देने वाली हूँ । मैं सुबह से शाम तक जो कुछ करने का है, करती जाती हूँ—जागती हूँ, उठती हूँ,

खिलाती हूँ, खाती हूँ, देखती हूँ, सुनती हूँ—और मैं किसी चीज का, किसी बात का प्रतिवाद नहीं करती। प्रतिवाद कोई किस का करे—जीवन कोई बुझौवल थोड़े ही है, वह सब से पहले अनुभव है!

सुरेश—(मानो अधिक गम्भीर बात को हंसी में टालने का यत्न करता हुआ) जीवन बुझौवल है कि नहीं, यह तो अलग बात है पर भाभी तुम जरूर हो।

शान्ता—(उसी प्रकार आविष्ट) हूँगी। जरूर हूँगी—इसी लिए कि मुझ मे बुझौवल कहीं नहीं है मैं सुलझाव ही सुलझाव रह गयी हूँ। 'दो' पहेली है जिस का सुलझाव है 'एक' और 'एक'। लेकिन 'एक' 'एक' भी पहेली है इसी लिए कि उस का आगे सुलझाव नहीं है, वह निरी इकाई है होने और न होने की सीमा-रेखा। उसे सुलझाना चाहने का मतलब है उस मिटा ही देना।

सुरेश—(प्रयत्नपूर्वक विषय को बदल देने के लिए) शान्ता भाभी, सामने का बगीचा तो देखा पीछे भी कुछ बना है?

शान्ता—(सँभल कर बदले हुए स्वर में) अभी तो बन रहा है। मगर अँधेरे मे दीखेगा क्या? (जोर से) माली!

माली—हाँ माँजी! का हुकुम है माँजी?

शान्ता—उधर क्यारी मे पानी लगा दिया है?

माली—हाँ माँजी—

शान्ता—देखोगे तुम लोग? चलो!

(उधर जाते हुए स्वर)

सुधा—उधर चबूतरे के आस पास तो बेला फूला होगा?

सुरेश—अहा यह करौंदे की झाड़ी तो बड़ी सुन्दर है। यहीं बैठ कर कविजी कविता लिखते होंगे न?

शान्ता—सो मैं क्या जानूँ कि वह कहाँ बैठकर लिखते हैं? लेकिन तुम लोग तो बैठो इस चबूतरे पर।

सुधा—तभी तो मैंने तुम से पूछा था कि तुम घर पर रहती हो न?

मालती—फिर तुम ने शुरू की वही बात? कवि की प्रिया घर नहीं रहती। घर पर रहे तो वह प्रिया नहीं है। आज तक कभी सुना है कि

किसी कवि ने प्रिया को सामने बिठाकर काव्य लिखा हो और वह काव्य सफल हुआ हो ? कवि एक अपार्थिव प्रेम का चित्र मन में लिये उस चित्र से जीवन का मिलान करते हुए चलता है···और जीवन को घटिया पाता है। उस की एक कल्पना की प्रिया होती है जिसे वह सारी दुनिया में ढूँढता फिरता है और कभी पाता नहीं। जीवन में जो प्रिया मिलती है वह तो मानवी है, उसके कल्पनालोक की देवी थोड़े ही है। वह देवी जो सोच सकती है—यानी कवि की कल्पना में—वह कोई पार्थिव प्रिया नहीं सोचती, जो वह सकती है, जैसे-जैसे प्रेम कर सकती है, वह कोई हाड-माम की प्रिया क्या कर पायेगी! तभी तो कवि लोग ऐसे तोता-चश्म होते हैं · अगर उन्हें कल्पना के प्रति सच्चे रहना है तो फिर वास्तव से तो मन फेरना ही होगा, क्योंकि वास्तव तो जिस चीज़ को वह छूते हैं वही पाते हैं कि निरी मिट्टी है, और मिट्टी को ही प्यार करें, तो फिर कल्पना विचारी क्या हो ? किसी भी बड़े कवि का जीवन ले लो, उस की सारी ज़िन्दगी एक खोज है जिस का नतीजा केवल इतना है कि 'नहीं। यह नहीं। यह भी नहीं। यह भी नहीं।' इसी कभी न मिटने-वाली खोज को, कभी न बुझनेवाली प्यास को, कोई कूँची से आँकता है, कोई कलम से लिखता है, कोई छन्दों में बाँधता है, और लोग देख-सुन कर कहते हैं 'कितना सुन्दर! कितना मार्मिक! कैसा दिव्य प्रेम!' कवि को जीवन में आनन्द नहीं मिलता पर यश तो मिलता है, उनकी कीर्ति अमर हो जाती है। पर कवि की स्त्री—मृत्यु के पार अमर होने की बात तो दूर, वह तो जीवन में भी—

सुधा—भई मालती, तुमने तो कमाल कर दिया। अब तो तुम्हें किसी मीटिंग में ले जा कर मंच पर खड़ा कर देना चाहिए। ऐसी फुल-झड़ी-सी लगा दी तुमने तो—

मालती—तुम्हें तो हर वक्त ठट्ठा ही सूझता है। पूछो न शान्ता से, वह भी तो हमारी-तुम्हारी उम्र की है, कोई बात है भला कि ऐसी दार्शनिकों की-सी बातें करे? शान्त स्थिर—होने और न होने की

गोमा-रेग्रा ! हूँ ! मुझे तो ऐसा गुस्सा आ रहा है इन कवियों पर कि—

सुरेश—सो तो दीख ही रहा है। लेकिन अब आप गुस्सा मत कीजिए; चाहे तो इस करौंदे की छाँह में बैठ कर कविता कीजिए। (सुधा से) क्यों जी अब चलना चाहिए न ?

सुधा—हाँ, बड़ी देर हुई। अच्छा शान्ता बहिन, फिर आयेंगे कभी—कविजी से कह देना, कविता जरूर सुनेंगे।

सुरेश—नमस्ते, भाभी।

शान्ता—हाँ जरूर आना, बहिन। वह होंगे तो जरूर सुनायेंगे ही तुम लोगों को। नमस्ते, सुरेश भैया—

मालती—मैं भी तो चल रही हूँ भई, कि मुझे छोड़े जा रहे हो ?

सुधा—(हँसती हुई) हमने सोचा, शायद तुम्हारा व्याख्यान अभी समाप्त न हुआ हो !

मालती—अच्छा शान्ता, मेरी किसी बात का गुस्सा मत करना—

शान्ता—वाह गुस्सा कैसा। फिर आना !

मालती—हाँ। नमस्ते !

(जाते हैं)

शान्ता—(स्वगत) अब ! (धीरे-धीरे गुनगुनाने लगती है)

सखी, मेरी नींद नसानी हो !
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो,
बिन देखे कल ना परे, मेरी नींद नसानी हो।
सखी, मेरी नींद नसानी हो—
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।
रैन बिहानी हो ।—

शान्ता—(सहसा चुप हो कर) आ गये ? (जोर से) बैरा ! चाय तैयार करो ! अरे नहीं—(चौंक कर और फिर सुस्थ हो कर) ओह, अशोक !

अशोक—पहचानती भी नहीं दीदी !

शान्ता—मैं समझी थी—

अशोक—क्या समझी थी ?

शान्ता—कुछ नहीं। आओ, बैठो।

अशोक—(बैठता है) शान्ता दीदी, अँधेरे में बैठी क्या कर रही थी ?

शान्ता—कुछ नहीं, आकाश देख रही थी। मुझे साँझ के बाद आकाश देखना बहुत अच्छा लगता है। कैसे धीरे-धीरे अन्धकार घिरता आता है और धीरे धीरे सब कुछ पर छा जाता है इस जीवन के, इस लोक के सब आकार मिट जाते हैं एक मौन निःस्तब्धता में, और फिर दूर—कितनी दूर!—उदय हो आते हैं कितने नये लोक और उन के अपने नये आकार! लोग सूर्यास्त के रंगों को सुन्दर बताते हैं, लेकिन उस से भी सुन्दर होता है सूर्यास्त की भी लालिमा का मिटना—

अशोक—रोज देखते-देखते ऊबती नहीं, एक ही दृश्य ?

शान्ता—ऊबना कैसा ? यह मिटने का खेल तो नित नया है—यही तो एक खेल है जो हमेशा नया है। और इसे देखते देखते इन्सान विभोर हो कर अपने को निरे जीवन पर छोड़ देता है—हम अपने को जीवन पर छोड़ दे सकते हैं, तभी तो हम जी सकते हैं, उस का हल खोजना हो तो उसे पहेली बनाना है।

अशोक—दीदी, मैं आया तब तुम शायद गा रही थी न ? मैं सोचता हूँ, यहाँ चुपचाप बैठ कर गाना सुनूँगा।

बेयरा—चाय तैयार है, सा' ब।

शान्ता—लो, पहले चाय पियो।

अशोक—दीदी, यही तो बात मुझे अच्छी नहीं लगती। यह भी कोई चाय का समय है भला ? और मैं कोई अजनबी तो हूँ नहीं जो खातिर करें—

शान्ता—तुम्हीं थोड़े ही पियोगे ? मैं भी तो लूँगी—

अशोक—उस से क्या! रात के तो नौ बजे हैं। इस समय आपने मेरे लिए चाय क्यों मँगायी ?

शान्ता—आप के लिए क्यों ? चाय का आर्डर तो मैं तुम्हारे आने से पहले दे चुकी थी!

अशोक—ओह, तो आप लीजिए। मैं तब तक आप का आकाश देखता हूँ—मैं तो चाय लूँगा नहीं।
शान्ता—नहीं, मैं तो चाय केवल साथ के लिए पी लेती हूँ—मुझे भी इच्छा नहीं रही।
अशोक—यह अच्छी रही। आपने चाय मँगायी भी थी, और अब ले भी नहीं रही।
शान्ता—मैंने अपने लिए नहीं मँगायी थी।

(बेयरा आता है।)

अशोक—तब ?
बेयरा—जी सा'ब—
शान्ता—चाय उठा ले जाओ। और बाबा वापस आ गया है न ? साइकिल अन्दर रख दिया है ?
बेयरा—जी। बाबा सोने जाते हैं।

(ट्रे समेट ले जाता है।)

अशोक—शान्ता दीदी, आप जो गाना गा रही थीं, वही गाइये।
शान्ता—मैं क्या गाती हूँ। वह तो यों ही कभी गुनगुनाती हूँ—
अशोक—जो हो—

(शान्ता बाहर की ओर जाती है, आकाश की ओर देखती है। उस का स्वर दूर से आता है।)

शान्ता—अच्छी बात है, मैं तो तारे देखते देखते कभी गुनगुनाया करती हूँ—
(धीरे-धीरे गाती है)

सखी, मेरी नींद नसानी हो।
पिया को पन्थ निहारते सब रैंन बिहानी हो।
बिन देखे कल ना परे, मेरी नींद नसानी हो।
सखी, मेरी नींद नसानी हो—
पिया को पन्थ निहारते सब रैंन बिहानी हो।
रैंन बिहानी हो—

(गाते गाते शान्ता का गला भारी हो आता है—फिर आवाज सहसा टूट जाती है। एकबार गला साफ करने का शब्द, फिर एक

कडी गाती है, फिर गला रुँधता है और वह सहसा चुप हो जाती है)
अशोक—(सहसा चिन्तित) क्या बात है, शान्ता दी—
(बहुत हल्की-सी सिसकी का शब्द)
अशोक—(धीमे, कोमल स्वर से) शान्ता दी—
(क्षण भर मौन)
(बाहर मे निकट आता ताँगे का शब्द और घण्टी)
अशोक—(शान्ता को थोडी देर अकेली छोड देना उचित समझ कर वहान बनाता हुआ सा) शान्ता दी, मैं ज़रा मुन्ने को देख आऊँ, नही त अभी सो जायेगा। अभी आया।
(बाहर दूरी पर ही कवि का शब्द, क्रमश निकट आता हुआ)
कवि—ओह, शान्ता। मुझे अभी तत्काल फिर बाहर जाना होगा, ज़र जल्दी से एक प्याला चाय दे दोगी—
शान्ता—(सँभल कर) जी!
(भीतर जाती है।)
(भीतर से बालक की हँसी का शब्द)
बालक—(भीतर स) बस, अशोक मामा, गिलगिली मत चलाइए—
अशोक—तो तुम बोलते क्यो नही?
कवि—अरे, कौन, अशोक? (ज़ोर स) अशोक!
अशोक—(भीतर से) आ गये आप?
कवि—अरे यहाँ आओ यार, दो मिनिट गप्प ही करें, अभी तो चर जाऊँगा।
अशोक—(निकट आकर, विस्मित स्वर मे) कहाँ?
कविय—यही ज़रा बैठो। चाय पियोगे?
अशोक—नही, इस समय नही।
(भीतर स शान्ता के गुनगुनाने का स्वर, जो क्रमश कुछ स्पष्ट जाता है।)
शान्ता—(गाती है।)
सखी री, नीद नसानी हो।
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।

ज्यो चातक घन को रटैं, मछरी जिमि पानी हो,
मीरा व्याकुल बिरहिनी, सुधि-बुधि बिसरानी हो।

कवि—(अर्ध स्वगत) फिर वही गाना।

अशोक—क्यो, आप को गाना अच्छा नही लगता ?

कवि—नही, गाना क्यो नही अच्छा लगेगा, पर शान्ता वही एक ही रोने-रोने सुर गाती है। (सहसा चुप हो जाता है।)

(शान्ता का स्वर स्पष्ट हो गया है, वह पास आ रही है।)

"सखी, मेरी नीद नसानी हो।
पिया की पन्थ निहारते सब रैन—"

(गान सहसा वद हो जाता है।)

शान्ता—लीजिए, चाय !

देवीसिंह

•

"बाबूजी, कुछ मैगजीन खरीदेंगे ?"

मिस्टर अस्थाना ने उस का सवाल नहीं सुना। सवाल तो दूर, किसी का जवाब सुनना भी उन्हें गवारा नहीं होता। अपनी ही बात उन्हे कितनी प्रिय है, यह मैं अक्सर सोचा करता हूँ। मुझ से बोले, "तुम्हारी दलीलें सब वैसी होती हैं। तुम, एक आदमी के प्रयास को देख कर ही मुग्ध हो जाते हो, तुम्हें यह दीखता ही नही कि एक आदमी कुछ नही, एक आदमी की 'इन्स्ट्रगिल' कोई माने नही रखती, असल चीज, वर्गो का सघर्ष है।"

जवाब देने की व्यर्थता जानते हुए भी मैं कुछ कहता, पर लडके ने फिर पुकारा, "बाबूजी, मैगजीन खरीदेंगे ? नयी आयी हैं कई-एक..."

और मैं क्षण-भर उसे देखता ही रह गया। किसी तरह मैंने कहा, "अरे, देवीसिंह, तुम !!" और एक बार फिर सिर से पैर तक उसे देख गया। उस ने कुछ आहत अभिमान के भाव से कहा, "हाँ, बाबूजी, मैं दिन मे स्कूल मे पढता हूँ, शाम को अखबार बेचता हूँ।"

मिस्टर अस्थाना से मैंने कहा, "इस की कहानी आप जानते, तो आप की बात का जवाब आप को खुद मिल जाता।"

"हूँ।"

हाँ, वह 'हूँ' कर के बात उडा दे सकते हैं। पर मेरी स्मृति मे सहसा कई बातें काँटे-सी उभर आईं। कोई दो साल पहले की बातें, जब मैंने देवीसिंह को पहले-पहले देखा था और फिर उस का नाम जाना था।

फैंसी बाजार मे लम्बे बरामदे मे से होता हुआ मैं चला जा रहा था। जहाँ-तहाँ कपी-शीशे, चादर-तौलिये और फीते-तस्मे

लहजे के अनुकूल, मैंने भी मानो अपनी सफाई देते हुए कहा, "अरे, मेरे पास तो सिर्फ दुअन्नी है !"

उस ने मेरी ओर कुछ सन्दिग्ध भाव से देखा—कहीं मैं उसे बना तो नहीं रहा हूँ। फिर तनिक मुस्करा कर बोला, "चलिये, दुअन्नी ही दे दीजिये—काम आ जायेगी।"

दुअन्नी दे कर मैं उस से उस का नाम, पता और इतिहास पूछने लगता तो कोई अजब बात न होती। मैंने अक्सर लोगों को ऐसा करते देखा है। शायद किसी की करुण कहानी सुन कर अपने इकन्नी-दुअन्नी के बलिदान की इयत्ता बढ जाती है। पर मैं चाहता भी तो उस ने मौका नहीं दिया। दुअन्नी लेते ही उस का हाथ नीचे पड़ी घोड़ी पर टिका, देह का भार उस पर साध कर वह मुड़ा और इस फुर्ती से खभे की ओट हो गया, कि मैं भौचक-सा रह गया। साथ ही ओट से उस के कंठ का स्वर मैंने सुना, "अबे, हो गया बे ! अबे, ले आ बे—यहीं ले आ !"

मेरा कौतूहल उचित था या नहीं, सो मैं क्या जानूँ, पर मैं खभे की ओट रह कर आगे की बातों पर कान लगाये रहा।

उसी के समवयस और एक लड़के की आवाज आई, "क्या हो गया बे, देवीसिंह ?"

"बस देवता रे—अभी पता लग जायेगा·· "

और एक तीसरा स्वर, निकट आता हुआ, "अबे साले, तू बता दे।"

"देख बे, गाली-वाली मत दे, नहीं तो अभी ठीक कर दूंगा—हाँ !"

और फिर दूर किसी की ओर उन्मुख हो कर देवीसिंह ने आवाज़ दी, "ले आ बे, जल्दी ले आ, इन को भी दिखा दीजो !"

क्षण-भर बातचीत स्थगित रही। फिर एक चौथा, कुछ रूखा पछाहीं स्वर बोला, "अबी देक्खो।"

देवीसिंह ने बड़े उत्कंठ स्वर से कहा—"अच्छा खाला दिखाना—पूरा ! बीच में कुछ छोड़-छाड़ मत जाना, हाँ !" और उस ने एक चीत्कार किया जैसा सामने मधुर भोजन आने पर कभी लोग करते हैं।

रूखा स्वर कुछ और रुखाई से बोला, "चार तो पैसे दोगे।"

देवीसिंह ने डपट कर कहा, "अबे चार क्यों बे—अब तू आठ ले लेना

देवीसिंह !

र देखेंगे हम पूरा।" फिर कुछ रुक कर, "देख बे, तू भी कंगाल है, और हम भी कंगाल हैं। तू जो मुझ पे आता है दिखा दे, और जो हम से बनेगा दे देंगे, समझा ? और इससे ज्यादा बाहरा भी क्या दे देवें हैं ? · क्यों बे, ठीक कहो कि नहीं ?"

मैंने तनिक झाँक कर देखा। रूखे स्वर के मालिक ने कन्धों पर से बहँगी उतार कर दो पिटारियाँ जमीन पर टिका दी थीं। उसकी रूखी लटें उसके थके और धूल भरे चेहरे से चिपक रही थीं। एकाग्र हो कर वह पिटारियाँ खोल कर एक मैली गूदड़ी की ओट में तरह-तरह की चीजें इधर-उधर जमा रहा था ·

उस दिन मैंने इतना ही देखा था। यों यह भी काफी असाधारण और स्मरणीय था ही। क्रमशः उस के बारे में और भी कुछ ज्ञात हुआ। लेकिन ज्ञान उसे कहना चाहिए जिससे नई दृष्टि मिले, नहीं तो जानकारियों का कोई अन्त थोड़े ही है। देवीसिंह के माता पिता नहीं थे, कम से-कम उस के सम्पर्क में नहीं थे, किसी चाचा ने उसे पाला था और फिर शहर के मरुस्थल में डाल दिया था कि जा सके तो कोई हरियाली ठाँव ढूँढ़ ले।' किन्तु देवीसिंह को जीवन में रुचि थी—अपार रुचि थी—वह हारा हुआ भिखारी नहीं बन सका था

मुझे बरामदे में वह अक्सर दीख जाता। लेकिन हर बार पैसे नहीं माँगता, मुस्करा कर रह जाता। धीरे धीरे समझ में आया कि वह किसी एक व्यक्ति से सप्ताह में एक बार से अधिक नहीं माँगता, और समय, मुस्करा कर मानो कह देता है कि हाँ, मैं जानता हूँ आप मेहरबान है, जब मुझे जरूरत होगी आप से माँग लूँगा

कुछ महीनों बाद वह एकाएक लापता हो गया। उस बरामदे से गुजरते हुए जब-तब उस की अनुपस्थिति खटक जाती। पर जल्दी ही मैं उस का भी आदी हो गया फिर कोई डेढ़ वर्ष बाद ही, उस दिन मिस्टर अस्थाना के साथ जाते अचानक उसे मैगजीन बेचते हुए देखा। जब अचम्भा कुछ सँभला तो मैंने उसे फिर सिर से पैर तक देखा। अब की बार धड़ तक नहीं, पैर तक ही, क्यों कि अब वह खड़ा था। उसकी दोनों टाँगें लोहे और लकड़ी के एक चौखट में कस कर सीधी कर दी गई थीं—अभी उन में जोर इतना नहीं था कि वह केवल उन्हीं के सहारे खड़ा हो सके, पर वह चल तो सकता था, और अब उस

के चेहरे पर आत्मविश्वास और भी स्पष्ट था···पूछने पर मालूम हुआ कि उस ने पैसे जुटा कर अपने इलाज का प्रबन्ध किया था, पोलियो रोग के एक विदेशी विशेषज्ञ के पास छ महीने बिताये थे, और अब अपने भविष्य के बारे मे आश्वस्त था···अब जो हो, वह भीख नही माँगेगा और मैगजीनो की बिक्री के सहारे पढ भी लेगा···

एक दिन मैंने पूछा, "देवीसिह, मदारी का तमाशा अब नहीं देखते ?"

उस ने हँस कर उत्तर दिया, "बाबूजी, सब तो तमाशा ही तमाशा है।"

इस अकाल-परिपक्वता से कुछ सहम कर मैंने पूछा, "क्या मतलब ?"

वह बोला, 'पहले मैं जमीन पर रेंगता था, कुछ भी देखने के लिए मुझे गर्दन उठानी पडती थी। तब हमेशा ऐसे तमाश की तलाश रहती थी जो बिन गर्दन थकाए देख सकूँ, अब तो खडा-खडा सब देखता हूँ। सभी तमाशा है!' फिर कुछ रुक कर, जरा शरारत-भरी हँसी से, "देखिए न, कैसे-कैसे बा साहब आते हैं और क्या-क्या मैगजीन खरीदते हैं।"

उस दिन मैंने सोचा था, इस समय वहीं मिस्टर अस्थाना साथ होते पर अच्छा ही हुआ, नही थे। नही तो सारी बात सुन कर उन्हें केवल वर्गयु का और प्रमाण ही दीखता, क्योंकि नही तो विटामिन 'सी' की कमी ही क हो, और पोलियो ही क्यों हो ?

ऐसे भी लोग हैं जो मानते हैं कि अभाव मे भी अपने को उपयोगी बनान पगु हो कर भी समाज मे अपने अस्तित्व को सार्थक बनाना, केवल पलायन है उन के लिए वर्गों का सघर्ष ही सब-कुछ है, व्यक्ति का आत्म-दान कुछ नहीं वे यह नहीं देखते कि आत्मदान स पलायन, सब से बडा पलायन है—व जीवन के रस से पलायन है—किस मरुभूमि की ओर, कौन जाने !

नारंगियाँ

•

उस दिन जब मोहल्लेवालों ने देखा कि हरसू ने मोहल्ले के बाहर की, नाम को पक्की, पर *वास्तव में धूल-भरी सड़क* पर पुआल और बोरिये का टुकड़ा बिछा कर उस पर नारंगियाँ सजा कर दुकान कर ली है, तो सब के सब विस्मय से ताकते रह गये। हरसू और दुकान!

जब से हरसू और परसू दोनों भाई अचानक आ कर मुहल्ले के सिरे की पुरानी दीवार की एक मेहराब के नीचे घर बना कर जम गये थे, तब से किसी ने उन को काम करते हुए या काम की तलाश भी करते हुए कभी नहीं देखा था। रिफ्यूजी दूसरे मोहल्लों की तरह इस मोहल्ले में भी अनको आये थे, लेकिन सभी बहुत जल्द इस कोशिश में जुट गये थे कि वे 'शरणार्थी' न रह कर 'पुरुषार्थी' कहलाने के अधिकारी हो जायें। सभी ने कुछ-न कुछ जुगत कर ली थी या गुज़र-बसर का कोई वसीला निकाल लिया था। लेकिन हरसू और परसू ज्यों-के त्यों बने हुए थे। किसी ने उन्हें कभी भीख माँगते नहीं देखा, चोरी करते भी कम से-कम देखा तो कभी नहीं यद्यपि यह सब समझते थे कि दोनों भाई अगर कुछ ले कर नहीं आये हैं और कुछ कमाते भी नहीं है तो चोरी के बिना कैसे काम चलता होगा! हाँ चोर-जैसे वे दीखते भी नहीं थे, किसी के सामने उन की आँखें नीची नहीं होती थीं और दोनों का बर्ताव कुछ ऐसा शालीनता-भरा होता था कि किसी को कुछ पूछने का साहस भी नहीं होता था।

शालीनता के स्तर में कुछ गिराव कभी दीखता था तो दोनों भाइयों के आपस के व्यवहार में। यही नहीं कि वे आपस में लड़ते-झगड़ते थे—इतना ही कि परसू हमेशा हरसू को ताने देता रहता था या जैसे भी सम्भव हो कोंचता रहता था। हरसू प्रायः दीन-भाव से सब कुछ सह लेता था, लेकिन कभी-कभी वह भी बिना

अपना स्वर ऊँचा उठाये जला-भुना उत्तर दे देता था। पछाँही लोगों में ऐसी बातों पर फौरन तू-तड़ाक और मार-पीट की नौबत आ जाती है, और रिफ्यूजी तो और भी आसानी से जिस पर-तिस पर हाथ छोड़ बैठते हैं; इस लिए मोहल्लेवाले इन दोनों भाइयों के इस तनाव-भरे सहास्तित्व पर और भी अचम्भा किया करते थे।

खैर, अब हरसू ने नारंगियों की दुकान लगायी है, और परसू दुकान से कुछ दूर पर एक पुलिया पर बैठा हुआ बड़ी अवज्ञा से दुकान की ओर हरसू की ओर देख रहा है।

एक एक कर के मोहल्ले के दो-चार बच्चे नारंगियों की दुकान के आस-पास इकट्ठे हो गये हैं। नारंगियों का आकर्षण तो है ही, लेकिन उस से अधिक इस बात का कौतूहल कि दुकान हरसू की है।

एक छोटी लड़की दूसरों से कुछ आगे बढ़ कर, एक हाथ में अपने झबले का छोर उठा कर मुंह में खोंसती हुई दूसरे हाथ से मानो अनचिन्त भाव से नारंगियों की ओर इशारा करती है, और फिर हाथ समेट कर टुकुर टुकुर हरसू की ओर देखने लगती है।

'लेगी ?'' हरसू पूछता है।

लड़की कुछ उत्तर दे, इस से पहले परसू बड़बड़ाता है, "हाँ, दे दे, दुकान उठा कर दे दे इस को! क्या ऐसे ही दुकान चलायेगा ?"

हरसू भाई की बात को अनसुनी-सी करता हुआ लड़की से कहता है, "लेगी, तो जा, घर से पैसे ले आ। चार-चार पैसे की एक है।"

"तो ऐसे दुकान चलायेगा तू! छोटे बच्चों को फुसलाकर घर से पैसे मँगा कर मुनाफा करेगा! बच्चों को बिगाड़ते शर्म नहीं आती ?"

भाइयों में झगड़ा हो रहा है या नहीं, बच्चों की समझ में नहीं आता। क्योंकि ऐसे सम स्वर से और तटस्थ भाव से झगड़ा होते उन्होंने कभी देखा नहीं है। लेकिन वातावरण में कहीं पर तनाव है, यह वे समझते हैं। लड़की एक बार हरसू और एक बार परसू की ओर देखती है और रुआँसी-सी हो जाती है।

हरसू एक क्षण के लिए उस की ओर देखता है और फिर दो नारंगियाँ उठा कर लड़की को दे देता है।

"ले, रो मत, ले जा। पैसे जब होंगे तब देना—नहीं तो न सही।"

परसू असम्पृक्त भाव से आकाश की ओर देख रहा है, मानो उस ने यह देखा न हो, न उसे इस सब से कोई मतलब हो। लेकिन वही गम-स्वर कहता है, "हाँ-हाँ, बाप का माल है, दे दे। कल देगूँगा, कहाँ से और माल लायेगा और दुकान चलायेगा। बड़ी फैयाजी दिखाने चला है। सब साले रिफ्यूजी जैसे घर के नवाब होते है।"

हरसू एक बार भाई की ओर देखता है और फिर चुप बना रहता है। लड़की चली जाती है।

बोरिया झाड़ कर फिर बिछा दिया गया है। नारंगियाँ कपड़े में रगड़ कर चमका दी गयी हैं। ऊपर नीम की पत्तियों की हल्की सरसराहट सुनते हुए हरसू सोचता है, उस का दिन इसी के सहारे जैसे-तैसे कट जायेगा।

नारंगियों के आस-पास दो-चार बच्चे फिर इकट्ठे हो गये हैं। नारंगियों का चाव तो चिरन्तन है, दुकान के नयेपन का कौतूहल भी अभी मिटा नहीं है।

"*भीड़ क्यों करते हो बच्चो, नारंगियाँ लेनी हों तो घर जा कर पैसे ले* आओ।"

परसू अपनी पुलिया पर से सुन रहा है। देखने की ज़रूरत उस नहीं है। वह मानो अतीन्द्रिय चक्षुओं से सब कुछ देख लेता है। बल्कि सब कुछ पहले से ही उस का देखा-देखाया है। व्यंग्य की एक रेखा उस के होंठों को तिरछा कर जाती है, बस, इतना हरसू देख लेता है। परसू जानता है कि वह देख लेगा—उसके द्वारा देखी जाने के लिए ही वे वहाँ तक लायी गयी है।

बच्चों की टोली में से दो-एक अलग होकर चले जाते हैं। थोड़ी देर बाद एक लौट कर आता है। उसकी चाल ही बता रही है कि उस की मुट्ठी में इकन्नी है। उस के पीछे-पीछे छह और अधनंगे बच्चे चले आते हैं, और वे भी जानते हैं कि उनके अगुआ की मुट्ठी में पैसे है। पैसों से उन्हें कोई सरोकार नहीं है, लेकिन अगुआ की मुट्ठी का पैसा आगे जो काम कर सकता है, उस में उन की दिलचस्पी ज़रूर है।

इकन्नी और नारंगी का विनिमय हो जाता है। बच्चा विजय से भरा

हृदय और नारगी से भरी मुट्ठी लिये हुए एक ओर को हट कर नारगी छील कर खाने लगता है।

दुकान पर जो करिश्मा होनेवाला था वह हो चुका, और वहां अब देखने को कुछ नही है। दूसरे बच्चो की आँखें हरसू की साबुत नारगियो से हट कर अगुआ के हाथ की छिलती हुई नारगी पर अटक जाती हैं। कैसे उस नारगी से फाँक अलग होती है और धीरे धीरे उठ कर अगुआ के मुँह मे चली जाती है, कभी इधर-उधर नही जाती, यह कितना बडा अचरज है।

परसू गरदन जरा एक ओर को मोड कर कहता है, "अबे, इन सब को भी कह दे, घर जा कर पैसे ले आयें। गाड कर रखे होगे पैसे इन्हो ने, सब ला कर तुझे दे देंगे।"

हरसू तिलमिला कर बच्चो से कुछ कहने को होता है, लेकिन फिर रुक जाता है। एक बार बच्चो को सिर से पैर तक देखता है और आँखें झुका लेता है। बच्चे अधनगे है, इस का ठीक अर्थ अब उस के मन मे बैठता है—इस मोहल्ले मे बच्चो को निचले आधे शरीर मे तो यो भी कुछ पहनाने का रिवाज नहीं है, इस लिए अधनगे का मतलब यही हो सकता है कि ऊपर का आधा शरीर भी ढका नही है। हरसू आँखें झुकाये गट् से थूक का एक घूँट निगलता है। थूक का स्वाद कुछ नही होना चाहिए पर हरसू के लिए वह घूँट कितना कडवा है यह उस के दबे होठो से दीख जाता है।

हरसू और परसू की खीचातानी की ओर बच्चो का ध्यान नहीं है। वे एकटक फाँक फाँक गायब होनेवाली नारगी के अचरज को देख रहे हैं।

परसू कानी आँख से हरसू को देखता है, मानो उसे तौल रहा हो। फिर मुँह बच्चो की ओर फेर लेता है।

"लडके, अपने साथियो को भी एक एक फाक दे दे।" अगुआ की ओर उन्मुख हो कर परसू का स्वर कुछ कम रूखा हो गया है, "साथियो के साथ बाँट कर खाना चाहिए।"

अगुआ अगुआ है, और इस वक्त नारगी का मालिक भी है। परसू की ओर देख कर उद्धत स्वर से कहता है, "क्यो दे दूं? मैंने पैसे देकर नहीं खरीदी?"

परसू वही पुलिया पर लेटे लेटे मुँह दूसरी ओर कर के थूकता है। "अबे

हरसू, सुनी नवाबजादे की बातें ! पैसे दे कर खरीदी है ! पैसा तेरे बाप ने कहाँ से खरीदा है भला ?" लेकिन फिर परसू का स्वर कुछ धीमा हो कर मानो भीतर को मुड़ जाता है। "लेकिन बच्चे का क्या डाँटना ! बाप मिलता तो पूछता, कहाँ से ब्लैक करके कमाया है पैसा, और क्यों लड़के को अभी से ऐसा कमीनापन सिखाया है।" फिर कुछ रुक कर, बदले हुए स्वर में, "अबे हरसू तू ही दे दे न सब को एक-एक नारंगी—देख, बेचारे कैसे मुँह ताक रहे हैं ! बच्चों को बेबसी सिखाना अच्छा नहीं होता।"

हरसू अचकचा कर भाई की ओर देखता है। बात निस्संदेह उसी से कही गयी है, लेकिन उस में एक ऐसा अलगाव है कि उस का जवाब कोई भी दे दे—या न भी दे—परसू को कोई फर्क नहीं पड़ेगा। हरसू जरा साहस बटोर कर कहता है, "कहाँ से दे दूँ सब को ? फिर तू ही कहता है कि दुकान कैसे चलेगी और कल को माल कहाँ से खरीद कर लाऊँगा।"

"अबे, बस, यही है तेरा रिफ्यूजी का जिगरा ? अबे, जानता नहीं, हम सब लोग पीछे बड़ी-बड़ी जायदादें छोड़ कर आये हैं। और देखता नहीं, यहाँ भी कितना ने फिर जायदादें खड़ी कर ली हैं ? तू ही बता, पहली बार नारंगी खरीदने को पैसा कहाँ से आया था—या कि नरगियाँ तेरे साथ माँ की कोख से जनमी थीं ?"

हरसू चुप है। चुप में सौ विरोध समा जाते हैं। बोलते हुए कुछ बनता नहीं है।

"अबे, दे दे न नरगी—उन्हें ऐसे देखते देख तुझे तरस नहीं आता—शरम नहीं आती ? तू इन्सान का बेटा है···"

"तरस तो आता है, परसू ! पर पैसा कहाँ से आयेगा ?"

"चल, पैसे मैं देता हूँ—खिला सब को नरगियाँ।" परसू लेटे से आधा-बैठा हो कर अपनी फटी जेब टटोलता है और एक अठन्नी निकाल कर हरसू की ओर फेंकता है।

हरसू चुपचाप छह नारंगियाँ उठा कर एक-एक कर बच्चों को बाँट देता है। बच्चे झिझकते हुए हाथ बढ़ा कर ले लेते हैं। क्षण-भर अंजुली भरे-भरे अचकचाये-से कभी हरसू की ओर और कभी नारंगी की ओर देखते हैं, और

फिर धीरे-धीरे खाने लगते हैं। हरमू टाट के नीचे से टटोल कर एक दुअन्नी निकालता है और परसू की ओर बढाता है, "यह ले अपनी बाकी।"

"क्या ?" परसू अजनबी-सा कहता है। "मेरी बाकी ? बाकी कैसी ?"

"तू ने अठन्नी दी थी, दो आने तेरे बाकी बचे कि नही ?"

"मेरे दो आने ! हुँह ! मेरे दो आने ! मेरे बाप के है ! जा, ये भी उस छोकरे को दे दे जो अपने पैसे से नरगी खरीदता है; वह दे उसे, जा कर यह भी अपने बाप को दे दे !"

हरमू दबे स्वर से कहता है, "उस ने क्या बिगाडा है, वह तो बच्चा है; बाप जैसा हो···"

"हाँ, वे, ठीक कहता है तू। अच्छा तो रख, सिगरेट-पानी कर लेना। या नही, आगे भी तो ऐसे बच्चे आयेंगे—उन्हें दे देना। नही तो दुकान तेरी कैसे चलेगी ? लोग भी क्या कहेंगे कि रिफ्यूजी बच्चा दुकान करने लगा तो दिल-आत्मा भी बेच कर खा गया।"

हरमू बोला, "तो तेरे दो आनों से सदावर्त चल जायेगा ? और दो नरंगियाँ खिला दूंगा, फिर ··"

"अरे, तो हम मर तो नही गये हैं। साले, रिफ्यूजी बन कर आया है तो हौसला रखना सीख। दिल बढने से कोई नही मरता, उस के सिकुडने से ही मरते हैं सब—डाक्टर साले चाहे जो बकवास करते रहें।"

हरमू दुकान करता है, आज उस ने सात नारंगियाँ बेची हैं और माल के सात आने के अलावा दो आने घेलुए मे पाये हैं। उस की आँखें नारंगियो की तरह गूँगी और घुटी हुई हो गयी हैं और उस के कान नीम की मरमराहट पर अनमुनते टिक गये हैं।

और परसू के पहले कई बार ऐसे भी दिन आये हैं, जब उस की दोनो जेबो म दो-दो अठन्नियाँ हुई हैं और उस ने नही जाना कि क्यो, और ऐसे भी, जब किसी जेब में कुछ नही है और वह नही सोचता कि तो फिर क्या ! वह वहीं पुलिया पर फिर लेट कर नीम के ऊपर छाये आसमान की ओर देखने लगता है। आसमान-जैसी ही मानो, गहरी और अन्तहीन हैं उस की आँखें।

हजामत का साबुन

•

दुकान मे घुसा तो छोटे लाला नौकर को पीट रहे थे।

लाला की दुकान से मैं जब-तब थोडा-बहुत सामान लेता रहता हूँ। इस लिए बडे लाला और छोटे लाला और उन के दोनो नौकरो को पहचानता हूँ। यो लाला कहने से जो चित्र आँखो के सामने आता है उस के चौखटे मे दोनो म से कोई ठीक नही बैठता था। मुटापा तो दोनो मे इतना था कि नाम के साथ मेल खा जाए, लेकिन इस स आगे थोडी कठिनाई होती थी। दोनो प्राय सूट पहन कर दुकान पर बैठते थे, दुकान का फर्नीचर लोहे का था और मेज पर काँच लगा हुआ था। दुकान मे किराने से लेकर परचून तक की चीजें तो थी ही, इस के अलावा साज-सिंगार का सामान, अंग्रेज़ी दवाइयाँ वगैरह भी थी और पिछले दो एक वर्ष से दुकान को स्पिरिट और शराब रखने का भी परमिट मिल गया था। मुझे इस तरह की बहुधन्धी दुकानो मे कोई विशेष प्रेम हो, ऐसा तो नही है, लेकिन दुकान बस-स्टैंड के निकट पडती थी और दफ्तर से घर लौटते समय वहाँ स कुछ खरीद ले जाने मे सुभीता था।

थोडी देर मैं असमजस मे खडा रहा। लाला पीटने म इतना व्यस्त था तो नौकर का पिटने म और अधिक व्यस्त होना स्वाभाविक था। ग्राहक की तरफ ध्यान देने की फुरसत किमी को नही थी। समझदारी की बात तो यही थी कि वहाँ से चल देता और जो खरीदारी दूसरे दिन तक न टल सकती, वह कही और से कर लेता। इस से भी बडी समझदारी की बात यह है कि जहाँ हाथापाई हो रही हो, वहाँ नही ठहरना चाहिए। लेकिन मुझ मे दोनो तरह की समझदारी की कमी है और हमेशा रही है। आज से कल तक टालने की बात तो समझ मे ग्रा सकती, लेकिन आदमी को पिटता हुआ देख कर समझदारी-भरी उपेक्षा मेरे बस की नही है।

लाला के मोटे थुलथुल हाथ का थप्पड जो नौकर के गाल और आडे आये हुए हाथ पर पडा तो मेरे मन मे तीखी प्रतिक्रिया हुई, 'ओ लाले के बच्चे, क्यो पीटता है!'

ऐसी मेरी भाषा नही है, गुस्से म भी नही। पर उस समय लाला को 'लाला का बच्चा' कहना ही मुझे ठीक जान पडा, या ऐसे कह लीजिये कि लाला के बच्चे के नाम से ही उस मोटे और भोडे रूप को मैं कोई सगति दे सका।

लाला ने फिर एक थप्पड मारा और चिल्ला कर कहा, "बोल, तूने मुझे टेलीफोन क्यो नहीं कर दिया?"

मेरी मुट्ठियां भिच गईं। टेलीफोन न करने पर नौकर को मारना मुझे सहन नही हुआ। मुझे पूरा विश्वास हो गया कि नौकर को भी वह सहन नही होगा। मैंने जैसे मान लिया कि अभी-अभी नौकर भी वापस एक थप्पड लाला के—लाला के बच्चे के—मुँह पर जड देगा।

पर वह हुआ नही। नौकर ने वह थप्पड भी चुपचाप खा लिया। और उस के बाद भी मार खाता गया और लाला के बच्चे की फटकार सुनता गया।

लाला ने और चीखकर कहा, "बोलता क्यो नही—हीरू के बच्चे?"

तो नौकर का नाम हीरू है। इस तरह थोडा-थोडा कर के परिस्थिति मेरी समझ मे आने लगी। घटना कुल जमा यह हुई थी कि छोटे लाला जब दुकान पर आये थे तो नौकर को घर पर ललाइन की सेवा मे और उनके छोटे बच्चे की टहल मे छोड आए थे। इस बीच ललाइन ने नौकर को हुक्म दिया कि दुकान मे चावल ला दे। नौकर बच्चे को घर पर छोड कर दुकान से चावल ले आया। आधे घण्टे के इस अवकाश मे बच्चा ललाइन के अनदेखे बाहर निकल गया और पडौसी लाला के घर चला गया, जिस के हमउम्र लडके मे उस की दोस्ती थी। नौकर ने लौटकर जब बच्चे को नही देखा, तब उसे और उस के कहने पर ललाइन को चिन्ता हुई। कोई आधे घण्टे मे यह पता लग गया कि बच्चा पडौस के घर मे ही है, लेकिन इस बीच ललाइन का घबराहट म बुरा हाल हो चुका था। दोपहर को लाला जब खाने घर गये थे तब ललाइन ने उन्हे बता दिया था कि कैसे उन्हें बडी घबराहट हुई थी। अब लाला दुकान पर लौटकर नौकर मे जवाब तलब कर रहे थे कि अगर बच्चा नही मिल रहा था तो फौरन उन्हें टेलीफोन क्यो नही कर दिया गया

कि बच्चा नहीं मिल रहा है। अगर उस को कुछ हो गया होता तो ?

टेलीफोन ललाइन भी कर सकती थी—या अगर खुद नम्बर मिलाना उन्हें नहीं आता था तो टेलीफोन करने की बात उन्हे भी सूझ सकती थी, यह नौकर ने अभी तक नहीं कहा। पता नहीं उसे सूझा ही नहीं था, या कि मार का डर उस का मुँह बन्द किये हुए था।

लाला ने काँच की मेज पर रखे हुए टेलीफोन को उठा कर पकड़ते हुए फिर कहा, "यह साला है किसलिए ? अगर तू ···" और फिर एक थप्पड हीरू को जड दिया।

मैंने बडी एकाग्रता स मन मे कहा, 'अरे हीरू, तू भी इन्सान है। मार लाला के बच्चे को एक थप्पड और पूछ उस से कि · '

लेकिन हीरू ने एक और थप्पड खा लिया। थोडा-सा लडखडाया और फिर ज्यो-का त्यो हो गया।

आप रेस खेलते हैं ? मैं खेलता तो नहीं, लेकिन घुडदौड भी मैंने देखी है और रेस खेलनेवाले भी, इस लिए पूछता हूँ। हारते हुए घोडे पर दाँव लगानेवाले की घुडदौड देखते हुए जो हालत होती है वही हालत मेरी हो रही थी। भीतर दुस्सह उत्तेजना और तनाव काँपते हुए हाथ और सूख कर तालू मे चिपकती जबान, और ऊपर से इतना एकाग्र उपशमन का अंकुश कि जैसे अपनी एकाग्रता के बल पर ही हारे हुए घोडे को जिता दूंगा।

हर उत्तेजना मे एक बेबसी होती है। सहसा अपने मे उसका अनुभव कर के मैंने अपने-आप स कहा, 'यह उत्तेजना क्यो ? क्यों तुम इस मर्केडहैड सनसनी का शिकार हुए ? इतना घबडा क्यो रहे हो ? छटपटाहट किस बात की है ?' अरे साहब, कुत्तो की दौड मे मेरा कुत्ता पिछडा जा रहा है, दूसरा कुत्ता खरगोश को लपक लेगा !' 'अरे, तो तुम तो कुत्ते नहीं हो, न तुम खरगोश ही हो·· तुम अपने जीवन की उत्तेजना से जझो, कुत्ते की या खरगोश की उत्तेजना से तुम्हे मतलब ? बल्कि कुत्ता तो उत्तेजित भी नहीं है, वह एकाग्र होकर खरगोश के पीछे दौड रहा है। और वह · बिना चेतन भाव से ऐसा सोचे भी यह जानता है कि उत्तेजना उसकी मदद नहीं करेगी बल्कि उस के काम मे बाधक होगी। और खरगोश · खरगोश को तो और भी उत्तेजना के लिए फुरसत नहीं है ··जिस के सामने जिन्दगी और मौत का

सवाल हो, उस को ऐसी टुच्ची सनसनी से क्या मतलब? और तुम, तुम दौड़ देख कर छटपटा रहे हो। बल्कि तुम चाह रहे हो, मना रहे हो कि खरगोश उलट कर कुत्ते पर खिसिया उठे या कि उसे अपने जबड़ों में दबोच ले! तुम्हारा दिमाग खराब हो रहा है!'

लेकिन नहीं, नौकर निरा खरगोश नहीं है। वह आदमी है। आखिर वह विरोध में कुछ कह रहा है।

"मगर लालाजी, मैं तो बुक्कू लाला को बीबीजी को सौंप के चला था।"

हाँ, नौकर इन्सान है। अब वह तन जाएगा। अब वह···

'ऊपर से सामने जवाब देता है? उल्लू के पट्ठे, साले, सूअर के बच्चे।"

'लाला—लाला के बच्चे···हीरू सूअर का बच्चा है और तुम्हारा साला है, तो तुम कौन हो, ओ सूअर के दामाद!'

लेकिन यह तो मैं मन में कह रहा हूँ। और मुझे लाला से मतलब नहीं है। लाला से तो हीरू का मतलब है। मुझे तो नौकर से मतलब है। क्योंकि नौकर जो करे—या मैं जो चाहता हूँ कि वह करे—उस के नाते मुझे उस की इन्सानियत से मतलब है। अबे हीरू, तू एक थप्पड़ तो मार दे लाला के बच्चे को। चाहे धीरे से ही—चाहे असफल ही···

नहीं, फिजूल है। हीरू कुछ नहीं कर रहा है। और मुझे उस से जो मतलब है और उस के नाते इन्सानियत से जो मतलब है वह मेरे सामने एक बड़ी-सी गरम गरम और ठोस ललकार के रूप में आ खड़ा हुआ है। जैसे किसी ने एक बहुत गरम निवाला मुँह में रख लिया हो और तुरन्त निगल जाना जरूरी हो गया हो।

'मैं भी मारूँगा लाला के बच्चे को!' मैं बढ़ कर लाला के बहुत पास आ गया।

कि सहसा हीरू बोला—ऐसे स्वरों में जिन को मैं कभी पहचान सकता लेकिन जिन को तुरन्त हीरू का मान लेने को मैं लाचार हूँ क्योंकि हम तीनों के अलावा चौथा व्यक्ति वहाँ है ही नहीं।

चुँधी आँखों में कुछ हुआ है जिस ने मानो उनके हाथ को वहीं-का-वहीं जड़ कर दिया है। आँखों और हाथों में ऐसा सीधा क्या सम्बन्ध होता है, यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन जैसे हठात् बिजली फेल कर जाने से किसी मशीन का उठा हुआ हथौड़ा आकाश में ही रुक जाए, वैसी ही हालत लाला की हो गई है।

लाला ने धीरे-धीरे जैसे जबरदस्ती हाथ को नीचे झुकाकर मेज पर से झाड़न उठा लिया है और वह हाथ पोंछने लगा है।

अब मैं कुछ नहीं कर सकता—लड़ाई तो खत्म हो गयी है। इस से पहले ही मार देता तो ··

असमंजस में मैंने जल्दी की थी, उस की कुण्ठा का गुस्से का रूप ले लेना तो स्वाभाविक था। लेकिन लाला की हाथ पोंछने की हरकत से मुझे और भी गुस्सा आ गया। *लाला का बच्चा नौकर को मार कर अब हाथ पोंछता है। चाहिए तो नौकर को जा कर नहाना कि वह इस गलीज चीज से छू गया है जो लाला बनी फिरती है।*

"हाँ, सा' ब—आप को क्या चाहिए?"

मुझे? अच्छी तश्तरी पर रखा हुआ तुम्हारा कटा हुआ सिर! *इस दुकान से अब कभी कुछ लेने का मन नहीं है। यह लाला जैसे इन्सानियत के घावों पर जमा हुआ कच्चा खुरण्ट है जिस के सम्पर्क में आने की बात ही घिनौनी जान पड़ती है।*··

मैंने कहा, "अब कुछ नहीं चाहिए। हुल्लड़ सुन कर रुक गया था। जो देखा, वह मुझे तो बड़ी शरम की बात लगी· "

लाला बगलें झाँकने लगा। फिर घिघियाता हुआ-सा बोला, "हाँ सा'ब, शरम की बात तो है। क्या बताऊँ, मुझे गुस्सा आ गया। बच्चे की बात है, आप जानते हैं।" फिर कुछ रुक कर, *अनिश्चय से, जैसे छोटे मुँहवाले कनस्तर में उँगली से खोदकर घी निकाला जा रहा हो,* "वैसे यह थोड़े ही है कि मैं इस नौकर की कदर नहीं करता—उस की लायल्टी का मुझे पूरा भरोसा है···" फिर सहसा व्यस्त होते हुए, "लेकिन सा'ब, आप बिना कुछ लिये न जाएँ—नहीं तो मुझे बड़ा मलाल रहेगा—क्या चाहिए आप को?"

वह क्या कहानी कभी सुनी थी—बुढ़िया बूचड़ की दुकान में गई तो बूचड़ ने सिर से पैर तक उस को देख कर रुखाई से पूछा, 'तुम्हें क्या चाहिए

बुढिया ?" गरीबिनी बुढिया को सवाल बडा अपमानजनक लगा—क्या हुआ उसे छोटा मौदा खरीदना है ? तो वह बोली, 'चाहिए ? चाहिए मुझे माल रोड पर हवेली और तीन मोटरें, और चन्दन का पलग। लेकिन तुझ से, मियाँ बूनड, मुझे चाहिए सिर्फ दो पैसे का सूखा गोश्त।'

मैं थोडी देर चुपचाप लाला की तरफ देखता रहा। फिर जैसे मैंने भी अपने भीतर से कही खोद कर निकाला, "एक पैकट चाय—छोटा पैकट—और कोई सस्ता हजामत का साबुन।"

साँप

•

अच्छाई-बुराई की बात मैं नहीं जानता। कम-से-कम इतनी नहीं जानता कि सब के, और खास कर अपने, बारे में यह फैसला कर सकूँ कि हम अच्छे हैं कि बुरे। लेकिन उस के बिना जी न सकें, चल न सकें, चाह न सकें, ऐसा तो नहीं है! उस के लिए जितना जरूरी है, उतना मैं जानता हूँ कि वह अच्छी है। और यह भी जानता हूँ कि इस बात को जाने रहना, पकड़े रहना जरूरी है कि वह अच्छी है।

सवेरे-सवेरे उस से मिलने गया था। यों तो अक्सर हम मिलते हैं, पर वह सवेरे-सवेरे का मिलन कुछ बहुत विशेष था। मैं चौंक कर उठा था, तो एक तो जिस स्वप्न से उठा था, वह मेरे मन पर छाया था, दूसरे आँख खोलते ही सामने देखा, बगुलों की एक छोटी-सी डार आकाश में उड़ी जा रही थी। तो पहले तो मैं इस में उलझा, स्वप्न बहुत मीठा था, उस की मिठास बिगड़ने का डर नहीं था, बल्कि उलझने से ही डर था, यों छोड़ देने से वह और छायी जा रही थी इस लिए बगुलों की डार पर ही चित्त स्थिर किया। न जाने उस से क्यों एक हिलोर, एक ललक मन में उठी। उसे मैंने कविता में बाँधना चाहा—कविता मुझे नहीं आती, छन्द बाँधने में तो कसीदा काढ़ना कम दुष्कर मालूम होता है, पर हाँ, आधुनिक ढंग की अनकहनी को अर्थ की बजाय ध्वनि से कहना चाहने वाली कविता से कुछ ढाढ़स बँधता है कि हाँ, यह तो हीरा पन्ना-मोती जड़ा देव मुकुट नहीं है, देसी पहरावा है, यह दुपल्ली शायद हम भी ओढ़ लें। तो मैंने कहना चाहा, 'धारों की अनी सी बनी, बगुलों की डार, फुटकियाँ छिट-पुट, गोल बाँध डोलती, सिहरन उठती है एक देह में, कोई तो पधारा नहीं मेरे सूने गेह में, तुम फिर आ गये, क्वाँर देह?' देह में, गेह में तो बाकायदा तुक बन गयी, और अन्त में क्वाँर की तुक

जो दूर कहीं बगुलों की डार से मिल बैठी तो जैसे स्मृति में कविता छा गयी, और कुछ पूरेपन का भाव आ गया, मुझे अच्छा लगा। इतना अच्छा लगा कि फिर आगे नहीं सोचा, फिर स्वप्न ही-स्वप्न था और मैं उसी में डूब गया। स्वप्न-भरी आँखें लिये-लिये ही उस के पास पहुँचा, और उससे बोला, 'घूमने चलोगी ? दूर-लम्बी सैर को—जंगल में को चलोगी ?"

इतना तो खैर उसे जवाब का मौका देने से पहले कह ही गया। पर इतना ही नहीं। मन-ही मन आगे और भी बहुत-कुछ कह गया, जैसे बगुले की डार देखकर मन ही मन क्वाँर से बतिया गया था, वह भी कविता में। मैंने कहा कि चलोगी, जंगल में को, जहाँ सन्नाटा है, एकान्त है, जहाँ सब अपनी-अपनी धुन में ऐसे मस्त हैं कि मस्ती की एक नयी धुन बन गयी है जिस में सब गूँजते हैं—पर अलग-अलग, बिना एक-दूसरे पर हावी हुए जैसे शहर में होता है—शहर में जहाँ तुम कुछ ही करो, दूसरों को बड़ी दिलचस्पी है, टाँग नहीं अड़ायेंगे तो शोर तो मचायेंगे; और नहीं तो राह-चलते खँखारते हुए ही चले जायेंगे; जंगल में, मस्त मनचले, निर्जन जंगल में जहाँ बड़ा मीठा-मीठा धुँधला अँधेरा है आसरा और ओट देनेवाली घनी छाँह की बाँह है···उस जंगल में चलोगी ? वहाँ जहाँ कोई न होगा, वहाँ—लेकिन इतना कहकर न जाने क्यों जबान रुक जाती थी। मन ही रुक जाता था, भोर का देखा हुआ स्वप्न ही छा जाता था। स्वप्न मुझे याद था, बार-बार उभर कर याद आता था पर गूँगे के गुड़ की तरह—स्वप्न-भरी आँख से मैं अब भी देखता था कि उस में हम—

वह चल पड़ी मेरे साथ सैर को। वह अच्छी जो है। मैं जानता हूँ। मेरे साथ-साथ चलती जा रही थी और साथ चलते चलते मेरे जैसे दो मन हो गये थे। एक उमँग रहा था कि वह कितनी अच्छी है और साथ है और दूसरा अभी स्वप्न की खुमारी में ही था, मीठे स्वप्न की जिस में हम—

हम लोग जंगल में पहुँच गये। पहले, गीली-गीली, भारी-भारी, ओस से दूधिया घास—उस से भी मैंने चलते-चलते बात कर ली कि वाह, ऊपर से तो चिट्टी-चिट्टी दूध-धुली साधु-बाबा, भीतर-भीतर उमगों से कितनी हरी हो रही है, क्या कहा है किसी ने, अरमान मचलते हैं—फिर झाड़ियाँ शुरू हो गयी, फिर छोटे पेड़, फिर न जाने कब जंगल चुपके से घना हो गया। पहले करंज और झाऊ और ढाक, फिर सेमल और तून और फिर बड़े-बड़े महा-

रूख। जमीन भी ऊँची-नीची हो गयी, कहीं टीला, कहीं पगडण्डी तो कहीं पानी की लीक जहाँ कुछ दिन पहले नाला बहता होगा। लेकिन टीला तो उसे कहें जो खुला हो, जिसकी टाँट देखी जाये यहाँ तो सब ऐसा ढका था ! फिर बीहड में सहसा एक थोडी-सी खुली जगह भी, जरा ऊँची मगर वैसे चिपटी, जैसे एक चौकी-सी पडी हो झाडियो मे, उस पर एक पुराना देवी-मन्दिर। मैं इतनी उमँगती उदार तरग मे था कि कह गया मन्दिर, नही तो उस छोटी-सी, अधटूटी, काही से काली देवली को बहुत कोई माई का थान कह देता, मन्दिर; लेकिन मैंने देवी का मन्दिर ही देखा, बीहड वन के बीच मन्दिर, मैंने सोचा, यहाँ कभी तान्त्रिक साधक बैठकर देवी को साधते होगे। और उन की साधना के औघड रूप भी जल्दी से मेरी दृष्टि के सामने दौड गये— बहुत-से, क्योकि दृष्टि असल मे तो अभी स्वप्न से आविष्ट थी, उसे साधको की रगीन विकृतियो से क्या मतलब था, वह तो उसी स्वप्न को देख रही थी जिसम हम—

हम···यानी वह और मै, और मेरे साथ चली आ रही थी। बडे भोलेपन से। उस की आँखो मे मेरी तरह दोहरी दीठ नही थी, वे खुली बाउडियाँ थी, स्वच्छ, शीतल उडते बादल की परछाईं दिखाने वाली। वह वैसी ही मुग्ध अपने मे सम्पूर्ण मेरे साथ चली आ रही थी। मैं उसे देख लेता था, उस के साथ होने की बात सहसा मन मे उभरती थी, फिर बीहड वन के अकेल, हरे, गीले धुँधलेपन की, फिर मेरी आँखें उसकी आँखो की कोर से एक ढुलकी हुई लट के साथ फिसल कर उस के ओठो तक आती थी और फिर मेरा मन ठिठक जाता था। फिर आगे नही सोचता था, फिर पीछे लौट जाता था। क्या कि पीछे स्वप्न था, स्वप्न जो पूरा था, जिस स्वप्न मे हम···

तभी सामने नीचे कुछ तीखी सुरसुराहट हुई। हम ठिठक गये। सहसा वह बोली, 'वह देखो सामने, साँप !"

मैंने भी देख लिया। घास के किनारे पर, मन्दिर के आस-पास की बजरी पर रेंगता हुआ, ललौहे-भूरे रग का साँप था।

वह गोल-गोल आँखें कर के बोली, "कितना सुन्दर है साँप !"

उसकी आँखें सचमुच बडी भोली थी। डर उन मे बिलकुल नही था। केवल एक भोला विस्मय, एक मुग्ध भाव कि अरे, ऐसी सुन्दर चीज भी होती है, वह भी मिट्टी मे पडी हुई, अनदेखी, उपेक्षित !

मैंने भी देखा। सचमुच साँप सुन्दर होता है। निर्माता की एक बड़ी सफलता है, बड़े कलाकार की प्रतिभा का एक करिश्मा—कहीं कोने नहीं, कहीं अनावश्यक रेखा नहीं, बाधा नहीं, भार नहीं, लहरीली, निरायास, लययुक्त गति, बिजली सी त्वरा युक्त। लेकिन बिजली की कौंध में भी कहीं नोकें होती हैं और साँप की गति निरा प्रवाह है" सुन्दर, लचीला, ललौहा-भूरा रंग, झिलमिल चमकीली केंचुल, चित्तियाँ जो न मालूम केंचुल के ऊपर हैं कि भीतर, ऐसी काँच के भीतर से झाँकती-सी जान पड़ती हैं"'

मैंने तो देख लिया। फिर मैं उसे देखने लगा, और वह साँप को देखती रही। हम दोनों जैसे मन्त्रमुग्ध थे, लेकिन एक ही मन्त्र से नहीं। वह साँप को देखती थी, मैं उसे देखता था। वह साँप के लयमय प्रवाह पर विस्मय कर रही थी, मैं उस के चेहरे की मानो क्षण-भर के लिए थम गयी चंचल बिजलियों को देख रहा था और सोच रहा था, कोने एक-दूसरे को काटते हैं, पर लहरीली गतिमान रेखाएँ काटती नहीं, झट से कौंध कर मिल जाती हैं, बिजली की कौंध तो है ही लय होने के लिए; लहर को देखो और खो जाओ, डूब जाओ, लय हो जाओ। उस की आँखें साँप पर टिक कर मुग्ध थीं। मेरी आँखों में मेरे भोर में देखे हुए स्वप्न की खुमारी थी। स्वप्न में इसी तरह देखा था कि

साँप आगे बढ़ गया। मन्दिर की दीवार के साथ सट गया, ऐसा सट कर चिपक गया कि बस—जैसे मन्दिर की रेखा से अलग उस की रेखा नहीं है, जैसे मन्दिर की नींव से ही वह सटा हुआ उठा है और वैसा ही रहेगा।

और चिपके-चिपके भी वह स्थिर नहीं था, वह आगे सरक रहा था। आगे-आगे, और गहरा चिपकता हुआ। जैसे उस की देह की रगड़ की आरी से कट कर मन्दिर की दीवार के नीचे उस के लिए जगह बनती जाती हो और उस में वह धँसता-पैठता जाता हो।

बढ़ता हुआ वह हमारे सामने की दीवार के कोने तक बढ़ कर दूसरी दीवार के साथ मुड़ चला। थोड़ा और बढ़ा, फिर रुक गया। आधा इस दीवार के साथ जो हमारे सामने थी, आधा साथ की, जो हमारी ओट थी। उस का सिर ओट में हो गया, कमर दोनों दीवारों के जोड़ पर टिक गयी।

मैंने सहसा कहा, "इस वक्त यह कैसा वेध्य है। अगर मैं मारना चाहूँ, तो निरीह मर जाये—"

"हाँ, लेकिन क्यों मारना चाहो ? इतना सुन्दर—"

मैंने अपनी ही झोंक में कहा, "अभी ढेला मारूँ, तो बस, काटने को मुड़ भी न सके—"

"क्या ज़हरीला है ?"

"हा भी तो क्या ? इस समय असहाय है, मौके की बात है, कुछ कर भी न सके, सारा रूप लिये ज्यों-का-त्यों पड़ा रह जाय बिदुर-बिदुर तकता।"

उस की पहले ही मुग्ध गोल आँखें करुणा से और बड़ी-बड़ी हो आयीं। बोली, "बेचारा कितना असहाय !" कितनी करुणा थी उस स्वर में, कितना निरीह था वह स्वर कि शायद साँप से भी अधिक निरीह ! स्वप्न में मैंने देखा था वह और मैं—हम —लेकिन स्वप्न की उलझन—जैसे सुलझ गयी, मेरी दोहरी दीठ इकहरी हो गयी और मैंने देखा, मैं अलग यहाँ, वह अलग वहाँ, बड़ी सुन्दर, बड़ी अच्छी, मेरे साथ, जंगल में अकेली, लेकिन अलग वहाँ। और हम दोनों खड़े उस सुन्दर चित्तीदार ललौहें-भूरे, लचीली लहर से बल खाते साँप को देखते रहे। मैं भी, वह भी। चाहे मैं साँप को जितना देख रहा था उस से अधिक उसी को देख रहा था। साँप तो मन्दिर की भीत से सटा खड़ा था, और वह मुझ से सटी खड़ी थी।

फिर मैंने कहा, "चलो, आगे चलें।"

हम लोग चल पड़े। पर असल में आगे हम नहीं चले, हम लौट आये। वह बीहड़ में का मन्दिर वहीं खड़ा रह गया। तान्त्रिक वहाँ कभी अपनी औघड़-पूजा किया करते होंगे, किया करें। उन्होंने वैसा सुन्दर साँप कभी थोड़े ही देखा होगा—कम से कम उतना असहाय और वेध्य ? यों तो मैंने भी कभी नहीं देखा, स्वप्न में भी नहीं, यद्यपि सपने मैंने एक से एक सुन्दर देखे हैं, जिन्हें मैं कह भी नहीं सकता। और किसी को तो क्या, उस को भी नहीं, जो मैं जानता हूँ कि इतनी अच्छी है, चाहे मैं अच्छा होऊँ या बुरा।

वसन्त

•

मधुर कण्ठ वाली एक स्त्री, जो गाती हुई प्रवेश करती है। उस का स्वर आज की सिनेमा आर्टिस्ट का सधा-बँधा स्वर नहीं है। जो 'प्रीफैब' सिमेण्ट की चौरस सिल्ली की तरह नपा-खिचा मगर बिलकुल ठस होता है, यानी जो होता है उस से अधिक कुछ नही होता—सब कुछ सामने है और जो सामने नही है वह हई नही—बल्कि सामने भी क्या है ? एक ठप्पे की छाप। उस का स्वर बिल्लौर की तरह पारदर्शी है, जिस के भीतर रगीन कहानियाँ दीखती हैं, आगे और पीछे की कहानियाँ, उजली और फीकी छायाएँ, और सब पारदर्शी जैसे चन्द्रकान्त मणि के अन्दर चाँदनी दूधिया ओस-सी जम गयी हो।

पहला वसन्त, जिस का स्वर एक हँसते युवक का स्वर है, जो जब बोलता है तो साथ-साथ कई बाँसुरियाँ बज उठती हैं, बडी द्रुत लय से मानो उन का पलातक सगीत पकड मे तो आने का नही, उस के पीछे दौडना भी व्यर्थ है, हाँ, कोई अपनी भावनाएँ भी, उस के पास के साथ साथ छोड दे तो छोड दे।

दूसरा वसन्त, जैसे अनुभवो की दोहर ओढे भारी पैरो से चलने वाला, भारी गले से बोलने वाला अग्रज, उस का धीमा गुरु स्वर मानो इसराज का एक मन्द्र स्वर है, और प्रत्येक शब्द को तोल-तोल कर, श्रोता की आत्मा म उसे बैठा देता हुआ-सा बोलता है।

स्त्री गाती है—

'फूल कांचनार के
प्रतीक मेरे प्यार के
प्रार्थना-सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली
पत्तियो का सम्पुट, निवेदिता ज्यो अजली
आये फिर दिन मनुहार के, दुलार के···

फूल कांचनार के।

तब बाँसुरी का तीखा स्वर द्रुत लय पर दौड़ता हुआ आता है और तुरन्त ही खो जाता है।

स्त्री : अरे कौन ?

पहला वसन्त : मैं वसन्त।

फिर बाँसुरी का स्वर।

स्त्री : कौन वसन्त ?

वसन्त 1 . यह भी बताना होगा ? सुनो···

फिर द्रुत लय पर बाँसुरी जिस से प्राण ललक उठे, लेकिन सुनते सुनते उस का स्वर खो जाता है।

वसन्त 1 : सुना ? अब पहचानती हो ?

स्त्री अम्-म् म्· ·

वसन्त 1 मैं वह हूँ जो मलय समीर के हर झोंके मे आ कर तुम्हारी अलकों को सहला जाता है। सरसों के फूल मे मेरा ही रंग खिलता है, आम्र-मंजरी मे मेरा ही आह्लाद उमँगता है। मैं कोयल के स्वर से तुम्हें—तुम्हें क्यों, प्राणिमात्र को—पुकारता हूँ कि देखो, अब समय बदल गया। दिन भी अपनी निरन्तर सिकुड़न छोड़ कर साहसपूर्वक बढ़ने लगा। जिस सूर्य से जीवमात्र और सब वनस्पतियाँ शक्ति पाती हैं, वह स्वयं इतने दिनों की निस्तेज क्लान्ति के बाद फिर दीप्त होने लगा। केवल बाहर ही नही, तुम्हारी शरीर की शिरा-शिरा मे, तुम्हारे अगों के स्फुरण मे तुम्हारे मन के उत्साह मे मेरा स्वर बोलता है

फिर वही बाँसुरी का स्वर, मानो निहोरे करता हुआ, वैसी ही पहले वसन्त की आवाज मानो उस की मनुहार सुननी ही पड़ेगी, उस से कोई बच कर निकल जायेगा तो कैसे ? धीरे-धीरे, प्राणों को आविष्ट करता हुआ-सा, वह गाता है

"सुनो सखी, सुनो बन्धु !
प्यार ही मे यौवन है, यौवन मे प्यार।
जागो, जागो,
जागो सखि, वसन्त आ गया !"

और स्त्री भी विवश साथ-साथ गुनगुनाने लगती है :

"वसन्त आ गया—

आज डाल-डाल पै आनन्द छा गया..."

तब, पीछे कहीं, धीरे-धीरे इसराज मन्द्र बज उठता है, पहले बहुत धीरे, फिर क्रमश स्पष्ट, मानो उसे अब अपनी बात पर विश्वास हो आया हो... इतना कि अब वह हर किसी को अपनी बात मनवा कर ही छोड़ेगा। स्त्री सहसा चौंक पड़ती है।

स्त्री . कौन ?

दूसरा वसन्त मैं वसन्त।

स्त्री : वसन्त तुम ? वसन्त तो मेरे साथ गा रहा है। सुनो सखी, सुनो बन्धु ..

वसन्त 2 हाँ, ठीक तो है, सुनो सखी, सुनो बन्धु! वसन्त जरूर आ गया। तुम पूछती हो, कौन वसन्त ? क्या तुमने लक्ष्य नहीं किया कि सवेरा जल्दी होने लगा, तुम्हें काम जल्दी आरम्भ करना पड़ता है ? क्या तुमने नहीं देखा कि पिछली बरसात मे वनस्पतियो ने जो हरी चादर ओढ ली थी, शरद् ने जिस मे शेफाली की बूटियाँ काढी थी, जो जाडो मे हरे रेशमी वसन से बदल कर लाल और भूरा दुशाला बन गयी थी, वही आज जीर्ण-शीर्ण हो कर, तार-तार हो कर झर रही है ? वह पतझड मैं हूँ। जो सनसनाती हुई ठण्डी हवा वनस्पतियो के सब आवरण उडाये ले जा रही है, वह मैं हूँ। सवेरे-सवेरे झाड़ू की मार से उडी हुई धूल मैं हूँ। धूल का झक्कड मैं हूँ। सुबह की धुन्ध मैं हूँ। शाम को क्षितिज पर जमा हुआ धुआँ मैं हूँ। बाहर ही नही, मैं भीतर की हताश हूँ कि 'एक वर्ष और गुजर गया!' मैं आतक हूँ आने वाले ग्रीष्म की सनसनाती हुई लू के फूत्कारो से उडती हुई गरम रेत का...

स्त्री ओह! ओह!

द्रुत लय पर बाँसुरी और विलम्बित पर इसराज बारी बारी से बजने लगते हैं। एक स्वर उभरता है और डूबता है, फिर दूसरा उभरता है और पहला डूब जाता है। ये स्वर हैं, या कि भावो की धूप-छाँह ही स्त्री के मुँह पर खेल कर रही है ?

वसन्त 1 मैं तुम्हारे जीवन का स्वप्न हूँ। मैं तुम्हारा भविष्य, भविष्य की आशा हूँ।

वसन्त 2 मैं भी तुम्हारे जीवन का स्वप्न हूँ। मैं तुम्हारा अतीत हूँ और अतीत का अनुभव। क्या आने वाले कल की आशा ही स्वप्न होती है, क्या जो आशाएँ बीत गयी है वे स्वप्न नहीं है?

वसन्त 1 मैं वह हूँ जो तुम हो सकती थी—

वसन्त 2 मैं वह हूँ जो तुम हो।

वसन्त 1 मैं वह हूँ जो तुम हो सकती हो·

वसन्त 2 *थी भी, और होगी भी, तो फिर आज क्यो नहीं हो?*

(तिरस्कारपूर्वक) 'सुनो सखी, सुनो बन्धु?' अगर बहरा होना ही सुनना है, तो जरूर सुनो।

फिर इसराज और बाँसुरी, विलम्बित और द्रुत, कौन पहचाने कि कौन स्वर उभरता है और कौन डूबता, क्योकि फीकी धूप ही हल्की छाँह है और फीकी छाँह ही नयी चमक, और धीरे-धीरे दोनो ही लीन हो जाते हैं, मानो अस्तित्व के उस तल पर स अब उतर आना होगा जिस पर वसन्त—पहला और दूसरा वसन्त—मूर्त हो कर वाणीयुक्त हो कर सामने आते है। इस निचले स्तर पर तो वसन्तो के सगीतमय सुर नहीं बरतनो की खनखनाहट है नये मँजते और धुलते हुए बरतन, धो कर ताक मे रखे जाते हुए बरतन। यह दूसरा ही दृश्य है, और स्त्री की बात मानो स्वगत भाषण है।

स्त्री मैं वह हूँ जो तू है। मैं वह हूँ जो तू हो सकती है—मैं वह हूँ जो तू थी। मैं वह हूँ जो तू होगी—लेकिन मैं क्या थी—क्या हूँगी क्या हूँ? शायद उसे नहीं सोचना चाहिए। नहीं तो इतने वर्षों से इसी एक प्रश्न का उत्तर देना क्यों टालती आयी हूँ? *क्या थी—फूल, या मिट्टी? क्या हूँगी—मिट्टी, या फूल?* एक बार—एक बार सोचा था · *लेकिन क्या सचमुच था?* इतनी पुरानी बात लगती है कि सन्देह होता है लेकिन जल्दी करूँ पानी चला जायेगा।

और ठीक उसी समय स्त्री का पति प्रवेश करता है। पति जैसा ही उस का स्वर है, साधारण, न रूखा न मीठा, जिस मे कुछ अपनापा भी है, कुछ

उदासीनता भी, लेकिन क्या अपनापा और उदासीनता प्यार के परिचय के ही दो पहलू नही हैं ?

पति . मालती !

स्त्री · जी !

पति (चिढता हुआ) अगर मैं बाहर ही खडा रहता, तो सोचता कि न जाने कौन तुम से बातें कर रहा है। यह क्या पता था कि आप जूठे बरतनो से भी बातें कर सकती हैं।

स्त्री · नही···हाँ···

पति . यानी इतनी तन्मय हो कर बात कर रही थी कि तुम्हे मालूम ही नही ? कौन था आखिर वह मन मोहन सुध-बिसरावन···कौन आया था ?

स्त्री : (अनमनी-सी) वसन्त।

पति : (न समझते हुए) कौन वसन्त ?

स्त्री · यह तो मैं नही जानती ? (धीरे-धीरे) वह कहता था, मैं मलय-समीर मे रहता हूँ और कोयल के स्वर से पुकारता हूँ। कहता था, वह सरसो के फूल के रग मे है। (कुछ रुक कर, और भी अनमनी, खोयी-सी।) नही, वह कहता था, मैं पतझड हूँ। और धूल का झक्कड। और निराशा।

पति मालती, मालूम होता है तुम बहुत थक गयी हो। क्या करूँ, सोचता तो बहुत दिनो से हूँ कि कुछ छुट्टी ले कर घूम आयें, लेकिन मौका ही नही बनता। न छुट्टी ही मिलती है, न कोई सहूलियत—

स्त्री (सहानुभूति से तिलमिलाकर) रहने भी दो, मुझे क्या करनी है छुट्टी ? थकते तो मर्द हैं, स्त्री कभी नही थकती है। काम और विश्राम—यह मर्द की ईजाद है। स्त्रियाँ विश्राम नही करती, क्योकि वे शायद काम नही करती। वे कुछ करती ही नही···वे शायद सिर्फ होती ही है। बालिका से किशोरी, कुमारी से पत्नी, बेटी से माँ, एक निस्सग आत्मा से परिगृहीत कुनबा—वे निरन्तर कुछ-न कुछ होती ही चलती हैं। क्योकि वे हैं कुछ नही, वे केवल होते चलने का, बनने मे नष्ट होते चलने का, या कि कह लो, नष्ट होते रहने मे बनने का, दूसरा नाम हैं। वे भविष्य हैं जो कि पीछे छूट गया, एक अतीत हैं जो कि आगे मुँह-बाये बैठा है···

पति : (कुछ त्रस्त स्वर मे) मालती, क्या तुम सुखी नही हो ? (पीडित-सा)

लेकिन शायद मेरा यह पूछना भी अन्याय है। मैं तुम्हे कुछ दे भी तो नही सका। यह तो नही कि मैंने चाहा नही। लेकिन चाहना ही तो काफी नही है, सक्त भी तो चाहिए। (सहसा नये विचार के उत्साह से) चलो, कही घूम आयें—या चलो, सिनेमा चलें—

स्त्री उँहुक्। सिनेमा मे मेरा दम घुटता है।

पति तो चलो, *कही बाग म चलें। या बाहर खेतो की तरफ। आजकल* नदी की कछारपर सरसो खूब फूल रही है। बीच-बीच मे कही अलसी के नीले फूल—

(नेपथ्य म कही धीरे-धीरे वही बाँसुरी बजने लगती है। मानो स्मृति को जगाती हुई, मानो पुरानी बात दुहराती हुई।)

स्त्री (मानो स्वगत) यह कहता था, सरसो के फूल मे मेरा ही रग खिलता है· और आम के बौर म·

पति *क्या गुनगुना रही हो, मालती? तुम्हें याद है, उस बार जब मैं···*

स्त्री कब?

पति बनो मत। उस बार जब गौने के बाद तुम *आयी ही थी*, और मैंने कहा था कि· ·

स्त्री (मानो स्तब्ध-सी और नपसीजती हुई) मुझे कुछ याद नही है। मैं तो सोचती हूँ, यह याद भी मर्दों की ईजाद है। उन के लिए भूलना इतना सहज सत्य जो है।

एक बालक उन का बालक · उसका बालक। बालको के स्वर का वर्णन हो भी सकता हो तो नही करना चाहिए, उस मे जो अकल्पित सम्भावनाएँ मचलती हैं, उन्हें बाँध देने का *यत्न क्यो किया जाये? वह निकट आ रहा* है और व सम्भावनाएँ *मानो एक झलक-सी दे जाती हैं·*

बालक *माँ—माँ!*

पति यह लो, आ गया ऊधमी! अच्छा, तो तुम जल्दी से उठो, मैं अभी-अभी तैयार हो जाता हूँ—हाँ!

बालक माँ—माँ!

स्त्री क्या है बेटा?

बालक . माँ, सब लडके कह रहे हैं कि आज वसन्त है, आज पतंग उडाने का नियम है।

स्त्री हूँ नियम है। पतंग नही उडाया करते अच्छे लडके।

बालक . क्यो, माँ ? मुझे तो पतंग बहुत अच्छी लगती है···

स्त्री न! उड जाने वाली चीजों को प्यार नहीं करना चाहिए। छोड कर चली जाती हैं तो दुख होता है।

बालक . वह उड थोडे ही जायेगी ? मैं फिर उतार लूँगा—मेरे पास ही तो रहेगी ··

स्त्री मैं पतंग होती तो उड जाती, दूर—दूर। फिर कभी वापस न आती।

बालक (आहत) हमें छोड जाती, माँ ?

स्त्री तो क्या हुआ ? तुम तो अपनी पतंग में मस्त रहते, तुम्हें ध्यान ही न आता।

बालक . नही माँ, मुझे तो तुम बहुत अच्छी लगती हो। मुझे नहीं चाहिए पतंग-वतंग, मैं तुम्हारे पास बैठूँगा।

स्त्री अरे छोड मुझे दंगा न कर। जा, पिताजी के साथ जा कर बगीचा देख आ।

बालक : वहाँ क्या है ?

स्त्री (जैसे याद करती हुई) है क्या ? वहाँ सुन्दर फूल हँसते हैं···वहाँ कोयल कूकती है ··वही तो वसन्त है।

बालक : (मानस भरा) हमें नही चाहिए वहाँ का वसन्त। हमारा वसन्त तो तुम हो, माँ ··तुम हँसती क्यों नही ? अरे, तुम तो उदास हो गयीं···

स्त्री (सोचती हुई) यह तो उन दोनों ने नहीं कहा था ··वह कहता था मैं आशा हूँ, वसन्त मैं हूँ। वह कहता था मैं अनुभव हूँ, वसन्त मैं हूँ। मुझे तो किसी ने नही कहा कि वसन्त तुम हो फूलों का खिलना भी और पतझड़ भी, समीर भी और धूल का झक्कड भी···

बालक माँ—किस ने कहा था, माँ ?

स्त्री किसी ने नही बेटा, मेरी चेतना ने। तू तो केवल पतंग का वसन्त

जानता है, मगर मुझ मे बहुत-से वसन्त हैं, कुछ मीठे, कुछ फीके, कुछ हँसते, कुछ उदास ।

बालक · उन सब मे सब से अच्छा कौन-सा है, माँ ?

स्त्री . (सहसा सुस्थ होकर) सब से अच्छा वसन्त तू है, बेटा । तू हँसता रह, फूल-फल···

और अब नेपथ्य मे बाँसुरी क्रमश स्पष्ट होने लगती है । मानो अब वह स्पष्ट हो जायेगी तो फिर मन्द नही पडेगी, फिर बजती ही रहेगी, उस मे नया धीरज जो आ गया है ।

बालक : वाह ! मैं कोई पौधा हूँ···

स्त्री हाँ, यह तू क्या जाने ! तू मेरी सारी आशाओ का, सारे अनुभव का पौधा है, मेरे युगो-युगो का वसन्त ।

बाँसुरी बिलकुल स्पष्ट बजने लगती है, अपने आत्म-विश्वास से वातावरण को गुँजाती हुई, उस के प्राणो मे अपने स्वर को बसा देती हुई । और बाँसुरी के साथ-साथ गान के शब्द भी स्पष्ट होने लगते हैं ।

"किंशुकों की आरती सजा के बन गयी वधू वनस्थली ।
डाल-डाल रग छा गया ।
जागो, जागो—
जागो सखि, वसन्त आ गया !"

खितीन बाबू

वो चेहरे। कौन-से चेहरे? कौन-सा चेहरा? जो जीवन-भर चेहरों की स्मृतियाँ संग्रह करता आया है, उस के लिए यह बहुत कठिन है कि किसी एक चेहरे को अलग निकाल कर कह दे कि यह चेहरा मुझे नहीं भूलता, क्योंकि जिस ने भी जो चेहरा वास्तव में देखा है, सचमुच देखा है, वह उसे भूल ही नहीं सकता—फिर वह चेहरा मनुष्य का न हो कर चाहे पशु-पक्षी का ही क्यों न हो। यूरोपीय को हर हिन्दुस्तानी का चेहरा एक जान पड़ता है, हिन्दुस्तानी को हर फिरंगी का चेहरा एक। मानव को सब पशु एक-से दीखते हैं। वह भी एक तरह का देखना ही है। लेकिन जिस ने सचमुच कोई भी चेहरा देखा है, वह जानता है कि हर व्यक्ति अद्वितीय है, और हर चेहरा स्मरणीय। सवाल यही है कि हम उस के विशिष्ट पहलू को देखने की आँखें रखते हों।

मैं भी जब किसी एक चेहरे पर ध्यान केन्द्रित करना चाहता हूँ, तो और अनेक चेहरे सामने आ कर उलाहना देते हैं, 'क्या हम नहीं? क्या हमें तुम भूल गए हो?" इन में पुरुष हैं, स्त्रियाँ हैं, बच्चे हैं, इतर प्राणियों में घोड़े हैं, कुत्ते हैं, तोते हैं, एक गिलहरी है, जो मैंने पाली थी और मेरी जेब में रहती थी, एक मुनाल है, जो मेरी गोली से घायल हो कर चीखता हुआ मीलों दौड़ा था, एक कुत्ता है जो मेरी बीमारी में मेरे सिरहाने बैठ कर आँसू गिराता था, एक टूटी चोंच और कटे पखवाला कौआ है, जो मुलतान-जेल में मेरा दोस्त बना था और 'परकटे' नाम से पुकारने पर आधा उड़ता और उचकता हुआ आ कर हाज़िर हो जाता था—कहाँ तक गिनाया जाए, पेड़-पौधों के हम चेहरे नहीं मानते, नहीं तो शायद वे भी सामने आ खड़े होते। कालिदास ने शकुन्तला के जाने पर रोती हुई वनस्पतियों का वर्णन किया है

"अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चति अश्रु इव लता ।"

मेरी सहानुभूति उतनी दूर तक शायद नहीं है, लेकिन चेहरों का मेरे पास यथेष्ट संग्रह है—सभी अद्वितीय, सभी स्मरणीय। अगर एक चुनता हूँ, तो किसी असाधारणत्व के लिए नहीं। चुनता हूँ एक अत्यन्त साधारण व्यक्ति का अत्यन्त साधारण चेहरा, क्योंकि यही तो मैं कहना चाहता हूँ—असाधारण ही स्मरणीय नहीं है, हर गुदड़ी में लाल है, ज़रा उसे लौट कर झाँकने का कष्ट तो करो।

वो चेहरे। वह एक चेहरा। खितीन बाबू का चेहरा न सुन्दर था, न असाधारण, न वह 'बड़े आदमी' ही थे—साधारण पढ़े-लिखे साधारण क्लर्क। मैंने पहले पहल उन्हें देखा, तो कोई देखने की बात उन में नहीं थी। इतना ही कि औरों से कुछ कम उन के पास देखने के लायक था, चेचक के दागों से भरे चेहरे पर एक आँख गायब थी और एक बाँह भी नहीं थी—कोट की आस्तीन पिन लगा कर बदन के साथ जोड़ दी गई थी। काने को अपशकुन तो मानते हैं, अति चतुर भी मानते हैं, पर खितीन बाबू की हँसी में एक विलक्षण खुलापन और ऋजुता थी, इस लिए बाद में औरों से उन के बारे में पूछा, तो मालूम हुआ, आँख बचपन में चेचक के कारण जाती रही थी, बाँह पेड़ से गिरने पर टूट गई थी और कटवा देनी पड़ी। उनके हँसमुख और मिलनसार स्वभाव की सभी प्रशंसा करते थे।

मेरी उन से भेंट अचानक एक मित्र के घर हो गई थी। मैं दौरे पर जाने-वाला था, इस लिए दोस्तों से मिल रहा था। दो-तीन महीने घूम-घामकर फिर आया, लेकिन खितीन बाबू के दर्शन कोई छह महीने बाद उन्हीं मित्र के यहाँ हुए—अब की बार उनकी एक टाँग भी नहीं थी। रेलगाड़ी दुर्घटना में टाँग कट जाने से वे अस्पताल में पड़े रहे थे, वहाँ से बैसाखियों का उपयोग सीख कर बाहर निकले थे।

उन के लिए घटना पुरानी हो गयी थी, मेरे लिए तो एक नयी सूचना थी। मैं सहानुभूति प्रकट करना चाहता था, पर झिझक भी रहा था, क्योंकि किसी की असमर्थता की ओर इशारा भी उसे असमंजस में डाल देता है, कि उन्होंने स्वयं हाथ बढ़ा कर पुकारा, "आइए, आइए, आप को अपने नये आविष्कार की बात बतानी है।" उन से हाथ मिलाते हुए समझ में आया कि

एक अवयव के चले जाने से दूसरे की शक्ति कैसे दुगुनी हो जाती है। वैसी ज़ोर की पकड़ जीवन मे एक-आध बार ही किसी हाथ से पाई होगी। मैं बैठ ही रहा था कि वे बोले, "देखा आप ने, कितना व्यर्थ बोझा आदमी ढोता चलता है? मैंने टामिल कटवाए थे, कोई कमी नहीं मालूम हुई; एपेंडिक्स कटवाई, कुछ नहीं गया; केवल उस का दर्द गया। भगवान औघड दानी हैं न, सब-कुछ फालतू देते है—दो हाथ, दो कान, दो आँखें! अब जीभ तो एक है; आप ही बताइए, आप को कभी स्वाद लेने के साधन की कमी मालूम हुई है?"

मैं अवाक् उन्हे देखता रहा। पर उन की हँसी सच्ची हँसी थी, और उन की आँखों म जीवन का जो आनन्द चमक रहा था, उस मे कहीं अधूरेपन की पंगुता की झाईं नही थी। उन्होने शरीर के अवयवो के बारे में अपनी एक अद्भुत थ्योरी भी मुझे बताई थी; यह ठीक याद नहीं कि वह इसी दूसरी भेंट मे या और किसी बार, लेकिन थ्योरी मुझे याद है, और उन का पूरा जीवन उस का प्रमाण रहा। वैसे शायद बनाई होगी उन्हो ने थोडी-थोडी कर के दो-तीन किस्तो मे।

तीसरी बार मैंने देखा, तो वे दूसरी बाँह भी खो चुके थे। मालूम हुआ कि रिक्शे से उतरते समय गिर गये थे; कोहनी टूट गई थी और फिर घाव दूषित हो गया, जिस से कोहनी से कुछ ऊपर से बाँह काट दी गई। इस बार भी भेंट तो उन्ही मित्र के यहाँ हुई, मगर उन की बैठक मे नही, उन के रसोई-घर में। मित्र-पत्नी भोजन बना रही थी, और खितीन बाबू एक मूढ़े पर बैठे हुए बताते जा रहे थे कि कौन व्यजन कैसे बनेगा। वे खाने के शौकीन तो थे ही, खिलाने का शौक उन्हें और भी अधिक था, और पाकविद्या के आचार्य थे। मेरे मित्र ने उन की दावत की थी। दावत का उपलक्ष्य बताया नही गया था, लेकिन था यही कि खितीनदा बच गए और अस्पताल से लौट आए; क्योंकि इस बार कई दिन तक उन की स्थिति सकटापन्न रही थी। खितीनदा भी इस बात को समझ गए थे, तभी उन्होंने कहा था, "दावत रहे और तुम्हारे यहाँ ही रही; पर दूंगा मैं, और सब-कुछ मैं ही बनाऊँगा।' और खुलासा यह किया था कि वे रसोईघर मे बैठ कर सब कुछ अपनी देख-रेख मे बनवाएँगे, बनाएँगी गृहपत्नी, मगर विधान खितीन बाबू का होगा। मि

ने यह बात सहर्ष मान ली थी। खितीन बाबू का उत्साह इतना था कि वही सब के लिए सहारा बन जाता था।

मैं भी एक मूढ़ा लेकर उन के पास बैठ गया। निमन्त्रण मुझे भी बाहर ही मिल चुका था। मैंने गृहपत्नी से पूछा, 'क्या बना रही हैं?" और उन्होंने उत्तर दिया, "मैं क्या बना रही हूँ, बना तो खितीनदा रहे हैं।" इस पर खितीनदा बोले, "हाँ, मेरा छुआ हुआ आप खा तो लेंगे न!" और ठहाका मार कर हँस दिए। उन का छुआ हुआ, जिनके दोनों हाथ नदारद! फिर बोले, 'आप ने भोजन-विलासी और शय्या-विलासी की कहानी सुनी है?"

मैंने नहीं सुनी थी। वे सुनाने लगे। एक राजा के पास दो व्यक्ति नौकरी की तलाश में आए। पूछने पर एक ने कहा, "मैं भोजन विलासी हूँ।" यानी? यानी राजा जो भोजन करेंगे उसे पहले चखकर वह बताएगा कि भोजन राजा के योग्य है या नहीं। जाँच के लिए उसी दिन का भोजन लाया गया, थाली पास आते-न-आते भोजन-विलासी ने नाक बन्द करते हुए चिल्लाकर कहा, "उँ हूँ-हूँ, ले जाओ, इस में से मुर्दे की बू आती है!" बहुत खोज करने पर मालूम हुआ जिस खेत के धान से राजा के लिए चावल आए थे, उस के किनारे के पेड़ में एक मरा हुआ पक्षी टँगा था! भोजन-विलासी को नौकरी मिल गई। शय्या-विलासी ने बताया कि वह राजा के बिछौने की परीक्षा करेगा। उसे शयन-कक्ष में ले जाया गया। मखमली गद्दे पर वह ज़रा बैठा ही था कि मर पकड़कर चीखता हुआ उठ खड़ा हुआ, "अरे रे, मेरी तो पीठ में बल पड़ गया, क्या बिछाया है किसी ने!" सब ने देखा, कहीं कोई सलवट तक न थी, सब गद्दे वद्दे उठा कर झाड़े गए, कहीं कुछ न था जो विलासी की कमर में चुभ सकता—पर हाँ, आखिरी गद्दे के नीचे एक बाल पड़ा हुआ था! इस प्रकार शय्या-विलासी को भी नौकरी मिल गई।

कहानी सुना कर खितीन बाबू बोले, "वह भी क्या ज़माने थे!"

मित्र पत्नी ने कहा, "आप उन दिनों होते, तो क्या बात होती?"

खितीनदा ने कहा, "और नहीं तो क्या। मैं होता, तो राजा को दो नौकर थोड़े ही रखने पड़ते?"

मित्र पत्नी ने मेरी ओर उन्मुख हो कर कहा, "खितीन बाबू गाते भी बहुत सुन्दर हैं।"

सितीनदा फिर हँसे। बोले, "हाँ-हाँ, संगीत-विलासी की नौकरी भी मैं कर लेता न ?"

चार बजे भोजन तैयार हुआ, हम आठ-दस आदमियों ने खाया। मेरे लिए स्मरणीय स्वादों में भोजन का स्वाद प्रधान नहीं है, फिर भी उस भोजन की याद अभी बनी है।

तब लगातार दो-चार दिन तक उन से भेंट होती रही; पर उस के बाद मैंने सितीन बाबू को एक बार और देखा, एक लम्बी अवधि के बाद। और अब की बार उनकी दूसरी टाँग भी मूल से गायब थी।

दोनों हाथ नहीं, दोनों टाँगें नहीं, एक आँख नहीं। टांसिल, एपेंडिक्स वगैरह तो, जैसा वे स्वयं कहते, खूँटे में चढ़ा दी जा सकती हैं। केवल एक स्थाणु बैठक में गद्देदार मूढ़े पर बैठा था। घर तक वे एक विशेष पहियेदार कुर्सी में लाये गए थे, लेकिन वह कुर्सी कमरे में ले जाने में उन्हें आपत्ति थी; क्यों कि वह अपाहिजों की कुर्सी है। कुर्सी से उठाकर उन्हें भीतर ला बिठाया गया था, और यहाँ वे बिलकुल सहज भाव से बैठे थे। मानो किसी स्वप्नाविष्ट चतुर मूर्तिकार ने पत्थर से मस्तक और कन्धे तो पूरे गढ़ दिए हों, बाकी स्तम्भ अछूता छोड़ दिया हो।

मैं जरा चुपके से एक तरफ बैठ गया—वे कुछ बात कर रहे थे। उन्हें देखते हुए मुझे बचपन में आत्मा के सम्बन्ध में की गई अपनी बहसें याद आ गईं। आत्मा है, तो सारे शरीर में व्याप्त है, या किसी एक अंग में रहती है? अगर सारे शरीर में, तो कोई अंग कट जाने पर क्या आत्मा भी उतनी कट जाती है? अगर एक अंग में, तो अंग कट जाने पर क्या होता है? अपनी थ्योरी याद आ गई, जिस में इस पहेली को हल कर दिया गया था, कि जब कोई अंग कटता है, तो उस में से आत्मा सिमट कर बाकी शरीर में आ जाती है, पंगु नहीं होती। यह थ्योरी यहाँ तक मान्य है, इन बहस में तो वैज्ञानिक पड़ें, पर उन को देखते हुए उनके बारे में जरूर इसकी सच्चाई मानो ज्वलंत हो कर सामने आ जाती थी, उन की आत्मा न केवल पंगु नहीं थी, वरन् शरीर के अवयव जितने कम होते जाते थे, उस में आत्मा की कान्ति मानो उतनी बढ़ती जाती थी—मानो व्यर्थ अंगों से सिमट-सिमटकर आत्मा बचे हुए शरीर में और घनीभूत होती जाती—सारे शरीर में भी नहीं, एक

अकेली आँख में—प्रेतात्माओं से भरे हुए विशाल शून्य में निष्कम्प दिपते हुए एक आकाश-दीप के समान···

तभी खितीन बाबू ने मुझे देखा। छूटते ही बोले, "बोले छिलाम, बेंचे, थाक्ते बेशि किछु लागे न !" (मैंने कहा था, बचे रहने के लिए ज्यादा कुछ नहीं चाहिए !) और हँस दिए।

इस के बाद मैंने फिर खितीन बाबू को नही देखा। कहानी की पूर्णता के लिए एक बार और देखना चाहिए था, पर मैं कहानी नहीं सुना रहा, सच्ची बात सुना रहा हूँ। तो मैंने उन्हे फिर नही देखा। लेकिन सुनने वाले की कमी में कहानी नहीं रुकती, देखने वाला न होने से जीवन-नाटक बन्द नहीं हो जाता। मैंने भी सुन कर ही जाना, खितीन बाबू की कहानी अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँच कर ही पूरी हुई टहलने ले जाते समय उनकी पहिएदार कुर्सी एक मोटर-ठेले से टकरा गई थी, वे नीचे आ गए और गाडी का पहिया उन के कन्धे के ऊपर से चला गया—बाँह का जो ठूँठ बचा हुआ था, उसे भी चूर करता हुआ। वे अस्पताल ले जाए गए, बाँह अलग की गई और कन्धे की पट्टी हुई, ऑपरेशन के बाद उन्हें होश रहा और उन्होने पूछा कि कन्धा है या नहीं ? फिर कहा, "जाना गेलो, एटा छाडाओ चले !" (मालूम हो गया कि इस के बिना भी चल सकता है !) लेकिन अब की बार वह चलना अधिक देर तक नहीं हुआ, अस्पताल से वे नहीं निकले। शरीर में विष फैल गया था और भोर में अनजाने में उन की मृत्यु हो गई।

खितीन बाबू एक साधारण क्लर्क साधारण दुर्घटना मृत्यु हो गई। लेकिन क्या सचमुच? अब भी उन्हे देख सकता हूँ। कभी लगता है कि जिसे देखता हूँ वह केवल अगहीन ही नही है, मानो अशरीरी है, केवल एक दीप्त—अगो से क्या ? अवयवो से क्या ? "जाना गेलो, ऐटा छाडाओ चले"—इस सब के बिना काम चल सकता है। केवल दीप्ति : केवल सकल्प-शक्ति। रोटी, कपडा, आसरा, हम चिल्लाते है, ये सब जरूरी है, निस्सन्देह जीवन के एक स्तर पर ये सब निहायत जरूरी हैं, लेकिन मानव जीवन की मौलिक प्रतिज्ञा यह नही है, वह है केवल मानव का अदम्य, अटूट सकल्प···

कलाकार की मुक्ति

•

मैं कोई कहानी नही कहता । कहानी कहने का मन भी नही होता, और सच पूछो तो मुझे कहानी कहना आता भी नही है । लेकिन जितना ही अधिक कहानी पढता हूँ या सुनता हूँ उतना ही कुतूहल हुआ करता है कि कहानियाँ आखिर बनती कैसे हैं ! फिर यह भी सोचने लगता हूँ कि अगर ऐसे न बन कर ऐसे बनतीं तो कैसा रहता ? और यह प्रश्न हमेशा मुझे पुरानी या पौराणिक गाथाओ की ओर ले जाता है । कहते है कि पुराण-गाथाएँ सब सर्वदा सच होती हैं क्योकि उन का सत्य काव्य-सत्य होता है, वस्तु-सत्य नही । उस प्रतीक सत्य को युग के परिवर्तन नहीं छू सकते ।

लेकिन क्या प्रतीक सत्य भी बदलते नही ? क्या सामूहिक अनुभव मे कभी परिवर्तन नही आता ? वृद्धि भी तो परिवर्तन है और अगर कवि ने अनुभव मे कोई वृद्धि नही की तो उस की सवेदना किस काम की ?

यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मानो एक नई खिड़की खुल जाती है और पौराणिक गाथाओं के चरित-नायक नये वेश में दीखने लगते हैं । वह खिड़की मानो जीवन की रगस्थली मे खुलनेवाली एक खिड़की है, अभिनेता रगमच पर जिस रूप मे आयेंगे उस से कुछ पूर्व वे सहज रूप मे उन्हें इस खिड़की से देखा जा सकता है । या यह समझ लीजिए कि सूत्रधार उन्हे कोई आदेश न दे कर रगमच पर छोड दे तो वे पात्र सहज भाव से जो अभिनय करेंगे वह हमे दीखने लगता है और कैसे मान लें कि सूत्रधार के निर्देश के बिना पात्र जिस रूप में सामने आते हैं—जीते हैं—यही अधिक सच्चा नहीं है ?

स्रिप्र द्वीप के महान कलाकार पिगमालय का नाम किस ने

नहीं सुना ? कहते हैं कि सौन्दर्य की देवी अपरोदिता का वरदान उसे प्राप्त है—उस के हाथ से असुन्दर कुछ बन ही नहीं सकता। स्त्री-जातिमात्र से पिगमाल्य को घृणा है लेकिन एक के बाद एक सैकड़ों स्त्री मूर्तियाँ उस ने निर्माण की हैं। प्रत्येक को देख कर दर्शक उस उस से पहली निर्मित से अधिक सुन्दर बताते हैं और विस्मय से कहते हैं, "इस व्यक्ति के हाथ में न जाने कैसा जादू है। पत्थर भी इतना सजीव दीखता है कि जीवित व्यक्ति भी कदाचित् उस की बराबरी न कर सके। कहीं देवी अपरोदिता इन प्रस्तर-मूर्तियों में जान डाल देती! देश देशान्तर के वीर और राजा उस नारी के चरण चूमते जिस के अंग पिगमाल्य की छेनी ने गढ़े हैं और जिस में प्राण स्वयं देवी अपरोदिता ने फूँके हैं।"

कभी कोई समर्थन में कहता, "हाँ, उस दिन पिगमाल्य की कला पूर्ण सफल हो जाएगी, और उस के जीवन की साधना भी पूरी हो जाएगी—इस से बड़ी सिद्धि और क्या हो सकती है!"

पिगमाल्य सुनता और व्यंग्य से मुस्करा देता। जीवित सौन्दर्य कब पाषाण के सौन्दर्य की बराबरी कर सका है! जीवन में गति है, ठीक है, लेकिन गति स्थानान्तर के बिना भी हो सकती है—बल्कि वही तो सच्ची गति है। कला की लयमयता—प्रवहमान रेखा का आवर्तन और विवर्तन—वह निश्चल सेतु जो निरन्तर भूमि को अन्तरिक्ष से मिलाता चलता है—जिस पर से हम क्षण में कई बार आकाश को छू कर लौट आ सकते हैं—वही तो गति है! नहीं तो सुन्दरियाँ पिगमाल्य ने अमथ्य के उद्यानों में बहुत देखी थीं—उन्हीं की विलासिता और अनाचारिता के कारण तो उसे स्त्री जाति से घृणा हो गई थी। उस भी कभी लगता कि जब वह मूर्ति बनाता है तो देवी अपरोदिता उस के निकट अदृश्य खड़ी रहती है—देवी का छाया स्पर्श ही उस के हाथों को प्रेरित करता है, देवी का यह ध्यान ही उस की मन शक्ति को एकाग्र करता है। कभी वह मूर्ति बनाते-बनाते अपरोदिता के अनेक रूपों का ध्यान करता चलता—काम की जननी, विनोद की रानी, लीला-विलास की स्वामिनी, रूप की देवी...

एक दिन साँझ को पिगमाल्य तन्मय भाव से अपनी बनाई हुई एक नई मूर्ति को देख रहा था। मूर्ति पूरी हो चुकी थी और एक बार उस पर ओप भी दिया

ा चुका था। लेकिन उसे प्रदर्शित करने से पहले साँझ के रंजित प्रकाश में वह स्थिर भाव से देख लेना चाहता था। वह प्रकाश प्रस्तर को जीवित त्वचा की सी कान्ति दे देता है, दर्शक उस से और अधिक प्रभावित होता है, लेकिन कलाकार उसमें कहीं कोई कोर-कसर रह गई हो तो उसे भी देख लेता है।

किन्तु कहीं कोई कमी नहीं थी, पिंगमाल्य मुग्ध भाव से उसे देखता हुआ मूर्ति को सम्बोधन कर के कुछ कहने ही जा रहा था कि सहसा कक्ष में एक नया प्रकाश भर गया जो साँझ के प्रकाश से भिन्न था। उस की चकित आँखों के सामने प्रकट हो कर देवी अपरोदिता ने कहा, "पिंगमाल्य, मैं तुम्हारी साधना से प्रसन्न हूँ। आजकल कोई मूर्तिकार अपनी कला से मेरे सच्चे रूप के इतना निकट नहीं आ सका है, जितना तुम। मैं सौन्दर्य की पारमिता हूँ। बोलो, तुम क्या चाहते हो—तुम्हारी कौन-सी अपूर्ण, अव्यक्त इच्छा है?"

पिंगमाल्य अपलक उसे देखता हुआ किसी तरह कह सका, "देवि, मेरी तो कोई इच्छा नहीं है। मुझ में कोई अतृप्ति नहीं है।"

"तो ऐसे ही सही," देवी तनिक मुस्कराई, "मेरी अतिरिक्त अनुकम्पा ही सही। तुम अभी मूर्ति से कुछ कहने जा रहे थे। मेरे वरदान से अब मूर्ति ही तुम्हें पुकारेगी—"

रोमांचित पिंगमाल्य ने अचकचाते हुए कहा, "देवि..."

"और उस के उपरान्त..." देवी ने और भी रहस्यपूर्ण भाव से मुस्करा कर कहा, "पर उस के अनन्तर जो होगा वह तुम स्वयं देखना, पिंगमाल्य! मैं मूर्ति को ही नहीं, तुम्हें भी नया जीवन दे रही हूँ—और मैं आनन्द की देवी हूँ!"

एक हल्के-से स्पर्श से मूर्ति को छूती हुई देवी उसी प्रकार सहसा अन्तर्धान हो गई, जिस प्रकार वह प्रकट हुई थी।

लेकिन देवी के साथ जो आलोक प्रकट हुआ था, वह नहीं बुझा। वह मूर्ति के आसपास पुंजित हो आया।

एक अलौकिक मधुर कंठ ने कहा, "मेरे निर्माता—मेरे स्वामी!" और पिंगमाल्य ने देखा कि मूर्ति पीठिका से उतर कर उस के आगे झुक गई है।

पिंगमाल्य काँपने लगा। उसके दर्शकों ने अधिक-से-अधिक अतिरंजित जो कल्पना की थी वह तो यहाँ सत्य हो आई है। विश्व का सब से सुन्दर रूप

मजीव हो कर उस के सम्मुख खड़ा है, और उस का है। रूप भोग्य है, नारी भी...

मूर्ति ने आगे बढ़ कर पिगमाल्य की भुजाओं पर हाथ रखा और अत्यन्त कोमल दबाव से उसे अपनी ओर खींचने लगी।

यह मूर्ति नहीं, नारी है। मसार की सुन्दरतम नारी, जिसे स्वयं अपरोदिता ने उसे दिया है। देवी जो गढ़ती है उस से परे सौन्दर्य नहीं है; जो देती है उस से परे आनन्द नहीं है। पिगमाल्य के आगे सीमाहीन आनन्द का मार्ग खुला है।

जैसे किसी ने उसे तमाचा मार दिया हो, ऐसे सहसा पिगमाल्य दो कदम पीछे हट गया। स्वर को यथासम्भव सम और अविरल बनाने का प्रयास करते हुए उस ने कहा, "तुम यहाँ बैठो।"

रूपसी पुनः उसी पीठिका पर बैठ गई, जिस पर से वह उतरी थी। उस के चेहरे की ईषत् स्मित कक्ष में चाँदनी बिखेरने लगी।

दूसरे दिन पिगमाल्य का कक्ष नहीं खुला। लोगों को विस्मय तो हुआ, लेकिन उन्होंने मान लिया कि कलाकार किसी नई रचना में व्यस्त होगा। सायंकाल जब धूप फिर पहले दिन की भाँति कक्ष के भीतर वायुमंडल को रंजित करती हुई पड़ने लगी तब देवी अपरोदिता ने प्रकट हो कर देखा कि पिगमाल्य अपलक वही-का-वही खड़ा है और रूपसी जड़वत पीठिका पर बैठी है। इस अप्रत्याशित दृश्य को देख कर देवी ने कहा, "यह क्या देखती हूँ, पिगमाल्य? मैंने तो तुम्हें अतुलनीय सुख का वरदान दिया था?"

पिगमाल्य ने मानो सहसा जाग कर कहा, "देवी, यह आपने क्या किया?"

"क्यों?"

"मेरी जो कला अमर और अजर थी, उसे आप ने जरा मरण के नियमों के अधीन कर दिया! मैंने तो सुख भोग नहीं माँगा—मैं तो यही जानता आया कि कला का आनन्द चिरन्तन है।"

देवी हँसने लगी, "भोले पिगमाल्य! लेकिन कलाकार सभी भोले होते हैं। तुम यह नहीं जानते कि तुम क्या माँग रहे हो—या कि क्या तुम्हें मिला है जिसे तुम खो रहे हो। किन्तु तुम चाहते हो तो और विचार कर के देख लो। मैं

तुम्हारी मूर्ति को फिर जडवत् किये जाती हूँ। लेकिन रात को तुम उसे पुकारोगे और उत्तर न पा कर अधीर हो उठोगे। कल मैं आ कर पूछूँगी—तुम चाहोगे तो कल मैं इस मे फिर प्राण डाल दूँगी। मेरे वरदान वैकल्पिक नही होते। लेकिन तुम मेरे विशेष प्रिय हो, क्योंकि तुम रूपस्रष्टा हो।"

देवी फिर अन्तर्धान हो गई। उसके साथ ही कक्ष का आलोक भी बुझ गया। पिंगमाल्य ने लपक कर मूर्ति को छू कर देखा, वह मूर्ति ही थी, सुन्दर रूपयुक्त, किन्तु शीतल और निष्प्राण।

विचार कर वे और क्या देखना है? वह रूप का स्रष्टा है, रूप का दास हो कर रहना वह नही चाहता। मूर्ति सजीव हो कर प्रेय हो जाए, यह कलाकार की विजय भी हो सकती है, लेकिन कला की निश्चय ही वह हार है। ·

पिंगमाल्य ने एक बार फिर मूर्ति को स्पर्श कर के देखा। कल देवी फिर प्रकट होगी और इस मूर्ति मे प्राण डाल देगी। आज जो पिंगमाल्य की कला है, कल वह एक किंवदन्ती बन जाएगी। लोग कहेंगे कि इतना बडा कलाकार पहले कभी नहीं हुआ, और यही प्रशसा या अपवाद भविष्य के लिए उस के पैरो की बेडियाँ बन जाएगा ·। किन्तु कल···

चौंक कर पिंगमाल्य ने एक बार फिर मूर्ति को छुआ और मूर्ति की दोना बाँहें अपनी मुट्ठिया मे जकड ली। कल ···उस की मुट्ठियो की पकड धीरे-धीरे शिथिल हो गई। आज यह मूर्ति है, पिंगमाल्य की गढ़ी हुई अद्वितीय सुन्दर मूर्ति, कल यह एक नारी हो जाएगी—अफरोदिता से उपहार मे मिली हुई अद्वितीय सुन्दरी नारी।···पिंगमाल्य ने भुजाओ को पकड कर मूर्ति को ऊँचा उठा लिया और सहसा बडे ज़ोर से नीचे पटक दिया।

मूर्ति चूर-चूर हो गई।

अब वह कल नही आएगा। पिंगमाल्य की कला जरा मरण के नियमो के अधीन नही होगी। कला उस की श्रेय ही रहेगी, प्रेय होने का डर अब नहीं है।

किन्तु अफरोदिता? क्या देवी का कोप उसे सहना होगा? क्या उस ने सौंदर्य की देवी की अवज्ञा कर दी है! और इसीलिए अब उस की रूप-कल्पी प्रतिभा नष्ट हो जाएगी?

किन्तु अवज्ञा कैसी? देवी ने स्वयं उसे विकल्प का अधिकार दिया है।

पिंगमाल्य धरती पर बैठ गया और अनमने भाव से मूर्ति के टुकडो को अगुलियो से धीरे-धीरे इधर-उधर करने लगा।

क्या देवी अब भी छायावत् उस की कोहनी के पीछे रहेगी और उस की अगुलियों को प्रेरित करती रहेगी ? या कि वह उदासीन हो जायेगी ? क्या वह—क्या वह आज से कला-साधना मे अकेला हो गया है ?

पिंगमाल्य अविष्ट-सा उठ कर खडा हो गया। एक दुर्दान्त साहसपूर्ण भाव उस के मन मे उदित हुआ और शब्दो मे बँध आया। कला-साधना मे अकेला होना ही तो साधक होना है। वह अकेला नही हुआ है, वह मुक्त हो गया है।

वह आसक्ति से मुक्त हो गया है और वह देवी से भी मुक्त हो गया है।

कथा है कि पिंगमाल्य ने उस मूर्ति से जिसमे देवी ने प्राण डाले थे, विवाह कर लिया था और उस से एक सन्तान भी उत्पन्न की थी, जिस ने अनन्तर प्रपोष नाम का नगर बसाया। किन्तु वास्तव मे पिंगमाल्य की पत्नी शिलोद्भवा नही थी। बन्धनमुक्त हो जाने के बाद पिंगमाल्य ने पाया कि वह घृणा से भी मुक्त हो गया है और उस ने एक शीलवन्ती कन्या से विवाह किया। भग्न मूर्ति के खड उस ने बहुत दिनो तक अपनी मुक्ति की स्मृति मे सँभाल रखे। मूर्ति के लुप्त हो जाने का वास्तविक इतिहास किसी को पता नही चला। देवी ने भी पिंगमाल्य के लिए व्यस्त होना अनावश्यक समझा। क्योंकि कला-साधना की एक दूसरी देवी है, और निष्ठावान गृहस्थ जीवन की देवी उस से भी भिन्न है।

और पिंगमाल्य की वास्तविक कला सृष्टि इस के बाद ही हुई। उस की कीर्ति जिन मूर्तियो पर आधारित है वे सब इस घटना के बाद ही निर्मित हुईं।

कहानी मैं नही कहता। लेकिन मुझे कुतूहल होता है कि कहानियाँ अखिर बनती कैसे हैं ? पुराण-गाथाओ के प्रतीक सत्य क्या कभी बदलते नही ? क्या सामूहिक अनुभव मे कभी कोई वृद्धि नही होती ? क्या कलाकार की सवेदना ने किसी नये सत्य का सस्पर्श नही पाया ?

●●●

परिशिष्ट-1

कहानियों का लेखन-क्रम

1. अभिशापित	: मुलतान जेल, 1932
2 कैसाड्रा का अभिशाप	मुलतान जेल, दिसम्बर 1933
3 कोठरी की बात	: दिल्ली जेल, 1934
4 मनसो	: डलहौजी, सितम्बर 1934
5. इन्दु की बेटी	: सितम्बर 1936
6 अछूते फूल	: गुरदासपुर, अगस्त 1937
7 सिगनेलर	: मेरठ, सितम्बर 1937
8 जिजीविषा (पुराना नाम 'जीवन-शक्ति')	: कलकत्ता, अक्टूबर 1937
9. चिड़ियाघर	: कलकत्ता, अक्टूबर 1937
10 कविता और जीवन : एक कहानी	: कलकत्ता, नवम्बर 1937
11. सेब और देव	: कलकत्ता, नवम्बर 1937
12 पुलिस की सीटी	: कलकत्ता, मार्च 1938
13 आदम की डायरी	: कलकत्ता, फ़रवरी 1939
14 परम्परा : एक कहानी	: कलकत्ता, सितम्बर 1939
15 पुरुष का भाग्य	: कलकत्ता, जनवरी 1940
16 बन्दों का खुदा, खुदा के बन्दे	: दिल्ली, मार्च 1941

17 हीली-बोन् की बत्तखें — इलाहाबाद, 1947
18 मेजर चौधरी की वापसी — इलाहाबाद, 1947
19 लेटर बक्स — इलाहाबाद, 1947
20 शरणदाता — इलाहाबाद, 1947
21 मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई — इलाहाबाद, 1947
22 रमन्ते तत्र देवता — इलाहाबाद, 1947
23 बदला — इलाहाबाद, 1947

24 वसन्त — इलाहाबाद, जनवरी 1949
25 कविप्रिया — इलाहाबाद, जून 1949
26 जय-दोल — दिल्ली, सितम्बर 1950
27 वे दूसरे — दिल्ली, सितम्बर 1950
28 पठार का धीरज — दिल्ली अक्टूबर 1950
29 साँप — दिल्ली, अक्टूबर 1950
30 नगा पर्वत की एक घटना — दिल्ली, दिसम्बर 1950

31 देवीसिंह — दिल्ली, 1951

32 चितीन बाबू — दिल्ली, अगस्त 1952

33 शिक्षा — दिल्ली, 1954
34 नीली हँसी — दिल्ली, सितम्बर 1954
35 कलाकार की मुक्ति — दिल्ली, सितम्बर 1954

36 नारंगियाँ — दिल्ली, जनवरी 1957

37 हजामत का साबुन — दिल्ली, जनवरी 1959

कुछ समीक्षाएँ, रेखाचित्र, मूल्यांकन

जीवनमय कहानी, कहानीमय जीवन

बनारसीदास चतुर्वेदी

'विपथगा' किसी लेखक की साढे-सात कहानियो का सग्रह है, सात पूरी और एक अधूरी ।[1] कहानियो के नाम निम्नलिखित हैं—

(1) विपथगा, (2) मिलन, (3) हारिति, (4) छाया, (5) द्रोही, (6) अमरवल्लरी, (7) अभिशापित और ($7\frac{1}{2}$) गृह-त्याग (अधूरी) ।

इन मे 'हारिति' विशाल भारत के कहानी-अंक मे प्रकाशित हो चुकी है, और 'अमरवल्लरी' इस अक मे छापी जा रही है । 'अज्ञेय' महाशय से हमारा परिचय नही है, और 'विपथगा' की कहानियो को पढ कर उन से परिचय करने की आवश्यकता रह भी नही जाती। अपनी प्रत्येक कहानी मे वह विद्यमान हैं एक ऐसे युवक के रूप मे, जिस मे उत्साह है, दृढता है, आदर्श के लिए मर मिटने की चाह है, जो हथेली पर जान रख कर उस पर प्रयोग करने मे आनन्द लेता है, पर जिस म उस विवेक का अभाव है जो बेजान बुड्ढे आदमियो को मयस्सर होता है, उस हिसाबीपन की कमी है जिस पर दुनियाबी आदमी अभिमान किया करते हैं, और फूँक-फूँक कर कदम रखने की उस प्रवृत्ति का नामो-निशान नही जो हाथ पाँव बचा कर मूजी को टरकाने वाले आदमियो मे पायी जाती है ।

---

1 दिल्ली जेल से 'अज्ञेय' की कहानियो की प्रतिलिपि तैयार कर के सुरक्षा के लिए बाहर भज दी जाती थी । विपथगा सग्रह की कहानिया की प्रतिलिपि पूरी नही हुई थी, जब कापी बाहर भेजने का सुयोग मिला तो वह जैसी थी वैसी ही भेज दी गयी । इसी लिए एक कहानी (प्रतिलिपि मे) अधूरी थी ।

इस कापी म से दो कहानियाँ 'विशाल भारत' में छापी गयी अनन्तर दो 'विश्वमित्र' में भी छपी ।

प्रस्तुत समीक्षा 'विशाल भारत' के मार्च 1933 अक म छपी थी ।

'विषयगा' ऐसी कहानियों का सग्रह है, जो किसी पहुँचे हुए आदमी द्वारा ही लिखी जा सकती है। 'पहुँचे हुए' से हमारा अभिप्राय यही है कि जो किसी सिद्धान्त पर पहुँच चुका है। इन कहानियो मे जो वाक्य-रत्न यत्र-तत्र पाये जाते हैं, उन्हे पढकर लेखक की प्रशसा किये बिना नहीं रहा जाता। चाहे उन के विचारो से कोई सहमत हो या न हो, क्रान्ति वाछनीय है या नही, यह सवाल ही दूसरा है, पर उन के कहने के ढग मे लौह दृढता है, पाँवो को उखाड देने वाला प्रवाह है, और यह शक्ति है, जो केवल लेख लिखने से ही नही, लेक्चर झाडने से नही, कोरमकोर आदर्शवाद से नही वरन् काम—ठोस काम—करने से—ऐसा काम करने से, जिस मे खतरे की भरमार हो—प्राप्त होती है। एक वाक्य सुन लीजिए—

"क्रान्ति का विरोध करोगे, उसे रोकोगे तुम ? सूर्य का उदय होता है, उस को रोकने की चेष्टा की है ? समुद्र से प्रलय-लहरी उठती है, उसे रोका है ? ज्वालामुखी मे विस्फोट होता है, धरती काँपने लगती है, उसे रोका है ? क्रान्ति सूर्य से भी अधिक दीप्तिमान, प्रलय से भी अधिक भयकर, ज्वाला मे भी अधिक उत्तप्त, भूकम्प मे भी अधिक विदारक है' उसे क्या रोकोगे ?"

विषयगा कहानी का अन्तिम वाक्य पढिए—

"ज्वालामुखी मे से आग निकलती है और बुझ जाती है, किन्तु जमे हुए लावे के काले-काले पत्थर पडे रह जाते हैं। आँधी आती है और चली जाती है, किन्तु वृक्षो की टूटी हुई डालियाँ सूखती रहती हैं। नदी मे पानी चढता है और उतर जाता है, किन्तु उस के प्रवाह से एकत्रित घास-फूस-लकडी किनारे पर पडी सडती रह जाती है। यह टूटी तलवार उसके आवागमन का स्मृति-चिह्न है। जब भी इस की ओर देखता हूँ, दो धधकते हुए निर्निमेष वृत्त मेरे आगे आ जाते हैं। मैं सहसा पूछ बैठता हूँ—'मेरिया इवानोव्ना, तुम मानवी थी या दानवी, या स्वर्गभ्रष्टा विपथगा देवी ?'"

लेखक म विचारशीलता भी अच्छी मात्रा मे पायी जाती है। नीचे का वाक्य उस का एक उदाहरण है—

"ससार मे कितनी ही विचित्र घटनाएँ होती हैं, जिन्हे देख-सुन कर हम सोचने लगते हैं, यह क्यो हुई ? इस का क्या अभिप्राय था ? यदि वह किसी की आन्तरिक प्रेरणा से हुई तो उस प्रेरणा की जड कहाँ थी ? यदि किसी

बाह्य प्रेरणा से, तो उस प्रेरणा का आधार कौन था ? और अगर इस घटना मे दैव का हाथ है, तो इस घटना के ऐसे स्थान पर, ऐसे समय मे, इस प्रकार होने मे क्या अभिप्राय था, क्या गूढ तत्त्व था ?

"जब हमारे मन मे ऐसे प्रश्न उठने लगते हैं, तब पहले हमें इस बात का आभास होता है कि ससार म ऐसी महती शक्ति है जिसका परिणाम जिस का तत्त्व हम नही जान पाये, जिस मे लचक है, पर साथ ही कठोरता भी, जिस मे दया है, पर साथ ही घोर परिहास भी। इस शक्ति को कोई आत्मा कहता है, कोई भावी; कोई इसे आन्तरिक प्रेरणा समझता है, कोई बाह्य, कोई इसे ऐहिक समझता है, और कोई नैसर्गिक। किसी की राय म इस शक्ति का प्रवाह उन्मत्त, पथहीन, अनवरुद्ध है, किसी की राय मे इसका सचालन सयमित है। सभी को इस के प्रवाह मे एक अनियन्त्रित उन्माद दीखता है, और इस के उन्माद मे एक अनियन्त्रित प्रवाह। और इस प्रवाह को, इस उन्माद को और इस विचित्र असयमित नियन्त्रण को, कोई नही समझ पाता। सभी अन्वेषक मानो एक दीवार से टकरा कर रुक जाते हैं।

' 'मैं बहुत दिनो से इस शक्ति का प्रवाह देख रहा हूँ। कभी-कभी उस मम-झने की चेष्टा भी कर लेता हूँ, पर प्राय उस के विचित्र विन्यास को देखने में ही मेरा समय बीत जाता है।

'सन् 1905 मे रूस मे जो विस्फोट हुआ, उसे उत्पात कहना चाहिए या दगा, विप्लव या क्रान्ति, इस का निर्णय नही कर सका, इस लिए विस्फोट ही कहता हूँ।"

भावो का घात प्रतिघात दिखलाने मे भी लेखक काफी कुशल है। निम्न-लिखित वाक्य लीजिए—

"कैसा घोर परिवर्तन है यह। अभी उस दिन हम उस पर्वत-श्रेणी पर भटक रहे थे। चारो ओर मीलो तक हिमाच्छादित पर्वत शिखर दीख पडते थे, इधर-उधर जाने मे कोई रोक-टोक न थी। स्वेच्छाचारिता के लिए कितना विशद क्षेत्र था वह! आज भी प्रात काल को कितना स्वच्छन्द हो कर मैं यमुना-तट पर बाइसिकिल लिये चला जा रहा था। कोई रोक न थी, कोई यह नहीं कह सकता था कि इधर मत जाओ। और अब! इस छोटी सी अँधेरी कोठरी

मे चारपाई के साथ हथकडी लगाये पडा हूँ ! इतनी भी स्वतन्त्रता नही कि लेटे हुए मे उठ कर बैठ जाऊँ !

'लोग कहते हैं, आत्मा निराकार है, उसे कोई बाँध नही सकता। पर जब शरीर बँध जाता है, तो क्यो आत्मा मानो आकाश से गिर कर भूमि पर आ जाती है ? क्यो उसे ऐसी व्यथा होती है ?

"आदमी का घर जब जलता है, तब उसे दुःख होता है, क्योकि आग की तपन को आदमी अनुभव कर सकता है। पर आदमी तो साकार है, आत्मा की तरह तो नही है ?

"कैसी बीभत्स है यह कोठरी ! सामने दरवाजा है, उस मे सीखचे लगे हुए हैं—कारागार ! उस के आगे दालान है, पर उस के किवाड ऐसी जगह हैं कि मैं देख न पाऊँ, बन्धन ! कोठरी के ऊपर एक छोटा-सा रोशनदान है पर वह भी ढँप दिया गया है कि मैं आकाश का एक छोटा-सा टुकडा भी न देख पाऊँ। कैसा विकट बन्धन है यह, जिस म शरीर, दृष्टि और आत्मा तीनो ही बँधे हुए हैं !

'कोठरी की दीवारो पर सफेदी तक नही की गयी। अलग अलग ईंटें साफ दीखती हैं, और उनके बीच मे से मिट्टी गिर रही है। फर्श भी गीला है, और उसमे से सडने की बू आ रही है। छत मे खड-खड का शब्द कही हो रहा है—शायद चूहे कूद रहे हैं। और यह मृत्यु की छाया की तरह काले चम-गादड मेरे सिर पर मँडरा रहे हैं, इन के परो के फडफडाने की आवाज तक नही आती ? किसी भावी अनिष्ट की प्रतिच्छाया की तरह किसी घोरतम पतन के पूर्व अपशकुन की तरह प्रशान्त भैरव निःशब्द हो कर ये वृत्ताकार घूम रहे हैं, और वह वृत्त धीरे-धीरे छोटा होता जाता है।

आँखें बन्द कर के सोचता हूँ, भविष्य के क्रोड मे क्या है, जो मुझ से छिपा हुआ है ? बहुत सोचता हूँ, पर एक प्रशस्त अन्धकार के अतिरिक्त कुछ नही दीखता। विचार करने लगता हूँ कि मेरा कर्त्तव्य क्या है, तो कितनी ही सभावनाएँ आगे आ जाती हैं। इतने कष्ट मे पडने का क्या लाभ होगा ? वह महान् व्रत धारण किया था, वर्षों जेल मे क्यो सडता रहूँ ? उस दिन एक प्रतिज्ञा की थी·· पुलिस सब-कुछ तो पहले मे ही जानती है, अगर मैं अपने

मुंह से वह दूं तो क्या हर्ज है ? वन्धुओ की रक्षा के लिए मृत्यु के मुख मे भी '''माफी मिल सकती है, उसे क्यो छोडूं ?

"ससार मे सबसे पतित व्यक्ति वह है, जो डर कर कर्त्तव्यविमुख हो जाता है। हमारे सघ मे अनको अयोग्य व्यक्ति हैं, उन्हे बचाने के लिए मैं क्यो आग मे पडूं ? विश्वास की रक्षा कितनी वडी निष्ठा है।' अगर मैं निकलकर सघ का नये और उच्चतर आदर्श पर निर्माण कर सकूं तो, तो क्यो एक मरीचिका के लिए जेल जाऊं ? यह वह सग्राम है जिस मे एक चूक भी अक्षम्य होती है। इस मे वे ही हाथ बँटा सकते हैं, जो सर्वथा अकलक हो।

"उफ् ! जब स्वतन्त्र था, तब तो कभी कर्त्तव्य पथ अदृश्य नही हुआ था। यहाँ आकर क्यो मेरी अन्तर्ज्योति बुझ गयी है ? क्या करूँ ? क्या करूँ ?

"मैं आँखें वन्द किये पडा हूँ, फिर भी उन चमगादडो की रवहीन उडान की अनुभूति मेरे हृदय में अजीब ग्लानिमिश्रित भय-सा उत्पन्न कर रही है। यह वृत्त ज्यों ज्यो छोटा होता जाता है, मेरी अशान्ति वढती जाती है।

'पर जिस विकल्प मे पडा हुआ हूँ, वह हल्ला जाता है। मुझे जो प्रगति की सम्भावनाएँ दीखती थी, उन की सख्या कम होती जाती है।

'ज्यो ज्यो उन चमगादडो की उडान का मडल छोटा होता जाता है, त्यो-त्यो मेरी मनोगति का मार्ग भी सकीर्णतर होता जाता है। एक ही कामना मेरे हृदय मे पुकारती है, एक ही सकीर्ण पथ मेरी आँखो के आगे है, एक ही ज्वलत प्रश्न मेरे मन म नाच रहा है। वह कामना उत्तम है या अधम, वह पथ उन्नतिशील है या अवनति की ओर जाता है इस की विवेचना करने की शक्ति मुझ म नही। वह प्रश्न और उस का उत्तर इतने प्रज्वलित, इतने दीप्तिमान है कि आदर्श कुछ नही दीखता। कमला ! कमला ! तुम्हें कैसे पाऊँगा ?"

'अज्ञेय' जी की कहानियो म यह खूबी है कि वे पाठक की उत्कठा अन्त समय तक जाग्रत रखती हैं। बिना इस गुण के कहानी कहानी नही, शुष्क निबन्ध बन जाती है। दूसरी खूबी उन मे यह है कि पढ चुकने के बाद पाठक के हृदय म उन की एक कसक बाकी रह जाती है। कौन ऐसा पत्थर हृदय पाठक होगा, जिस के कानो म फाँसी पर लटकने वाली सुषमा का यह गान बहुत दिनो तक गूँजता न रहे—

दीप बुझेगा पर दीपक की स्मृति को कहाँ बुझाओगे ?
तारें वीणा की टूटेंगी, लय को कहाँ दबाओगे ?
फूल कुचल दोगे तो भी सौरभ को कहाँ छिपाओगे ?
मैं तो चली चली पर प्रिय, तुम क्योंकर मुझे भुलाओगे ?

इस अंक मे प्रकाशित 'अमरवल्लरी' का वह भाग जिस मे उस परित्यक्ता गर्भवती स्त्री के प्राणत्याग का वर्णन है, बड़ा हृदयद्रावक है । प्रेम की निम्नलिखित परिभाषा कितनी बढ़िया है—

"मैं देखता हूँ, संसार दो महच्छक्तियो का घोर संघर्ष है । ये शक्तियाँ एक दूसरे से विभिन्न नही हैं । एक ही प्रकृति की प्रगति के दो विभिन्न पथ हैं । एक संयोजक है, इस का भास फूलो से भौंरे के मिलन मे, विटप से लता के आश्लेषण मे, चन्द्रमा से ज्योत्स्ना के सम्बन्ध मे, रात्रि से अन्धकार के प्रणय मैं, उषा से आलोक के ऐक्य मे होता है । दूसरी शक्ति विच्छेदक है, इस का भास आँधी से पेडो के विनाश मे, विद्युत् से लतिकाओ के झुलसने मे, दावानल से वनों के जलने मे, शकुन्त से कपोतो के मारे जाने मे होता है । कभी कभी दोनो शक्तियो का एक ही घटना मे ऐसा सम्मिलन होता है कि हम भावक हो जाते हैं, कुछ भी समझ नही पाते । पेम भी शायद ऐसी ही एक घटना है ।"

'अमरवल्लरी' का अन्तिम वाक्य भी काफी काव्यमय है ।

हिन्दी-गल्पो के उपवन मे कुछ ऐसे काँटेदार वृक्षो की आवश्यकता है, जिन के पुष्प बहुत ऊँचे पर खिलते हैं, और जिन तक पहुँचने के लिए कंटकाकीर्ण मार्ग का अवलम्बन करना पडता है । 'उग्र' जी ने अपनी 'चिनगारियाँ' मे इस पथ को किंचित् प्रकाशित किया था, पर फिर वे स्वय सेक्स की रपटनी गली मे फिसल गये, जहाँ अनुभूति बहुत सस्ती मिलती है । चतुरसेन जी भी भूले-भटके केवल मानसिक रूप से इस सडक पर आ निकलते हैं, पर राजा-रईसो के लिए जाडे के मौसम में काम आने वाला बादामपाक बनाना आसान है, इस क्षेत्र मे अनुभव करना कठिन । चन्द्रगुप्त जी चित्र खीचने के लिए भले ही इस कूचे मे कदम रखें, पर चलने के लिए नही । अनेक भारो से दबे हुए जैनेन्द्र जी इधर आने का साहस करते हैं, पर थोडी देर तक एक खास सीमा तक । 'अज्ञेय' जी इस क्षेत्र मे इन चारो से आगे बढ जाते हैं । यह बात ध्यान मे रहे कि हम यह बात कला की दृष्टि से नही, बल्कि स्वानुभूति की दृष्टि से कह रहे हैं । हमने

विदेशी कहानियाँ बहुत कम पढ़ी हैं, इस लिए हम यह नहीं कह सकते कि 'अज्ञेय' जी की कहानियों पर विदेशी कहानियों का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है। उन की 'अमरवल्लरी' पर तो कवीन्द्र रवीन्द्र की 'सडक की बात' की छाया स्पष्टतया प्रतीत होती है।

हमारे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि जिन कहानियों में स्वानुभूति होती है, जिन में लेखक अपनी आत्मा उँडेल कर रख देता है, वे ही सजीव होती हैं और लेखक के अन्तस्तत्व की जितनी गहराई से वे आती हैं पाठक के हृदय की उतनी ही गहराई तक पहुँच जाती हैं। 'विपथगा' की कहानियों को पढ़ते समय हृदय में अनेक भाव उत्पन्न हुए। कहानी लिखने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि मनुष्य अपने जीवन को इस ढंग का बनाने का प्रयत्न करे कि दूसरे लोग उस की जीवन-कहानी को बड़े चाव के साथ पढ़ें। जो कहानी लिख सकते हैं, और साथ ही जो अपने जीवन को कहानीमय भी बना सकते हैं, ऐसे लेखक हिन्दी-साहित्य में थोड़े ही हैं, और यह प्रतीत होता है कि 'विपथगा' के लेखक में ये दोनों बातें एक अच्छी मात्रा में पायी जाती हैं। वह अपनी पाँच-सात कहानियों में ही हिन्दी गल्प-लेखकों की उच्च श्रेणी में आ विराजे हैं, और यदि उन्हें अपनी प्रतिभा को सुचारु रूप से विकसित करने का अवसर मिला, तो आगे चल कर उन की चमत्कारपूर्ण लेखनी हिन्दी-साहित्य को अनेक उज्ज्वल रत्न प्रदान करेगी।

'अज्ञेय' जितने कि वह मुझे ज्ञेय हुए

प्रभाकर माचवे

तार के नीचे वैसे अक्सर वह अपने को 'वत्स' लिख देते हैं, मगर एक बार अंग्रेज़ी में 'अज्ञेय' लिखा। 'ज्ञ' के द्विविध उच्चारण के कारण उस के हिज्जे हुए AGNEYA—जिसे चाहो तो हिन्दी में पढ़ सकते हो 'आग्नेय'। 'अज्ञेय' की कोई भी कहानी जिस ने पढ़ी हो, वह जान सकता है कि उन में कितनी साग्निकता है, कितना विद्रोहीपन! या जैसे उन्होंने स्वयं अपना 'आत्म-

—हंस, रेखाचित्र अंक, मार्च 1939 में प्रकाशित

राइट वात्स्यायन' के पुछल्ले में साथ छप भी चुके हैं। निरी फोटोग्राफी ही, नही, मगर चित्र-कला का भी उन्हे बेहद शौक है। इसी बात की वजह से मेरी और उन की काफी घनिष्ठता बहुत ही कम समय मे हो गयी। चित्र सग्रह उन के पास बहुत बडा है ही, पर साथ ही उन के सम्बन्ध मे उन की जानकारी भी खूब गहरी है। 'लिनोकट' और कार्टून भी वह मजे के बना लेते हैं, जिन मे से कुछ मेरठ कवि-सम्मेलन की 'सम्मेलन' नामक परिहास-पूर्ण रिपोर्ट में 'सैनिक' म छपे थे। परन्तु मुझे तब तक यह पता नही था कि चित्रो के साथ ही साथ शिल्प मे भी उन्हे इस तरह इतनी अधिक रुचि होगी, जब कि एक शाम को यह सैनिक-सम्पादक महाशय, किसी कुम्हार के यहाँ से गीली मिट्टी का बोझ ले कर मेरे यहाँ आये और बडी देर तक मिट्टी के शिल्प पर बातें होती रही। बाद मे मैंने जाना कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी आदि कइयों के मिट्टी के 'रिलीफ' 'अज्ञेय' जी ने बनाये हैं, जिन मे से एक— जैनेन्द्र जी वाले रिलीफ का फोटो—उन की विचार-पुस्तक मे छप चुका है।

मैं उन के मुँह से, समय का मान भूल कर, सुने वन्दी जीवन के रोचक अनुभव क्या कभी भूल सकता हूँ ? ऐसा जान पडता है कि कथा-लेखक या सैनिक से पहले वह एक चित्रकार हैं, जीवन के सहृदय छायाचित्रकार।

3

उन की प्रतिभा शक्ति का प्रवाह न केवल साहित्य, कविता, चित्र-कला की दिशा मे ही प्रवाहित होता है, वरन् जैसे उन्होने स्वय 'साहित्य और राज-नीति' की चर्चा मे 'झगडे का हल' नामक एक पत्र मे लिखा था—"एक आदमी के लिए बिल्कुल सम्भव होना चाहिए कि वह एक साथ दोनो (साहित्य और राजनीतिक कार्यकर्त्ता) हो सके, बल्कि इन दोनो के अलावा बीस चीजें और हो सकती हैं। और फिर भी शिकायत नही हो सकती। सवाल असल में 'Intensity' का है। शक्ति काफी हो तो फिर सवाल ही नही उठता कि वह किधर से बह और कितने रास्ते से बहे।"

"राजनीति से, साहित्य से—अभिव्यजना के बीसियो प्रकार से—अधिक स्थायी एक चीज है, वह है रचने की, सर्जन करने की प्रेरणा। उसी से आदमी ईश्वर का समकक्षी होता है। जो उस प्रेरणा का आदर करता है, वह स्वय

आदर का पात्र है। जो उसे बेचता है, वह नीच है, और नीच से बढ कर बेवकूफ है, क्योंकि वह स्वय अपना नाश कर रहा है। यह सिर्फ राजनैतिक प्रतिभा के बारे मे ही नही, वरन् सब तरह के सृजन के बारे मे कहा जाता है। फिर वह शक्ति चाहे साहित्य पैदा करने की हो, चाहे इन्कलाब पैदा करने की, चाहे बच्चे पैदा करने की।" यह आखिरी वाक्य इस बात का ही प्रमाण नही है कि 'अज्ञेय' के विश्वास कितने बुलन्द और स्पष्ट व्यक्त हैं, वरन् वे कितने वैज्ञानिक भी हैं। आधुनिक बायोलाजी और मनोविज्ञान को साथ ले कर उन के मत चलते हैं; पर उन से वे आविष्ट नही हैं। सर्वत्र वात्स्यायन का यह बुद्धिवादी दृष्टिकोण हमे मिलता है जो उन का मूल्य बढा देता है; मगर 'अज्ञेय' निरे बौद्धिक कहाँ है? तब कवि भी तो हैं। शायद उन की महानता इसी पश्चिमी बुद्धि और पूर्वीय भावना के उस सामजस्य मे निहित है, जहाँ समीक्षक और कलाकार एकप्राण हो जाते हैं। उन का आगामिष्यत् उपन्यास 'शेखर' इसी प्रकार के एक भावना व बुद्धि के सन्तुलित चरित्र की सृष्टि है।

उनकी राजनैतिक प्रतिभा का पता मुझे सिर्फ 'सैनिक' मे की या 'विशाल भारत' की सम्पादकीय टिप्पणियो से ही नही मिला, बल्कि उन के साथ रहने का भी जो सौभाग्य मुझे मिला है, उस के आधार पर मैं यह कह रहा हूँ। बागपत (मेरठ) मे किसान-कान्फरेंस का वह आयोजन था। लगातार कई दिन और रात गाँवो मे घूम-घूम कर किसान-मार्च का सगठन करने मे उन्होने अपने को लगा दिया था। दिल्ली मे वह मिले, तो उन का गला लगातार व्याख्यान देने की वजह से भारी हो गया था। और न जाने कितने मील घूमने की वजह से वह बेहद थक गये थे। थकने पर भी वह थकान महसूस नही कर रहे थे। उत्साह और लगन उन मे इतनी अदम्य भरी हुई हमेशा ही रहती है—वह निरन्तर कर्मरत अपने को रख लेते हैं। वह अविश्रान्त जान पड़ते हैं। यह अथक कर्मशक्ति जहाँ एक ओर उन्हें निर्माण की ओर ले कर बढ़ती है, वहीं उस के साथ ही साथ, जो प्रशान्त विवेक और सयत गाम्भीर्य उन की उस शक्ति को थामे है, वह उन्हें एक निर्भीक और निष्पक्ष आलोचक भी बना देता है।

किसानो के मेले जैसी भीड मे बहुत-से समाजवादी नेताओ के वे व्याख्यान जैसे थे, उन से अलग इन की व्याख्यान-शैली नहीं जान पडी, परन्तु राजनैति-

राइट वात्स्यायन' के पुछल्ले के साथ छप भी चुके हैं। निरी फोटोग्राफी नही, मगर चित्र-कला का भी उन्हें बेहद शौक है। इसी बात की वजह रा और उनकी काफी घनिष्ठता बहुत ही कम समय मे हो गयी। चित्र सग्र क पास बहुत बडा है ही, पर साथ ही उन के सम्बन्ध म उन की जा भी खूब गहरी है। 'लिनोकट' और कार्टून भी वह मजे के बना लेते हैं स कुछ मरठ कवि सम्मेलन की 'सम्मेलन' नामक परिहास पूर्ण 'सैनिक म छपे थे। परन्तु मुझे तब तक यह पता नही था कि चि ही साथ शिल्प मे भी उन्हें इस तरह इतनी अधिक रुचि होगी, जब को यह सैनिक सम्पादक महाशय, किसी कुम्हार के यहाँ से गी बोझ ले कर मेरे यहाँ आये और बडी देर तक मिट्टी के शिल्प रही। बाद म मैंने जाना कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त, महावीर आदि कइयो के मिट्टी के 'रिलीफ' 'अज्ञेय' जी ने बनाये हैं, जैनेन्द्र जी वाले रिलीफ का फोटो—उन की विचार-पुस्तक

मैं उनके मुँह से, समय का मान भूल कर, सुने वन्दी अनुभव क्या कभी भूल सकता हूँ ? ऐस जान पडता है सैनिक स पहले वह एक चित्रकार हैं, जीवन के सहृदय

3

उन की प्रतिभा शक्ति का प्रवाह न केवल साहि की दिशा मे ही प्रवाहित होता है, वरन् जैसे उन्होने नीति' की चर्चा मे 'झगडे का हल' नामक एक पत्र म के लिए बिल्कुल सम्भव होना चाहिए कि वह एक राजनीतिक कार्यकर्त्ता) ही सके, बल्कि इन दोन हो सकती है। और फिर भी शिकायत नही 'Intensity का है। शक्ति काफी हो तो फिर किधर से बहे और कितने रास्ते से बहे।"

राजनीति से, साहित्य से—अभिव्यज स्थायी एक चीज है, वह है रचने की, सर्जन ईश्वर का समकक्षी होता है। जो उस प्रेर

अलख अकेला अज्ञेय

फणीश्वरनाथ रेणु

आज से पच्चीस छब्बीस साल पहले 'विशाल भारत' मे एक ऐसे लेखक की कहानियाँ प्रकाशित होती थी, जो अपनी हर कथा के नायक का नाम 'सत्य' ही रखता था। सो, दूर-देहात के इस किशोर पाठक (पाठकराम!) को यह ढग जरा भी पसन्द नही था। लेकिन न जाने क्या बात थी कि उस की कहानी देख कर पाठक (उपर्युक्त) का मन ललच जाता, ललचने लगता।...

शायद, लेखक के नाम मे कोई विशेषता थी! विशेषता थी, पर इस नाम से थोडी कोफ्त ही होती थी। रामलीला या यात्रा मे, मुँह पर मुखौटा लगा कर प्रकट होने वाले पात्रो के वास्तविक चेहरो को देखने के लिए मन जिस तरह अकुलाता था, वैसी ही अकुलाहट ऐसे नामो से होती थी।...अज्ञात अदृश्य, अकेला, विचित्र अथवा अज्ञेय!

तब, सभवत भाषा·

हाँ, भाषा मे ही कोई ऐसी बात रही होगी, क्योंकि कथा के वक्तव्य या कथनोपकथन का अधिकाश शब्दार्थ समझ मे कभी नही आया। इस के बावजूद मन के परदे पर कथा का गति-चित्र कभी धुँधला हो कर नही उभरा।

इस नकाबपोश विचित्र लेखक की कहानियो से पहले, 'माधुरी' के पुराने अको मे प्रेमचन्द की कई कहानियाँ पढ चुका था। बुढिया और बन्दर वाली कहानी, कर्बला!... कहाँ उन कहानियो की भाषा-भाव की सादगी और कहाँ यह अलख, अचल, अगम, अगोचर, अजब ...अज्ञेय की भाषा, जिस के अनेक शब्दो का 'सुद्ध उचारन' भी नही कर पाता! और, कर्बला कथा का किशोर नायक वह गरीब, करीम, हबीब, रहीम, हमीद, या जो भी नाम रहा हो उसका, कहानी पढते समय जो पाठकराम की आँखो के आगे साकार खडा हो गया था, फिर उस मे ही समा गया था। और, इधर अज्ञेय का यह अद्भुत नायक 'सत्य! ऐसा आदमी कभी देखा नही!...

—'नई कहानियाँ', जून 1960 मे प्रकाशित।

वैज्ञानिक विश्लेषण जरूरत से ज्यादा बारीक और इसी से खतरनाक हो उठता है और भाषा भी गरिष्ठ, जटिल। मगर वातावरण-प्रधान कहानियों में तो उन्हें सचमुच कमाल हासिल है। और व्यंग्य भी खूब ही रसमय होता है, जैसे 'पुनर्जन्म'।

एक बात और मार्क की है कि इन की कहानियों में बहिन और भगिनी-प्रेम का बार-बार बड़ा विचित्र जिक्र आया करता है। 'पगोडा वृक्ष' की सुखदा, 'अकलंक' की क्रिस्टाबेल, 'कोठरी की बात' में का वह हिस्सा जहाँ 'वह और उस की बहिन पास-पास लेटे हुए किसी विचार में निमग्न हैं—शायद अपने उस सामीप्य के पवित्र रहस्यमय सुख में—और तब उस के पिता एकाएक आ कर उसे उठा देते हैं, फटकारते हैं, वगैरह का जिक्र है, और 'शेखर एक जीवनी' की शशि, पता नहीं चलता कि किस क्षण भगिनीत्व की सीमा लाँघ कर, 'प्रेमिका' के समकक्ष आ बैठती है, जैसे वह माता से कुछ ही नीचे अपना स्थान बनाये है। और 'अज्ञेय' का यह नारी-चित्रण बड़ा कुतूहलास्पद जान पड़ता है, जो न माता, न कन्या, न वधू, रवि ठाकुर की उर्वशी के समान किसी गम्भीर भाव लोक से उठ कर गहरे भाव-जगत् ही में विलम जाता है। यह नारी सियारामशरण और जैनेन्द्रकुमार और उषा मित्रा की नारी-कल्पना से सर्वथा भिन्न है।

'अज्ञेय' के इस अपरिभाषणीय भगिनी-प्रेम से हमें सहसा अंग्रेजी चित्रकार-कवि रोज़ेटी की याद आ जाती है, जिसकी बहन स्वयं मानो एक करुण कविता थी।...

और 'विशाल भारत' के 'महिला अंक' में एक लेख 'डा० अब्दुल लतीफ' का छपा है और एक बार 'समाज- द्रोही नम्बर 1' 'प्रो० गजानन पंडित' के नाम से। यह सब सुरुचिपूर्ण परिहास, आप जानते हैं, इसी 'अज्ञेय'-लेखनी के गर्भ से उपजा है।

तो वह शिल्पी चित्रकार, सिपाही विद्रोही, कवि-कहानीकार, सम्पादक-आलोचक, व्याख्याता-राजनैतिक कार्यकर्ता, प्रकृति और जीवन का सप्राण छाया-चित्रकार, 'अज्ञेय' साहित्येतिहास समीक्षक भी है, और न जाने क्या-क्या है! 'अज्ञेय' ही जो ठहरा!

'सत्य' के लेखक का एक गीत छपा था। गाँव का कोई भी पाठक उन दिनों पद्य नामक चीज़ को पढ़ता नहीं था, अर्थात् यों ही नहीं, गा-गाकर पढ़ता था।… बिना गाए अरथ कैसे खुलेगा? अजोधा मंडर रामायण की चौपाई गाता था। लछुमन गुरुजी हमेशा तार-स्वर में गाते रहते, "भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भा-र-ती-ई-ई-ई-ई- ! !" पाठकराम को भी यही शिक्षा मिली थी। मन-ही-मन गुनगुना कर चमत्कृत हुआ। गीत गुनगुनाते समय पदों से…मृदंग की ध्वनि निकलती है। दौड़ कर गाँव के प्रसिद्ध पखवजिया जनकदास को बुला लाया। वह सस्वर पढ़ने लगा। अनपढ़ जनकदास, मृदंग बजा कर गीत का अर्थ खोलता गया…

जागो! जागो!!
धिन्ना। धिन्ना।
जागो सखि, बसंत आ गया!
धिन्ना कनक तिन्ना तिरकित ता,
धिनक-धिनक-धिन-धा।
जागो!…
धिन धा!!

कथाकार के इस गीत को मृदंग की संगत के साथ यहाँ प्रस्तुत करने का कारण है।…बहुत दिनों के बाद देखा, इस गीत को कथाकार ने अपनी एक कहानी में टाँक दिया। रसमादकता से मन मदिर हो गया पाठकराम का!

बसंत आ गया। सखि जागे या न जागे…पाठकराम किशोरावस्था पार कर, गाँव से शहर आ गया। उस की जवानी जागी और जगी रही। 1943 में नज़रबन्द होने के बाद भागलपुर सेंट्रल जेल में एक दिन हाथ में आई एक जीवनी: शेखर की।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय! सत्-चित्-आनन्द—सत्य?

'विशाल भारत' की कहानियों के सत्य ने अपना नाम बदल लिया था, शेखर!

पाठकराम सेल में शेखर की जीवनी पढ़ता और बंगाल के जेल में, उस की पार्टी की नेशनल एक्जक्युटिव के एक मान्य सदस्य सच्चिदानन्द हीरानन्द

उस की एक नायिका का नाम याद है, पुष्पा ! सत्य ने एक बार स्केच आँका, बकरे का, मेमने का। फिर फाड़ दिया। उस दिन वह ताश में हारता रहा। गलत पत्ते फेंकता गया। ·

कुछ सोचता हुआ, सड़क पर जा रहा है सत्य ! पास की दुकान से रेडियो की आवाज आ रही है। रेडियो में केलिफोर्निया आडू का विज्ञापन प्रसारित हो रहा है। रेडियो की ध्वनि सत्य की चिन्ता-धारा को विदियो द्वारा अमलम्न कर देती है। वह दुकान में घुसता है। केलिफोर्नियन आडू का बन्द डिब्बा खरीद लाता है। सम्भवत सीमेंट पर खोलता है। खाता है, स्वाद ले कर। खाते समय भी वह कुछ सोच रहा है। खा कर खाली डिब्बा फेंक देता है "खनखनाता-लुढ़कता टिन का डिब्बा "दौड़ते हुए नंग-धड़ंग लड़के। फिर, छीना-झपटी "

सत्य की ऐसी कहानियों से पाठकराम को कोई ज्ञान-लाभ नहीं हुआ, यह कहना गलत होगा। · उस समय तक रेडियो-सेट को न आँख देखा था, न कान से सुना था। रेडियो सीलोन आदि के व्यापार-विभाग के जन्म से पन्द्रह-बीस साल पूर्व ही वह जान गया था कि रेडियो से विज्ञापन भी प्रचारित होते है।···

किन्तु कथा पढ़ कर बहुत दिनों तक केलिफोर्नियन आडू के लिए रसना रसवती हो जाती। "आलू ? आलूचे ? आलूबुखारा ? आडू ? यह केलिफोर्नियन आडू क्या चीज होती है ? निश्चय ही कोई फल होगा ! · शहर पूर्णिया जा कर, साह एण्ड कम्पनी में केलिफोर्नियन आडू माँगा तो सामने बैठे सज्जन जन का मुँह अचरज से गोल हो गया, "देखो हे ! छोकरा-टा की चाय ? एँ, केलिफोर्नियाँ आलू "ना तो "अरे, ये आडू क्या होता है ? अनारस माने अनानास भी नेंहीं पाइन आपेल भी नेंहीं, पीज भी नहीं, बेरी नेंहीं, गूजबेरी नेंहीं तब क्या होता है ये केलिफोर्नियाँ घोडारडिम ? केलिफोर्नियाँ कहाँ है, है मालूम ? देखा है नाक्शा में ? · जत्तसब !" इसके बाद, पाठकराम ने फिर कहीं केलिफोर्नियन आडू का नाम-दाम नहीं पूछा" घोडार डिम ? और जिस सत्य की कहानी पढ़ने के कारण उसको लाछित और लज्जित होना पड़ा था, उसी पात्र को वह प्रत्येक पत्रिका के पृष्ठों में खोजता रहता है। "

ओ ? ? तो, जनाब आली कवित्त भी बनाते है ! 'विशाल भारत' में ही

नेमिचन्द्र जैन

अज्ञेय के समस्त साहित्य मे उस के व्यक्तित्व की ही मूल दुर्बलता और सकीर्णता बार-बार उभर आती है । जहाँ तक वह अपने सीमित जीवन-अनुभव पर बडी सूक्ष्म दृष्टि लगाये बैठे रहते हैं, वहाँ तक एक बडी तीखी भावानुभूति को चित्रित करने मे उन्हे अपूर्व सफलता मिलती है । किन्तु व्यापक मानवीय सहानुभूति के अभाव मे, उस अहं के सकुचित वृत्त से बाहर दृष्टि डालते ही उन का कलाबोध शिथिल पडने लगता है, क्योंकि मूलत यह अनुभव-प्रसूत न हो कर बडे स्थूल अर्थ मे काल्पनिक हो जाता है । व्यक्तिवादी और अहंवादी कलाकारो ने सदा इस विषम वृत्त मे चक्कर काटा है । अधिक सक्षम और प्राणवान् कलाकार आत्मवादी हो कर भी अपने व्यक्तित्व मे ऐसी ओजस्विता, ऐसी सहज दृष्टि उत्पन्न कर लेते हैं कि अपने से बाहर का जीवन यदि अनुभव से नही तो कम-से-कम सहानुभूति द्वारा उन्हें सुबोध हो जाता है, और उनके साहित्य की मूल भाव-वस्तु चाहे उन तक ही सीमित रहे, किन्तु पृष्ठ-भूमि के रूप म जब वे बाह्य जीवन का चित्रण करते हैं तो वह इतना अयथार्थ और प्राणहीन नही होता । अज्ञेय मे न वह ओजस्विता है और न वह सहानुभूति । न केवल उनका व्यक्तित्व—कलाकार व्यक्तित्व—बहुत सीमित है, बल्कि उन मे अपने स बाहर झाँकने, देखने और उस से अनुभव-सिक्त होने की सामर्थ्य ही नही जान पडती । फलस्वरूप वह अधिकाधिक अन्तर्मुखी, आत्म-केन्द्रित होते जाते है और इस भाँति उन के व्यक्तित्व के रहे-सहे द्वार भी अवरुद्ध होते जान पडते हैं । भावना की प्राणहीनता और उस के फलस्वरूप काव्य मे एक ही अनुभूति को नये नये शब्द जाल द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति, पुनरावृत्ति, अज्ञेय की कविताओ मे और भी स्पष्ट प्रकट होती है ।

—'अधूरे साक्षात्कार', पृ० 20 21
अक्षर प्रकाशन, दिल्ली (1966)

मूल्यांकन

रामस्वरूप चतुर्वेदी

हिन्दी कथा-साहित्य को वास्तविक अर्थ मे आधुनिक बनाने का श्रेय अज्ञेय को दिया जा सकता है। उन के पूर्व हिन्दी मे उपन्यास तथा कहानियाँ मुख्यत- वर्णनात्मक शैली मे लिखे जाते थे। पात्रो के आन्तरिक मनोविज्ञान की ओर लेखक का ध्यान उतना नही रहता था। अज्ञेय ने घटनाओ और पात्रों के बाहरी ढाँचे की उपेक्षा कर के आन्तरिक पक्ष को अधिक उभारा। कथा-शिल्प की दृष्टि से भी उन के प्रयोग ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। यह सही है कि अज्ञेय को एक उपन्यासकार के रूप मे अधिक जाना जाता है, पर उन की कहानियाँ भी कम लोकप्रिय नही हैं। 'शेखर' या 'नदी के द्वीप' जैसी ही प्रसिद्धि 'रोज़' की भी है।

'रोज़' शीर्षक कहानी हिन्दी गल्प-साहित्य के विकास का एक नया चरण है। यह कहानी वातावरण की सृष्टि की दृष्टि से एक अविस्मरणीय कृति है। कहानी कहने की आत्मीयता भी लेखक की अपनी है। **कोठरी की बात** सकलन की कहानियो मे लेखक के क्रान्तिकारी जीवन ने विशेप अभि- व्यक्ति पायी है। देश विभाजन के बाद शरणार्थियो की समस्या पर भी लेखक ने कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। उपन्यासो की अपेक्षा कहानियो के कथानक जीवन के व्यापक क्षेत्रो से लिये गये जात पडते हैं।

अज्ञेय का कृतित्व हिन्दी के कथा साहित्य को एक नये धरातल पर प्रति- ष्ठित करता है। वर्णनात्मक के स्थान पर विश्लेपणात्मक-शिल्प-विधि का प्रयोग उन की रचनाओ की सब स बडी विशेषता है। उन के पात्र तथा कथा- नक नागरिक जीवन क उच्च मध्यवर्ग से लिये गये हैं। प्रकृति मे सीमित होने पर भी उन की गहराई अतुलनीय है। मानव-जीवन की कुछ विशिष्ट परिस्थितियो का उन्होने गहरा अध्ययन अपने कथा साहित्य म प्रस्तुत किया है। साथ ही शिल्प और भाषा म कुछ सर्वथा नये प्रयोग भी किय हैं। हिन्दी कथा साहित्य म अज्ञेय का नाम आधुनिकता का परिचायक है।

—रेडियो वार्ता इलाहाबाद, 12.3 59

नेमिचन्द्र जैन

अज्ञेय के समस्त साहित्य मे उस के व्यक्तित्व की ही मूल दुर्बलता और सकीर्णता बार बार उभर आती है। जहाँ तक वह अपने सीमित जीवन-अनुभव पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि लगाये बैठे रहते हैं, वहाँ तक एक बड़ी तीखी भावानुभूति को चित्रित करने मे उन्हे अपूर्व सफलता मिलती है। किन्तु व्यापक मानवीय सहानुभूति के अभाव मे, उस अह के सकुचित वृत्त से बाहर दृष्टि डालते ही उन का कलाबोध शिथिल पडने लगता है, क्योकि मूलत वह अनुभव प्रसूत न हो कर बडे स्थूल अर्थ मे काल्पनिक हो जाता है। व्यक्तिवादी और अहवादी कलाकारो ने सदा इस विषम वृत्त म चक्कर काटा है। अधिक सक्षम और प्राणवान् कलाकार आत्मवादी हो कर भी अपने व्यक्तित्व म ऐसी ओजस्विता, ऐसी सहज दृष्टि उत्पन्न कर लेते हैं कि अपने से बाहर का जीवन यदि अनुभव से नहीं तो कम-से-कम सहानुभूति द्वारा उन्हे सुबोध हो जाता है, और उनके साहित्य की मूल भाव-वस्तु चाहे उन तक ही सीमित रहे, किन्तु पृष्ठ-भूमि के रूप म जब वे बाह्य जीवन का चित्रण करते हैं तो वह इतना अयथार्थ और प्राणहीन नही होता। अज्ञेय मे न वह ओजस्विता है और न वह सहानुभूति। न केवल उनका व्यक्तित्व—कलाकार व्यक्तित्व—बहुत सीमित है, बल्कि उन मे अपने म बाहर झाँकने, देखने और उस से अनुभव-सिक्त होने की सामर्थ्य ही नही जान पडती। फलस्वरूप वह अधिकाधिक अन्तर्मुखी, आत्म-केन्द्रित होते जाते है और इस भाँति उन के व्यक्तित्व के रहे-सहे द्वार भी अवरुद्ध होते जान पडते हैं। भावना की प्राणहीनता और उस के फलस्वरूप काव्य मे एक ही अनुभूति को नये-नये शब्द-जाल द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति, पुनरावृत्ति, अज्ञेय की कविताओ म और भी स्पष्ट प्रकट होती है।

— मधुरे साक्षात्कार', पृ० 20 21
अक्षर प्रकाशन दिल्ली (1966).

गंगाप्रसाद विमल

'अज्ञेय' की संवेदना अज्ञेय की ही निर्मितियों में स्पष्ट है । उन के पात्र, उन के चुने गये स्थल, घरों और सभी तरह के रुचिकर स्थापत्य से यह बात साबित होती है कि उन के पात्र (मध्यवर्ग के प्रतिनिधि) अपने सुख या परोक्ष रूप में अपने दुःख की गरिमामय व्याख्याओं में सुख के पीछे हैं । यह औसत आदमी के मानसिक जगत् का प्रारूप है जहाँ मध्यवर्ग के प्रबुद्ध और सामान्य व्यक्ति के बीच एक रेखा खींची जा सकती है । मध्यवर्ग का प्रबुद्ध व्यक्ति या तो प्रतिबद्ध हो कर सामान्य सुखों से मुँह मोड़ लेता है या वह असाधारण स्तर पर दूसरी तरह का जीवन जीता है । 'अज्ञेय' अपने पात्रों द्वारा जिन आकांक्षाओं को व्यक्त करते हैं वे औसत (मिडियाकर) आदमी की संवेदना का ही प्रक्षेपण है । इस आधार पर अज्ञेय द्वारा स्थापित तथाकथित वैशिष्ट्य और आयासप्रद असाधारणता का भ्रम भी टूट जाता है । वह मामूली आदमी के यथार्थ के रचनाकार भी नहीं लगते । जिस सुरुचि का उन के पात्र 'आभास' देते हैं वह किसी तरह की 'रुचि' का वृत्त भी नहीं है । उस में 'ललित कथाओं' जैसी 'असम्भावना' भी नहीं है क्योंकि उन में झठ का चमत्कार भी नहीं है । अज्ञेय की संवेदना को आधुनिक इस लिए नहीं माना जा सकता क्योंकि उन के पात्र, विचार और स्थितियाँ हमारे आधुनिक संसार की नहीं हैं ।

— अज्ञेय का रचना संसार, पृ० 166-67
सुषमा पुस्तकालय दिल्ली (1967)

ओम प्रभाकर

यह निश्चयत कहा जा सकता है कि अज्ञेय का कथा साहित्य (उपन्यास और कहानी दोनों) प्रसाद एवं प्रेमचन्द तथा उन के अनुवर्ती अन्य कथाकारों के कथा सृजन से श्रेष्ठतर स्थिति में है । जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल,

भगवतीचरण वर्मा आदि आधुनिक कथाकार अवश्य ऐसे हैं जिन की कहानियाँ और उपन्यास अज्ञेय की कहानियों तथा उपन्यासों के समानान्तर रखे जा सकते हैं। वास्तव में तो अज्ञेय इन्हीं की कथा-परम्परा के लेखक हैं। किन्तु अज्ञेय की सृजनकर्त्री प्रतिभा ने उन की कथा-रचनाओं को सब से विशिष्ट स्थिति में अवस्थित कर दिया है।···अज्ञेय की कथा-कृतियों—क्या उपन्यास और क्या कहानियाँ—में न तो कहीं दार्शनिकता की अतिव्याप्ति है और न मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रति दुराग्रह ही। वह अपने सम्पूर्ण कथा-सृजन के सन्दर्भ में सर्वथा एवं सर्वदा मौलिक हैं।···अत्यन्त निश्चयात्मक स्वर में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य में अज्ञेय का स्थान एक मौलिक, प्रवर्तक तथा सर्वश्रेष्ठ कथाकार के रूप में शीर्षस्थान पर अक्षुण्ण है और रहेगा।

—'अज्ञेय का कथा-साहित्य', पृ० 161-62
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (1966)

●●●

गगाप्रसाद विमल

'अज्ञेय' की सवेदना अज्ञेय की ही निर्मितियो मे स्पष्ट है । उन के पात्र, उन के चुने गय स्थल घरो और सभी तरह के रुचिकर स्थापत्य से यह बात साबित होती है कि उन के पात्र (मध्यवर्ग के प्रतिनिधि) अपने सुख या परोक्ष रूप मे अपने दु ख की गरिमामय व्याख्याओ के सुख के पीछे हैं । यह औसत आदमी के मानसिक जगत् का प्रारूप है जहाँ मध्यवर्ग के प्रबुद्ध और सामान्य व्यक्ति के बीच एक रेखा खीची जा सकती है । मध्यवर्ग का प्रबुद्ध व्यक्ति या तो प्रतिबद्ध हो कर सामान्य सुखो से मुँह मोड लेता है या वह असाधारण स्तर पर दूसरी तरह का जीवन जीता है । अज्ञेय' अपने पात्रो द्वारा जिन आका-क्षाओ को व्यक्त करते हैं वे औसत (मिडियाकर) आदमी की सवेदना का ही प्रक्षेपण है । इस आधार पर अज्ञेय द्वारा स्थापित तथाकथित वैशिष्ट्य और आयासप्रद असाधारणता का भ्रम भी टूट जाता है । वह मामूली आदमी के यथार्थ के रचनाकार भी नही लगते । जिस सुरुचि का उन के पात्र 'आभास' देते हैं वह किसी तरह की 'रुचि' का वृत्त भी नही है । उस मे 'ललित कथाओ' जैसी 'असम्भावना' भी नही है क्योकि उस मे झठ का चमत्कार भी नही है । अज्ञेय की सवेदना को आधुनिक इस लिए नही माना जा सकता क्योकि उन के पात्र, विचार और स्थितियाँ हमारे आधुनिक ससार की नही है ।

—'अज्ञेय का रचना ससार' पृ० 166-67
सपमा पुस्तकालय दिल्ली (1967)

ओम प्रभाकर

यह निश्चयत कहा जा सकता है कि अज्ञेय का कथा-साहित्य (उपन्यास और कहानी दोनो) प्रसाद एव प्रेमचन्द तथा उन के अनुवर्ती अन्य कथाकारो के कथा सजन से श्रेष्ठतर स्थिति मे है । जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल,

भगवतीचरण वर्मा आदि आधुनिक कथाकार अवश्य ऐसे हैं जिन की कहानियाँ और उपन्यास अज्ञेय की कहानियों तथा उपन्यासो के समानान्तर रखे जा सकते हैं। वास्तव मे तो अज्ञेय इन्ही की कथा-परम्परा के लेखक हैं। किन्तु अज्ञेय की सृजनकर्त्री प्रतिभा ने उन की कथा-रचनाओ को सब से विशिष्ट स्थिति मे अवस्थित कर दिया है।···अज्ञेय की कथा-कृतियो—क्या उपन्यास और क्या कहानियाँ—मे न तो कही दार्शनिकता की अतिव्याप्ति है और न मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के प्रति दुराग्रह ही। वह अपने सम्पूर्ण कथा-सृजन के सन्दर्भ मे सर्वथा एव सर्वदा मौलिक हैं।···अत्यन्त निश्चयात्मक स्वर मे यह कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य मे अज्ञेय का स्थान एक मौलिक, प्रवर्तक तथा सर्वश्रेष्ठ कथाकार के रूप मे शीर्षस्थान पर अक्षुण्ण है और रहेगा।

—'अज्ञेय का कथा-साहित्य', पृ० 161-62
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (1966)

●●●

मुद्रक . शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली